

प्रश्नोत्तर दीपमाला



स्वामी रामानन्दजी सरस्वती

प्रश्नोत्तरदीपमाला

(भाग-१)

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता-४.३४)

‘इस ज्ञान को तुम तत्त्वज्ञानी महापुरुषों से जानो। साष्टाङ्ग प्रणाम और सेवा से उन्हें प्रसन्न करके उनसे सरलतापूर्वक प्रश्न पूछने पर वे तुम्हें तत्त्वज्ञान का उपदेश करेंगे।’

प्रकाशक : मार्कण्डेय संन्यास आश्रम पब्लिक ट्रस्ट, ओंकारेश्वर

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण : ३० सितम्बर, २०१०

प्रतियाँ : २,००० (दो हजार)

प्रधान सम्पादक : स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती

सम्पादक मण्डल : स्वामी आशुतोष भारती

ब्र. किशोर चैतन्य

स्वामी उरुक्रमानन्द पुरी

पुस्तक प्राप्ति स्थान

मार्कण्डेय संन्यास आश्रम पो. ओंकारेश्वर-450 554

जिला : खण्डवा (म.प्र.)

फोन नं. : 07280-271267, 9827813711, 9425939567

सहयोग राशि : 50/- रुपये

मुद्रक : प्रिण्ट मैन, इन्दौर

विभिन्न आश्रम

परम पूज्य सद्गुरुदेव ब्रह्मलीन स्वामी अभयानन्दजी सरस्वती महाराज तथा परम पूज्य सद्गुरुदेव ब्रह्मलीन स्वामी रामानन्दजी सरस्वती महाराज के द्वारा स्थापित एवं पूज्य स्वामी प्रणवानन्दजी सरस्वती महाराज के संरक्षण में संचालित आश्रमों का विवरण :-

१. श्री मार्कण्डेय संन्यास आश्रम
ओंकारेश्वर, मान्धाता, पूर्वी निमाड़-खण्डवा-450554 (म.प्र.)
फोन. नं. 07280-271267, मो. 9425939567
२. अभय कैलाश आश्रम,
बाराबंकी (उ.प्र.) फोन न. 05248-224898, 09454668668
३. श्री अभय संन्यास आश्रम,
वनकुटी, बंकी, बाराबंकी (उ.प्र.) मो. 9369479355
४. श्री अभय संन्यास आश्रम
सी.के.८/१२, गढ़वासी टोला
वाराणसी, 221001 (उ.प्र.) फोन नं. 09984741494
५. श्री अभय साधना कुटीर (ओंकारेश्वर महादेव)
मु.पो. केरपानी, तहसील. करेली
नरसिंहपुर, मध्यप्रदेश-487001, फोन नं. 07793-278555

६. श्री तुरीय आश्रम, माई की बगिया,
अमरकण्टक, जिला : अनूपपुर-(म.प्र.) - 484886
मो. 09424353293
७. श्री अभयधाम
नटवा जंगी रोड, अभय तिराहा, मिर्जापुर (उ.प्र.) - 231001
मोबाईल : 09897121846
८. श्रीराम कुटी आश्रम, रामगढ़, जिला: खरगोन (म.प्र.)-
मो - 9009395485
९. विरक्त कुटी
राजघाट, जिला: बुलन्दशहर (उ.प्र.) मो.- 09720890845
१०. अभयराम संन्यास आश्रम, ग्रा + पो. - डोलवी, ता. - पेण
जि. - रायगढ़ - 402 107 (महाराष्ट्र) मो.- 09922224973

श्री मार्कण्डेय संन्यास आश्रम

एक अल्प परिचय

ब्रह्मलीन परमपूज्य स्वामी रामानन्द सरस्वतीजी महाराज के द्वारा नर्मदा तट पर पवित्र ओंकारेश्वर क्षेत्र में स्थापित श्री मार्कण्डेय संन्यास आश्रम भारतवर्ष के प्रतिष्ठित आश्रमों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इस आश्रम की स्थापना की कहानी भी विलक्षण ही है। सन् १९६२ में पूज्य महाराजश्री एक ब्रह्मचारी के रूप में नर्मदा-तट पर परिव्रजन करते हुए ओंकारेश्वर तीर्थ में पहुँचे। वर्तमान में जहाँ आश्रम स्थापित है, उस स्थान के निकट ही एक अर्जुन वृक्ष के नीचे रहकर उन्होंने तीन माह का समय गहन साधना में व्यतीत किया।

इसके पश्चात् वे माँ नर्मदा को प्रणाम कर आगे भ्रमण के लिए चल दिए। परन्तु इस स्थान के शान्त, एकान्त और पवित्र वातावरण ने उनके मन को कुछ ऐसा आकर्षित कर लिया कि सन् १९६५ में वे पुनः साधना की दृष्टि से यहीं लौट आए। इस बार उनके अभिन्न सखा पूज्य स्वामी कृष्णानन्दजी 'विरक्त' भी उनके साथ थे। दोनों विभूतियों ने एक कच्ची कुटिया बनाकर लगभग छह मास तपश्चर्यापूर्वक इस स्थान पर निवास किया। तत्पश्चात् उन दोनों ने प्रयाग कुम्भ में भाग लेने के लिए प्रस्थान किया। प्रयाग में जब महाराजश्री ने अपने गुरुदेव ब्रह्मलीन परमपूज्य स्वामी श्री अभयानन्दजी को अपने रेवातट-निवास के विषय में बताया तो उनके मन में भी ओंकारेश्वर-दर्शन का भाव स्फुरित हो गया। अतः महाराजश्री ओंकारेश्वर पहुँचकर गुरुदेव के लिए कुटिया के निर्माण में जुट गए।

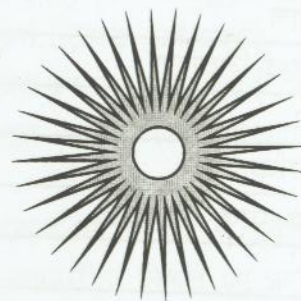
कुछ समय पश्चात् पूज्य गुरुदेव पधारे और इस स्थान की नीरवता से आकर्षित होकर तीन वर्ष तक कहीं गए ही नहीं। उनके यहाँ रहने से विरक्त सन्त एवं गृहस्थ भक्त भी आने लगे। उस समय ओंकारेश्वर क्षेत्र में अभ्यागत महात्माओं के लिए भिक्षा आदि की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी। इस

समस्या को देखकर करुणहृदय गुरुदेव के मन में ऐसा संकल्प आया कि यहाँ अभ्यागत सन्तों के निवास और भिक्षार्थ कोई स्थायी व्यवस्था बने तो अच्छा हो। अपने गुरुदेव के इस संकल्प को पूर्ण करने के लिए ही महाराजश्री ने इस आश्रम के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया।

आश्रम के प्रारम्भिक वर्षों में महाराजश्री ने सन्तों के साथ मिलकर निर्माण-कार्य में अथक परिश्रम किया। सन्तों के परिश्रमरूपी नींव पर खड़े होने के कारण आज भी इस आश्रम के वातावरण में एक सात्त्विक पवित्रता का अनुभव सभी को होता है। धीरे-धीरे आश्रम में गोशाला, श्री अभयेश्वर महादेव मन्दिर एवं भगवान् भाष्यकार मन्दिर की स्थापना हुई। वाटिका, सन्त-निवास, सत्सङ्ग-भवन एवं भक्त-निवास का भी निर्माण हुआ। तीर्थ-यात्रियों को नर्मदा स्नान आदि की सुविधा उपलब्ध कराने की दृष्टि से एक विशाल 'अभयघाट' का निर्माण भी कुछ वर्ष पूर्व आश्रम के श्रद्धालु भक्तों के द्वारा कराया गया।

पूज्य महाराजश्री शांकर-वेदान्त तथा आगमशास्त्र के मूर्धन्य एवं अनुभवी विद्वान् थे। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् - इस श्रुति को जीवन में आत्मसात् करते हुए उन्होंने यहाँ रहकर मुमुक्षुओं के कल्याणार्थ मुक्तहस्त से अपनी ज्ञान-सम्पदा का वितरण किया। श्रीमद्भगवद्गीता, दशोपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र - इस प्रस्थानत्रयी का शांकरभाष्य आत्मज्ञान-प्राप्ति का मूल आधार है। संन्यस्य श्रूयात् - इस श्रुति के आदेशानुसार परमहंस संन्यासी सम्प्रदाय में तो इसका स्वाध्याय अनिवार्य ही है। महाराजश्री इस प्रस्थानत्रयी का विवेचनापूर्ण स्वाध्याय जिज्ञासुओं के लिए वर्षों तक अनवरतरूप से कराते रहे। उनके द्वारा पोषित इस शांकरी परम्परा को उनके सुयोग्य शिष्य स्वामी प्रणवानन्द सरस्वतीजी पूर्ण निष्ठा से आगे बढ़ा रहे हैं। देश के कोने-कोने से विरक्त एवं गृहस्थ सभी प्रकार के जिज्ञासु साधक यहाँ आकर अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करते हैं। यहाँ से लब्धज्ञान अनेक सन्त समाज में धर्म तथा ज्ञान का प्रचार कर सनातन धर्म के रक्षण में सहयोग दे रहे हैं। आश्रम में जिज्ञासुओं के उपकारार्थ एक विशाल पुस्तकालय की भी व्यवस्था है।

आश्रम में गोशाला, वाटिका, मन्दिर, पाकशाला, धर्मार्थ चिकित्सालय आदि में अनेक प्रकार की सेवा प्रवृत्तियाँ चलती रहती हैं, जिनमें सहयोग करके कोई भी साधक कर्मयोग के अनुष्ठान का सुन्दर अवसर प्राप्त कर सकता है। आश्रम के मन्दिरों में प्रातः एवं सायंकाल आरती-पूजन एवं सामूहिक स्तोत्रपाठ नियमित रूप से होते हैं। साथ ही साथ माँ नर्मदा के हर-हर निनाद से गुञ्जित आश्रम का शान्त वातावरण साधकों के भजन-ध्यान में उत्प्रेरक सहयोगी की भूमिका बखूबी निभाता है। इस आश्रम को देखकर वैदिक-ऋषिपरम्परा के आश्रमों की स्मृति सजीव हो उठती है। यहाँ ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा कर्मयोगरूपी तीन धाराओं की त्रिवेणी सतत प्रवाहमान है, जिसमें अवगाहन करके मुमुक्षु साधक सहज रूप से अपने कल्याण का सम्पादन कर सकते हैं।



अर्थ में एकरूपता हो सकती है। प्रश्नकर्ता के प्रश्न के शब्द स्वरूप को स्थान एवं समयोचित ढंग से यथावत या यत्किञ्चित् परिवर्तित करते हुए तथा वक्ता के उत्तर को भी मूल शब्द-अर्थ एवं भाव के साथ भरसक परिवर्तन न करते हुए ही जिज्ञासुओं तक पहुँचाने का कठिन दायित्व सम्पादक-मण्डल के साथ था। राम काजु किन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम - इस हनुमदुक्ति को आत्मसात् करने में लगे हुए सम्पादक-मण्डल ने न केवल इस पहाड़-से लगनेवाले कार्य को कुशलतापूर्वक सम्पादन ही किया, वरन् यत्र-तत्र बिखरे हुए परस्पर सम्बद्ध-विषयों को एकत्र समावेश करने के साथ-साथ उससे भिन्न विषयों को पृथक्-पृथक् विभाजित कर जिज्ञासुओं को स्व-विषय समझने में सुविधा हेतु उन्हें सूचीबद्ध करने का स्तुत्य प्रयास भी किया। वे धन्यवादार्ह हैं।

आश्रम की गतिविधियों एवं अपने पठन-पाठन के साथ समझौता किए बिना हमारे प्रेमास्पद स्वामी सुरेश्वरानन्दजी सरस्वती एवं स्वामी विजय पुरीजी ने टेप-रिकॉर्डर से सुनकर पाण्डुलिपि तैयार करके इस प्रकाशन की पहली बाधा को दूर कर दिया एवं जिन अन्य लोगों ने भी इस गुरु-सेवा यज्ञ में पाण्डुलिपि-निर्माण रूपी आहुति दी, वे अनेकानेक धन्यवाद के पात्र हैं। ब्रह्मचारी किशोर चैतन्यजी एवं स्वामी आशुतोषजी भारती, इन दोनों ने कम्प्यूटर टाइप में सहयोग तथा प्रकाशन का प्राणभूत प्रूफ-संशोधन जैसा गुरुतम दायित्व-निर्वहन इतनी तत्परता के साथ न किया होता तो शायद पुस्तक आज आपके हाथों में न होती। हर प्रकार की पुनरुक्ति का संशोधन, श्लोक के सन्दर्भ (रेफरेन्स) एवं शुद्धता बढ़ा ही चुनौतीपूर्ण कर्तव्य है। सम्पादकद्वय ने भारी कोशिश की कि सब श्लोकों के सन्दर्भ दिए जाएँ, दिए भी गए पर सबका ऐसा सम्भव न हो सकने से उतनी कमी रह ही गई। ऐसे स्थलों पर 'परम्परया' इस शब्द को दिया गया है, विज्ञ पाठकों से अनुरोध है कि ऐसे श्लोकों का सन्दर्भ यदि आपको कहीं उपलब्ध हो जाए तो प्रकाशक को अवश्य सूचित करें।

रामकृष्ण मिशन के स्वामी उरुक्रमानन्दजी हमारे प्रकाशन के स्तम्भ बने हुए हैं। न केवल इस प्रकाशन में ही, अपितु पूर्व के प्रकाशनों में भी उनकी अगाध निष्ठा "भावकुसुमाञ्जलि", "शिवमहिम्नःस्तोत्रम्" में हम सब देख

चुके हैं। उनसे सम्बद्ध हमारे प्रकाशन में कम्प्यूटर-टाइपिंग तथा कम्पोजिंग जैसे चुनौतीपूर्ण कार्य को उन्होंने बड़े ही सहज ढंग से सम्पन्न किया। अन्य भी जिन लोगों ने इस प्रकाशन में किसी भी रूप में सहायता पहुँचाई, वे सभी साधुवाद के पात्र हैं। पूज्य ब्रह्मलीन महाराजश्री से यह प्रार्थना है कि वे आशीर्वाद दें कि ये साहित्य-प्रेमी आपश्री के साहित्य-सागर में निरन्तर अवगाहन करते रहें। उसके प्रकाशन में सहायता पहुँचाते रहें तथा इसी माध्यम से आत्म-कल्याण की ओर बढ़ते रहें।

३० सितम्बर २०१०

महाराजश्री की द्वितीय पुण्यतिथि

गुरुचरणानुरागी,

स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती

कर्म-सिद्धान्त एवं गति-विचार

जिज्ञासा :- चित्तशुद्धि के लिए शास्त्रीय कर्म किस प्रकार करना चाहिए? क्या इनका समष्टि फल भी होता है?

समाधान :- कर्तृत्व के अभिमान को त्यागकर निष्काम (फलेच्छारहित) होकर किए गए शास्त्रीय कर्म ही चित्तशुद्धि कर सकते हैं। वैसे तो चित्तशुद्धि में नित्यकर्मों की मुख्य भूमिका है, परन्तु सकाम कर्मों को भी यदि व्यक्ति निष्काम भाव से करता है तो वे अन्तःकरण शुद्धि में हेतु बन जाते हैं।

इनका समष्टि फल भी हो सकता है, जैसे गायत्री-मन्त्र को ही देखिए, यह एक व्यक्ति मात्र से सम्बन्धित नहीं है। धियः नः प्रचोदयात् - हमारी बुद्धियों को प्रेरित करे, इसमें बहुवचन का प्रयोग है, अतः इसका सम्बन्ध व्यष्टि से होते हुए समष्टि से भी है।

जिज्ञासा :- भगवद्गीता में योगभ्रष्ट संन्यासी को पुण्यलोकों की प्राप्ति कही गयी है। जब वह योग-आरूढ था तब तो निष्काम कर्म करता रहा और उसी निष्काम कर्म से वह योगारूढ़ हुआ क्योंकि निष्काम कर्म का फल चित्तशुद्धि के अतिरिक्त कोई अन्य तो है नहीं। जब वह योगारूढ़ अवस्था में पहुँचा तब कर्मत्याग स्वाभाविक ही हो गया, फिर पुण्यलोकों की प्राप्ति में हेतु क्या बनेगा?

समाधान :- पहले यह समझना चाहिए कि ऐसे योगभ्रष्ट साधक के निष्काम होने पर भी किसी-न-किसी सूक्ष्म-वासना के रूप में उसकी ज्ञानप्राप्ति में एक प्रतिबन्ध है और उसकी बुद्धि में अभी ज्ञानप्राप्ति की योग्यता न होना, यह दूसरा प्रतिबन्ध है। जब उसका शरीर छूटता है तो उसके पास पुण्य तो है ही, चाहे पूर्व जन्म का हो अथवा वर्तमान का, परन्तु सूक्ष्म कामना के कारण उसका तत्त्वज्ञान में विनियोग नहीं हो सकता। इसलिए कामनानुसार जैसा चिन्तन करते हुए शरीर छूटता है उसी के अनुसार दिव्यलोकों को प्राप्त कर लेता है। यही उसके लिए पुण्यलोकों की प्राप्ति का हेतु है। उन लोकों के पुण्यभोग के पश्चात् गीता के अनुसार शुचीनां श्रीमतां गेहे... (६.४१) और

योगिनामेव कुले...(६.४२) या तो पवित्र श्रीमानों के कुल में या फिर योगियों के कुल में उत्पन्न होता है।

साधक के पूर्वजन्म के संस्कार इस जन्म में भी काम करते हैं। मैं एक बार तपोवन (गंगोत्री-गोमुख से भी ऊपर) गया। वहाँ एक साध्वी कृष्णा भारती से मेरी भेंट हुई। उस समय उनकी अवस्था लगभग २८-२९ वर्ष की रही होगी। मैंने उनसे प्रश्न किया, 'यह बताओ कि साध्वी होने की आपकी इच्छा कैसे हुई?' उन्होंने कहा, 'मैं कलकत्ता में रहती थी। जबसे मुझे समझ हुई तब से मेरे मन में यही विचार आता था कि मैं हिमालय में जाकर तपस्या करूँ। जब मेरे विवाह की चर्चा चली तब मैं एम.एस.सी. में पढ़ रही थी। विवाह का नाम सुनकर घबरा गई। मैं घर से भागकर पहले हरिद्वार पहुँची और वहाँ से किसी प्रकार यहाँ (तपोवन) आकर रहने लगी।' उसकी बातें सुनते-सुनते मेरे मन में यह विचार आया कि इसने पूर्वजन्म में पुरुष शरीर से हिमालय में बहुत तपस्या की होगी। परन्तु ज्ञानप्राप्ति में कोई प्रतिबन्ध होने से अन्त समय की स्मृति के अनुसार इसको स्त्री-शरीर प्राप्त हो गया होगा। पर इसने जो अभ्यास किया होगा वह कहाँ जाएगा! पूर्वाभ्यासेन तेनैव ...।(गीता-६.४४) साधक को सावधान हो जाना चाहिए कि जिस प्रतिबन्ध के कारण मुझे पूर्वजन्म में तत्त्वज्ञान नहीं हुआ वह यदि वर्तमान में है तो आगे भी जन्म का हेतु बनेगा।

जिज्ञासा :- यदि कोई व्यक्ति विधि न जानते हुए मात्र श्रद्धा से शास्त्रीय कर्म करता है तो क्या उसका फल मिलेगा?

समाधान :- विधिपूर्वक न करने पर व्यक्ति को कर्म का फल नहीं मिलेगा, पर श्रद्धा का फल अवश्य मिलेगा। कर्म और उपासना, इनका अपना एक विज्ञान है, इनकी एक विधि होती है। विधि का फल अलग होता है और श्रद्धा का फल अलग।

विन्ध्याचल का एक ब्राह्मण कलकत्ता गया था। नवरात्र आनेवाली थी, वहाँ के एक सेठ ने कहा, 'पण्डितजी! यह दक्षिणा आप रख लो और नवरात्र में दुर्गासप्तशती का नित्य एक पाठ हमारे निमित्त कर देना।' ब्राह्मण ने कहा, 'सेठ! मैं तो पाठ करना ही नहीं जानता हूँ।' पर सेठ नहीं माने और उन्होंने

ब्राह्मण को दो हजार रुपये दक्षिणा दे दी। वह ब्राह्मण देवी-मन्दिर में आया और कहा, 'भगवती! सेठ ने पैसा दे दिया है। तुम तो जानती हो कि मैं सप्तशती का एक अक्षर भी नहीं जानता, पर तुम तो पढ़ी-लिखी हो, अपना पाठ स्वयं कर लेना। यजमान का कल्याण होना चाहिए।' उसके सरल भाव और निष्ठा को देखकर देवी प्रभावित हो गई और यजमान का काम कर दिया। यहाँ पर जो भी कार्य हुआ वह विधि से नहीं श्रद्धा मात्र से हुआ।

जिज्ञासा :- गीता में कहा है - व्यक्ति अन्तकाल में जिसका चिन्तन करता है उसी शरीर को प्राप्त होता है। परन्तु अन्य धर्मशास्त्रों में ऐसा आता है कि श्राद्ध-पिण्ड-दानादि करने से जीव को सद्गति प्राप्त होती है अन्यथा उसे भटकना पड़ता है। गीता के अनुसार सद्गति-अपगति में अपना पुरुषार्थ ही हेतु है, पर अन्य धर्मशास्त्रों के अनुसार श्राद्धपक्ष को मानने पर तो पुरुषार्थ व्यर्थ हो जाता है, इस विरोधाभास का परिहार कैसे करेंगे?

समाधान :- ये दोनों बातें अलग-अलग हैं। श्राद्ध-पिण्ड-दानादि का फल अलग है। जीव जब शरीर छोड़ता है, तो अगले शरीर को धारण करने के लिए वहाँ तक पहुँचने के बीच में बहुत-से प्रतिबन्ध होते हैं, उन प्रतिबन्धों को दूर करने के लिए श्राद्ध-पिण्ड-दानादि की परम्परा है। यह न होने पर वह जीव बिना शरीर मिले कुछ काल तक पड़ा रहेगा। प्रकृति जब विधान करेगी तभी पहुँचेगा। जैसे मुख्यमन्त्री तक पहुँचाने के लिए किसी कार्यालय में कोई पत्र दिया, तो सामान्य प्रक्रिया से वह वर्षों तक नहीं पहुँचेगा। परन्तु जल्दी पहुँचाने के लिए भी एक प्रक्रिया है जिसे बतलाने की आवश्यकता नहीं है, सभी लोग उसे जानते हैं।

ऐसे ही श्राद्ध आदि की प्रक्रिया है जिससे प्रतिबन्ध दूर होकर अन्तिम समय में चिन्तन किया गया शरीर जीव को शीघ्र ही मिल जाता है। अन्यथा उसे कुछ समय तक प्रेत बनकर भटकना पड़ सकता है। बस, इतना ही अन्तर है। शरीर तो अन्तिम चिन्तन के अनुसार ही मिलेगा।

अतः जैसे अन्तिम समय में जीव का चिन्तनरूपी पुरुषार्थ काम करता है, ऐसे ही श्राद्ध आदि भी पुरुषार्थ से सम्बन्धित हैं। अन्य शरीर-प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ तो आवश्यक है। श्राद्ध भी पिता के प्रति पुत्र का पुरुषार्थ है। दोनों का फल अलग-अलग है, परन्तु दोनों में किसी प्रकार का विरोधाभास नहीं है।

जिज्ञासा :- मीमांसक लोग नित्यकर्म का कोई फल नहीं मानते, किन्तु भगवान् शंकराचार्य ने गीता-भाष्य में नित्यकर्म का फल माना है। साथ ही कहा कि नित्यकर्म का न करना अभावरूप है, उससे प्रत्यवायरूपी फल उत्पन्न नहीं हो सकता। ऐसा मानने पर तो मीमांसक मत तथा नित्यकर्म के न करने से प्रत्यवाय का कथन करनेवाली अनेक स्मृतियों से विरोध होता है। इस विरोध का परिहार कैसे हो?

समाधान :- व्यक्ति किसी बात को कहाँ और किस दृष्टि से कहता है उन सभी बातों को हम एक साथ नहीं मिला सकते। कथन करनेवाले की दृष्टि में भेद है तो उन शब्दावलियों का अर्थ भिन्न हो जाता है। भाष्यकार भगवान् ने गीताभाष्य में विचार भगवद्गीता को ही प्रमाण लेकर किया है। नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (गीता - २.१६) अभाव से कोई फल उत्पन्न नहीं हो सकता। अभाव तो असत् रूप है, उससे किसी भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। गीता की इसी बात को ध्यान में रखकर वहाँ पर विचार किया है।

उस प्रसंग में नित्यकर्म न करने से प्रत्यवाय होता है, यह सिद्धान्त ठीक नहीं मालूम होता। न करना अभाव हुआ। अतः न करने से फल उत्पन्न नहीं होगा, यह बात ठीक है। परन्तु सन्ध्या-उपासना नित्यकर्म है, व्यक्ति यदि उसे न करे तो पाप का भागी होगा या नहीं? इसका वहाँ समाधान किया कि जो शास्त्रीय व्यक्ति है, वह नित्यकर्म सन्ध्या-उपासनादि जानता है परन्तु करता नहीं, तो अवश्य ही कोई पाप है जो उसे नहीं करने दे रहा है। इस प्रकार नित्यकर्मों का अकरण प्रत्यवाय (दुःखप्राप्ति) का लक्षक है, कारण नहीं। धर्मेण पापम् अपनुदति (तैत्ति. आ.-१०.६३.७) और कर्मणा पितृलोकः। (बृह. उप.-१.५.१६) इन श्रुतिवाक्यों को ध्यान में रखकर भाष्यकार भगवान् ने कहा - नित्यकर्म पाप को निवृत्त करेगा और धर्म को उत्पन्न करेगा।

त्रयोधर्मस्कन्धाः। (छा.उप.-२.२३.१) इस श्रुति में कहा गया है कि जो व्यक्ति अपने शास्त्रविहित वर्णाश्रम धर्म का पालन कर रहा है वह स्वर्ग प्राप्त करेगा ही, चाहे वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कोई भी हो। नित्यकर्म भी धर्म है, इसलिए उसको मिलाकर ही स्वर्गात्मक फल प्राप्त होगा। अतः नित्यकर्म का सम्बन्ध भी फल से होता है।

मीमांसक लोग भी मानते हैं कि अपने वर्णाश्रम धर्म का अनुष्ठान करते हुए व्यक्ति स्वर्ग को प्राप्त करता है। पर उनका जो कहना है कि नित्यकर्म का फल नहीं होता, उसका यही तात्पर्य है कि जैसे **स्वर्गकामो यजेत** - इस वाक्य में काम्यकर्म से स्वर्गरूपी फलप्राप्ति का कथन है इस प्रकार से नित्यकर्म के फल का अलग से कहीं कथन नहीं है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि नित्यकर्म का फल से सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वह धर्मरूप है और धर्म का फल होता ही है।

व्यक्ति ने नित्यकर्म नहीं किया तो उस समय उसने शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन किया, यही उससे निषिद्धकर्म हो गया। निषिद्धकर्म भावरूप है, उसका फल (प्रत्यवाय) हो ही जाएगा। असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती - इस आधार को लेकर गीताभाष्य में विचार है और यहाँ **धर्मेण पापमपनुदति। (तैत्ति.आर.-१०.६३.७)** इस श्रुतिवाक्य की दृष्टि से विचार किया गया है, दोनों का परस्पर विरोध नहीं है। नित्यकर्म से दुरितक्षय (पापनाश) इसका कहीं निषेध नहीं है। नित्य-नैमित्तिक कर्म अवश्य कर्तव्य हैं, उनसे पापनाश होकर अन्तःकरण स्वच्छ होता है। व्यक्ति प्रमाद के कारण नित्यकर्म में प्रवृत्त नहीं होता है। यदि सन्ध्याकाल में व्यक्ति सन्ध्योपासना नहीं करेगा, तो सोएगा या गप्प लगाएगा, इससे जीवन में दोष आ जाएगा। तात्पर्य यह है कि जैसे झाड़ू लगाने का कोई विशिष्ट फल नहीं है परन्तु स्वच्छतारूपी फल तो है ही। एक दिन भी व्यक्ति यदि झाड़ू नहीं लगाएगा, तो कचरा इकट्ठा हो जाएगा। यह झाड़ू न लगाने का प्रत्यवाय ही तो है। इसी प्रकार नित्यकर्म का विशेष फल न होने पर भी पापक्षय और अन्तःकरण-शुद्धिरूप फल तो है ही। इसे न करने पर अन्तःकरण में कचरा तो आएगा ही, यही इसका प्रत्यवाय है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर नित्यकर्म का त्याग नहीं करना चाहिए।

जिज्ञासा :- बिना अहम् के कर्म कैसे हो सकता है?

समाधान :- योगवाशिष्ठ में कहा है - सुषुप्ति के समान स्थिर होकर कर्म करना चाहिए। जैसे - सुषुप्ति में शरीर, मन, अहं नहीं रहते हैं तो भी प्राण और हृदय का स्पन्दन तथा हाथ-पैरों का हिलना आदि कर्म होते ही रहते हैं। इसी प्रकार जाग्रत में भी बिना अहम् के कर्म हो सकता है। जैसे वेग से चलती हुई गाड़ी का इञ्जन बन्द कर देने पर भी वह कुछ दूरी तक चलती रहती है, वैसे ही ज्ञान के बाद शरीर में अहंता के समाप्त होने पर भी जब तक प्रारब्ध का वेग है तब तक शरीर चलता रहता है। ज्ञानी महापुरुषों का ज्ञानोत्तर जीवन भी ऐसा ही होता है। पर अज्ञान की स्थिति में अहंकाररूपी इञ्जन शुरू है, इसलिए हाथ-पैर की क्रियाओं को रोकने पर भी कर्म होता ही रहता है क्योंकि अहंकारपूर्वक रोके हुए है।

जिज्ञासा :- कोई व्यक्ति बहुत परिश्रम करता है पर फल से वञ्चित रह जाता है और कोई व्यक्ति बहुत कम परिश्रम करने पर भी वही फल प्राप्त कर लेता है। इसमें क्या हेतु है?

समाधान :- यदि किसी पात्र में कोई वस्तु है तो करछी डालने पर वह निकलेगी। परन्तु यदि पात्र में कोई वस्तु ही नहीं है तो कितनी भी करछी डालो, वह नहीं निकलेगी। जब तक पात्र में वस्तु नहीं भरेंगे, तब तक कैसे निकलेगी! वर्तमान शरीर में भोग के लिए लोगों का जो प्रयास है वह तो करछी डालने के समान है और उसमें जो लाभ होता है, वह प्रारब्ध के रूप में होता है।

जैसे व्यापार आदि में किसी व्यक्ति को तो जिधर हाथ मारता है, उधर धन मिलता है और कोई अन्य व्यक्ति जहाँ भी धन लगाता है वहीं डूब जाता है। कभी-कभी देखा जाता है कि व्यक्ति उल्टा व्यवहार करता है तो भी लक्ष्मी उसके पास दौड़ी हुई आती है और कोई बड़ा सत्कर्म करता है तो भी लक्ष्मी उसके घर से चली जाती है।

व्यक्ति का यदि पूर्वजन्म का पुण्य नहीं है तो उसके पास धन नहीं आता, दरिद्रता ही बनी रहती है। अब वह किसी मन्दिर में जाएगा, पूजा करेगा, किसी महात्मा की सेवा करेगा या व्रत, उपवास, जप, तीर्थ-यात्रा जो कुछ भी

करेगा, इनके बदले जीवन भर धन ही माँगता रहेगा। इस प्रकार करते हुए उसका शरीर छूटने पर वह अगले जन्म में किसी करोड़पति के घर में उत्पन्न होगा। जिधर देखेगा वहाँ धन-ही-धन दिखाई देगा। उसने पूर्वजन्म में भगवान् से, सन्तों से कभी-भी भक्ति, सद्बुद्धि इत्यादि तो माँगे नहीं, सिर्फ धन-ही-धन माँगा। अब जीवन भर भोगवृत्ति में लगा रहेगा, भगवान् को ही भूल जाएगा। मरने के बाद अगले जन्म में फिर दरिद्र हो जाएगा।

इस प्रकार किसी व्यक्ति ने पहले बोया है तो अब फसल काट रहा है और कोई अब बो रहा है वह आगे काटेगा। बस, भेद इतना ही है।

जिज्ञासा :- क्या जीव मृत्यु के तुरन्त बाद नवीन शरीर ग्रहण करता है?

समाधान :- जीव मृत्यु के समय तृण-जलूकान्याय के अनुसार पहले नूतन शरीर ग्रहण करता है फिर वर्तमान शरीर को छोड़ता है। जलूका तृण (घास) का एक कीड़ा होता है। चलते समय वह पहले अपने अगले पैरों से दूसरे तृण को पकड़ता है फिर पहलेवाले तृण को छोड़ देता है। इसी प्रकार जीव भी पहले आगामी शरीर को पकड़कर वर्तमान शरीर को छोड़ता है। पहले नये शरीर को अहंतया पकड़ लेता है फिर पूर्ववाले शरीर को भूल जाता है। यही एक हेतु है जिसके कारण नया शरीर पाकर जीव दुःखी नहीं होता। चाहे शूकर बने या कूकर, उसे पहले का शरीर विस्मृत हो जाएगा। यह नूतन शरीर को अहंतया पकड़ना बहुत बड़ा विज्ञान है। इसलिए नये शरीर में व्यक्ति प्रसन्नता से रहता है।

जिज्ञासा :- कर्मों को बन्धन का हेतु माना जाता है। फिर एक साधक अपने कर्तव्य कर्मों को किस प्रकार करे जिससे आगे बन्धन की प्राप्ति न हो?

समाधान :- पहले तो साधक को यह स्वीकार करना चाहिए कि शरीर जहाँ रहता है वहाँ व्यक्ति नहीं रहता, बल्कि मन जहाँ रहता है वहीं रहता है। व्यक्ति क्या कार्य कर रहा है इसका परमार्थ मार्ग में कोई महत्व नहीं है, क्यों कर रहा है इसका ही महत्व है। एक ही कार्य को एक व्यक्ति स्वार्थ के लिए करता है और दूसरा कर्तव्य दृष्टि से, ईश्वराराधनारूप में या गुरु की आज्ञा के पालन रूप में करता है। कार्य एक ही है पर दोनों की दृष्टि में भेद है। व्यक्ति जिस

दृष्टि से कर्म करता है फल उसी प्रकार का मिलता है। मजदूर रुपये के लिए एक कार्य करता है और साधक गुरु आश्रम में वही कार्य सेवा मानकर करता है। चाहे वह झाड़ू लगाता है तो भी गुरुसेवा समझता है। इसलिए साधक संसार में जहाँ कहीं भी रहकर जो भी कार्य करे, उसको भगवदर्पणबुद्धि से करे तो वह बन्धन का हेतु नहीं, बल्कि परमार्थ मार्ग में आगे बढ़ने में सहायक होगा।

जिज्ञासा :- यदि भगवान् ही सब कुछ करवा रहे हैं, तब जीव क्या करेगा?

समाधान :- बात तो बिल्कुल ठीक है। जीव के हाथ में कुछ भी नहीं है। श्रुति कहती है- एष ह्येव साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत। एष उ एवासाधुकर्म कारयति तं यमघो निनीषते॥ (कौषीतकी उप.-३.८) जिसको ऊपर ले जाना होता है उससे परमात्मा ही साधुकर्म करवाता है और जिसको नीचे ले जाना होता है उससे असाधुकर्म (पापकर्म) करवाता है। श्रुतिप्रमाण है फिर जीव क्या करता है? यह बात ठीक है, पर यह विषय विचारणीय है।

परमात्मा के बिना आँख की पलक भी नहीं गिर सकती, परन्तु जीवों के कर्मों में जो भेद दीख रहा है, किसी से शुभ हो रहा है तो किसी से अशुभ, इसमें हेतु परमात्मा नहीं, बल्कि जीव के कर्म-संस्कार ही हैं। वही परमात्मा कर्म करवा रहा है और फल भी वही दे रहा है क्योंकि कर्म तो जड़ है, वह फल देने में समर्थ नहीं है। परन्तु भेद में हेतु परमात्मा नहीं है। जैसे, एक चिन्तामणि रखी हो और उसके समक्ष आकर बहुत लोग अलग-अलग संकल्प करें तो हर संकल्प का अलग-अलग फल प्रकट हो जाएगा। वहाँ पर फल तो चिन्तामणि ने ही दिया, पर फल में जो भेद हुआ वह प्रत्येक व्यक्ति के संकल्प के भेद से हुआ। चाहे किसी को मृत्यु मिली या भोजन, उसमें हेतु चिन्तामणि नहीं है। इसलिए आप जो संकल्प कर रहे हैं, वह परमेश्वर का नहीं हो सकता। वह जीव का ही है। हाँ, उसका फल तो परमेश्वर ही देता है।

बुद्धिवादी तो इस सचाई से बचने की कोशिश करता है। जब दुर्योधन से पूछा गया - तुम पाप क्यों कर रहे हो, धर्म क्यों नहीं करते? तब उसने कहा-

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनाऽपि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

(महाभारतम्)

मैं धर्म जानता हूँ, पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती और अधर्म भी जानता हूँ, पर उससे निवृत्ति नहीं होती। तो पूछा, फिर ऐसा क्यों करते हो? तब उसने कहा, मेरे हृदय में कोई एक देव बैठा है वह जो करवाता है, मैं वही करता हूँ। इसका नाम बुद्धिवाद है। बुद्धिवादी व्यक्ति अपनी बुद्धि के बल पर बचना चाहता है।

एक सेठजी थे। उन्होंने एक सुन्दर बगीचा लगाया। एक दिन एक दुर्बल गाय उस बगीचे में घुस गई। सेठजी ने डण्डा उठाया और दो-चार डण्डे उसको मार दिये। गाय जमीन पर गिर गई और मर गई। गो-हत्या आ गई और सेठजी को बोली, 'तुमने गाय को मारा है, मैं तुम्हें पकड़ूँगी।' सेठजी ने बुद्धिवाद का प्रयोग किया और कहा, 'मैंने कहाँ गाय को मारा है। हाथ के देवता इन्द्र हैं। इन्द्र की प्रेरणा के बिना हाथ कुछ नहीं कर सकता। अतः इन्द्र की प्रेरणा से ही हाथ गाय की पीठ पर गिरा और यह मर गई। हमने कुछ नहीं किया। जिस इन्द्र ने इस गाय को मारा है, उसके पास जाओ।'

यह सुनकर गो-हत्या इन्द्र के पास पहुँची और कहा, 'तुमने गाय को मारा है?' इन्द्र ने कहा, 'मैं गाय को क्यों मारूँगा!' गो-हत्या ने कहा, 'अरे, वह सेठ तो कहता है हाथ के देवता इन्द्र हैं। इन्द्र की प्रेरणा के बिना तो कोई किसी को लाठी मार ही नहीं सकता।' इन्द्र ने कहा, 'मेरे साथ चलो।' इन्द्र ब्राह्मण का वेश बनाकर सेठजी के पास गए और कहा, 'ओहो! इतना सुन्दर बगीचा। ऐसा तो स्वर्ग में भी नहीं होता होगा।' बगीचे की प्रशंसा सुनी तो खुशी के मारे सेठजी के हाथ से जपमाला गिर पड़ी और वे बाहर आ गए। उन्होंने कहा, 'ब्राह्मणदेव! आपको क्या पता है, इसमें कितना परिश्रम करना पड़ता है। मैंने अलग-अलग जगह से ये पौधे मँगवाए हैं। इन हाथों से परिश्रम किया है।'

इस प्रकार बगीचा बताते-बताते दरवाजे पर पहुँच गए जहाँ पर वह गाय मरी हुई पड़ी थी। इन्द्र ने कहा, 'सेठजी, इस गाय को किसने मारा?' सेठजी ने

कहा, 'यह तो हमने नहीं मारी। जिन हाथों के अनुग्राहक देवता इन्द्र हैं, उन्हीं हाथों ने मारी है। तो समझो कि इन्द्र ने ही मारी है।' तब इन्द्र ने कहा, 'अच्छा, बगीचा तुमने लगाया और गाय को इन्द्र ने मारा। यह बुद्धिवाद नहीं चलेगा।' वे गो-हत्या से बोले, 'पकड़ लो इसको, झूठ बोलता है।' इस प्रकार बुद्धिवाद से काम नहीं चलता कि परमात्मा ही सब कुछ करवाता है, जीव कुछ नहीं करता।

जिज्ञासा :- यदि कोई साधक इष्ट-दर्शन के लिए हठ करे और किसी प्रतिबन्ध के कारण दर्शन के पहले ही उसका शरीर छूट जाए तो उसकी क्या गति होगी?

समाधान :- हठ करेगा तो शरीर छूट सकता है और यदि ईश्वर ऐसा न चाहे तो नहीं भी छूटेगा। साधक ने ईश्वर के लिए हठ किया है, जगत् तो उसके मन में है नहीं। यदि उसका शरीर छूट भी जाए तो फिर जन्म लेकर ईश्वर के लिए हठ करेगा, किसी जन्म में उसका काम बन ही जाएगा। बस, जगत् के लिए हठ नहीं करना चाहिए।

जिज्ञासा :- गीता में आया है -

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ (३.३३)

यदि सबकी प्रवृत्ति प्रकृति से ही हो रही है तो व्यक्ति का पुरुषार्थ कैसे बनेगा?

समाधान :- प्रश्न बहुत गम्भीर है। इस श्लोक के भाष्य में भाष्यकार भगवान् ने ज्ञानवान् का अर्थ किया - शास्त्रज्ञ। एक बिना शास्त्र पढ़ा हुआ व्यक्ति है और एक शास्त्रज्ञ, दोनों अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करते हैं, तो भगवान् का उपदेश उनके लिए क्या करेगा? तमाम व्यक्ति शास्त्र जानते हैं पर उसको मानते नहीं क्योंकि उनकी चेष्टा प्रकृति से हो रही है। भगवान् भाष्यकार ने प्रश्न किया कि ऐसी अवस्था में व्यक्ति के द्वारा पुरुषार्थ कैसे सम्भव है? तब विचार किया कि प्रकृति व्यक्ति को किस क्रम से विषय के प्रति प्रवृत्त करती है।

इसका निर्णय किया कि प्रकृति राग-द्वेष उत्पन्न करके ही जीव को प्रवृत्त करती है। किसी की प्रकृति यदि सात्त्विक है, तो सात्त्विक कर्म, सात्त्विक देवता, सात्त्विक भोजन के प्रति उसमें राग उत्पन्न कर देगी, उस जीव को वही अच्छा लगेगा। इसी प्रकार राजस और तामस प्रकृति भी राजस, तामस पदार्थों के प्रति राग उत्पन्न करके जीव को प्रवृत्त करती है। फिर शास्त्र क्या करेगा? तो कहा कि शास्त्र प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष का बाधक बनता है। जब व्यक्ति शास्त्रदृष्टिवाला हो जाता है तो वह शास्त्र से प्रवृत्त होता है, राग-द्वेष से नहीं। सात्त्विक प्रकृतिवाले में तो शास्त्र-श्रद्धा तत्काल उत्पन्न हो जाती है, पर अन्यो में यह सहज नहीं होती। इसलिए हमारी परम्परा में बालक के गर्भाधान से लेकर यज्ञोपवीत तक संस्कार, गुरुकुलवास इत्यादि ये विधान शास्त्र-श्रद्धा को दृढ़ करने के लिए ही हैं। इनके द्वारा बालक की प्रकृति शास्त्र-प्रकृति हो जाती है। उसके पूर्वजन्मकृत धर्माधर्मादि संस्कार से बनी जो सहजप्रकृति है उससे यह शास्त्रप्रकृति प्रबल हो जाती है। अब वह सहजप्रकृति उसमें राग-द्वेष पैदा करके उसे विषयों के प्रति प्रवृत्त नहीं कर पाती। ऐसे व्यक्ति के सोचने का ढंग 'अच्छा लगना' 'खराब लगना' नहीं होता। वह सोचता है शास्त्र क्या कहता है - तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। (गीता - १६.२४)

हमने प्रत्यक्ष देखा है, एक पण्डित का नित्य सायंकाल विष्णुसहस्रनाम पाठ का नियम था। एक दिन किसी कारणवश वह पाठ नहीं कर पाया। जब भोजन करने बैठा तो याद आया। तब उसने पहले पाठ पूरा किया, फिर भोजन प्रारम्भ किया। उसके सामने गरम भोजन रखा है, उसका मन तो कह रहा था कि पहले भोजन कर लें, पर शास्त्रदृष्टि प्रबल हो गई तो वह उत्पन्न हुआ राग कट गया। इस प्रकार जीवन में जब हम शास्त्र को महत्व देंगे तब शास्त्रदृष्टि से सहज प्रकृति बाधित होने पर राग-द्वेष की अधीनता हमारे जीवन में नहीं होगी। फिर हमारे द्वारा जीवन में पुरुषार्थ बन सकता है।

जिज्ञासा :- कोई व्यक्ति कर्तव्यबुद्धि से कर्म करे तो उसका क्या फल होगा?

समाधान :- केवल शास्त्राज्ञा से प्रेरित होकर यदि व्यक्ति यज्ञादि कर्म करता है और कहीं राग नहीं करता, तो धीरे-धीरे उसका अन्तःकरण शुद्ध हो

जाता है। इसलिए पहले कर्म को नहीं अपितु राग को छोड़ने के लिए कहा जाता है। राग छोड़ने पर उसका कर्म केवल कर्तव्य बुद्धि से होगा, उसे बाँधेगा नहीं। फिर करते-करते यह विचार उत्पन्न होता है - 'कर्तव्यतैव दुःखानां परमं दुःखमुच्यते।' (त्रिपुरारहस्य ज्ञानखण्ड-१.४२) वास्तव में कर्तव्य ही सम्पूर्ण दुःखों में सबसे बड़ा दुःख है। यह सब क्या है? कितने जन्मों से करते आए हैं, कब तक करते रहेंगे? ऐसा विचार उत्पन्न होता है। यह विचार तीव्र होने पर साधक को सम्पूर्ण साधन-साध्य से अलग कर देता है। तब उसमें तीव्र मुमुक्षा उत्पन्न हो जाती है। यही निष्काम होकर कर्तव्यबुद्धि से कर्म करने का फल है।

जिज्ञासा :- जो भी कर्म हैं वे जड़ हैं, तब तो मन्त्र-जप आदि भी जड़ हुए। क्या इन जड़ कर्मों को बारम्बार दुहराने से साधक में विचारहीनता अर्थात् जड़त्व उत्पन्न नहीं होगा?

समाधान :- सनातन धर्म में तो सब चेतन ही माना गया है। जड़ का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है, वह तो चेतन में कल्पित है, उसी से सत्ता प्राप्त कर रहा है। इसलिए मन्त्र भी चेतन हैं। इसी प्रकार अवतारों में भी विशेषता है कि उनके नाम, रूप, लीला और धाम चारों चेतन हैं - इनमें से किसी का भी आश्रय लेकर व्यक्ति श्रेय प्राप्त कर सकता है। जड़ के साथ सम्बन्ध की अपेक्षा चेतन के साथ सम्बन्ध में एक विलक्षणता होती है। मान लीजिए, आपको दस हजार रुपये की आवश्यकता है, हमने आपको दे दिए तो रुपये मिलने मात्र से आपका कार्य सिद्ध हो जाएगा। रुपये पर विश्वास की कोई जरूरत नहीं। परन्तु आपको पत्नी प्राप्त हुई और उस पर आपका विश्वास न हो तो क्या प्राप्तिमात्र से सुख मिलेगा? आपके मन में आ जाए कि यह हमको भोजन में जहर दे देगी, तो क्या उससे कुछ सुख मिलेगा? इसी प्रकार मन्त्र भी विश्वास होने पर लाभ देता है क्योंकि वह चेतन है, रुपये या पत्थर के समान जड़ नहीं है। चेतन के साथ सम्बन्ध में विश्वास अनिवार्य है, उसके बिना फल नहीं मिलता।

अतः आपको मन्त्र में सम्पूर्ण सामर्थ्य का विश्वास होना चाहिए।

इसी प्रकार भगवान् के रूप, लीला और धाम में भी विश्वास आवश्यक है। ये चारों चीजें चेतन होने के कारण आप जिस संकल्प से उनका आधार लेंगे वह संकल्प पूर्ण होगा। अतः मन्त्रजप से जड़त्व की प्राप्ति नहीं होती, अपितु चेतनमन्त्र से आप यदि सम्बन्ध करेंगे तो चेतन को ही प्राप्त करेंगे। यदि चेतन का आश्रय लेकर जगत् की वस्तु चाहते हैं तो वह भी प्राप्त करेंगे क्योंकि फलदाता चेतन ही है जड़ नहीं।

जिज्ञासा :- कोई ऐसा व्यक्ति है जिसकी जगत् सम्बन्धी वासना क्षीण है और कर्मों को बन्धन समझकर कर्म-उपासनादि नहीं करता, चुपचाप बैठा रहता है। क्या उसका कल्याण होगा?

समाधान :- पहले तो यह समझना चाहिए कि बिना ज्ञान के न तो किसी की वासना क्षीण हो सकती है और न ही कर्तृत्व की हानि हो सकती है। ऐसे व्यक्ति के लिए कुछ न करना ही कर्म बन जाएगा क्योंकि न करने में भी उसकी अहंता तो रहेगी ही। उसका मनरूपी इंजन तो चल ही रहा है, शरीररूपी गाड़ी न चले तो क्या हुआ, उसकी शक्ति तो क्षय हो ही रही है। शास्त्र भी वृथाऽऽयुक्षपण (व्यर्थ आयु गँवाना) और आलस्य का पूर्णतया निषेध करता है। मनुष्य-शरीर में पुरुषार्थहीन बैठने से तो अच्छा है कि तुम जगत् के लिए ही काम करो, धन कमाओ और उसका सदुपयोग करो क्योंकि अर्थ (धन) को भी शास्त्र ने पुरुषार्थ कहा है।

शास्त्र कहता है - मनुष्य शरीर दुर्लभ है, कल्पवृक्ष तुल्य है, इसमें पुरुषार्थ करके तुम जो चाहो वह प्राप्त कर सकते हो। इसमें न हार मानने का स्थान है और न आलसी बनने का। दूसरी बात, शास्त्र में कर्मसंन्यास की विधि अहर्निश तत्त्वचिन्तन के लिए है। जो अहर्निश तत्त्वचिन्तन नहीं कर सकता उसके लिए संन्यासविधि नहीं है। अतः हमारी दृष्टि से तो जो व्यक्ति कर्मादि छोड़कर ऐसे ही बैठता है वह अकर्मण्य है। उसका कल्याण सम्भव नहीं है।

जिज्ञासा :- गीता में भगवान् ने लोकसंग्रह के लिए कर्म करने का उपदेश किया है। साधु को किस प्रकार से लोकसंग्रह करना चाहिए?

समाधान :- सबका लोकसंग्रह एक जैसा नहीं होता है। गोवध-आन्दोलन के समय साधु लोग भी उसमें भाग ले रहे थे। उस समय हमारे महाराजजी ओंकारेश्वर में ही रहते थे। उनसे जब इस विषय में पूछा गया तो उन्होंने कहा कि साधु को आम लोगों के समान आन्दोलन नहीं करना चाहिए क्योंकि साधु वहाँ नारा लगाएगा - 'गोली-डण्डा खाएँगे, गौ को हम बचाएँगे।' जब साधु ने पहले ही कह दिया कि गोली-डण्डा खाएँगे तो गौ की रक्षा तो जब होगी तब होगी, पर गोली पहले चलेगी क्योंकि साधु की वाणी झूठी कैसे होगी! आखिर उस आन्दोलन में गोली चली भी। महाराजजी का कहना था कि साधु भी गोरक्षण में भाग लें यह अच्छी बात है, परन्तु उनका तरीका दूसरा होना चाहिए। सभी साधु एकत्रित होकर दिल्ली के बाहर कहीं बैठ जाएँ और कहें कि जब तक गोवध बन्द नहीं होगा तब तक हम नहीं उठेंगे। इस प्रकार वहाँ बैठकर भजन में लग जाएँ तो धीरे-धीरे जनता वहाँ आएगी और समाज में एक बड़ा आन्दोलन हो जाएगा।

वास्तव में साधु अपने लिए विहित सन्मार्ग पर पूर्ण निष्ठा से चलता है तो इससे बड़ा लोकसंग्रह और क्या हो सकता है? एक योगी का संकल्प ऐसे व्यक्ति को पैदा कर देता है जो सम्पूर्ण सृष्टि को उलट देता है। समर्थ गुरु रामदासजी के संकल्प से ही शिवाजी ने हिन्दू धर्म के लिए जो काम किया वह क्या किसी से छिपा है? इसलिए साधु को लोकसंग्रह के विषय में सोचने की अपेक्षा अपने भजन पर ध्यान देना चाहिए।

जिज्ञासा :- किसी अन्य योग का सहारा लिए बिना केवल निष्काम कर्मयोग के अवलम्बन से क्या पूर्ण अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है?

समाधान :- निष्काम कर्म का अवलम्बन लेने पर जब उसका फल प्रकट हो जाएगा तो ज्ञानयोग स्वतः जीवन में आ जाएगा। निष्काम कर्मयोग आपको जहाँ तक ले जा सकता है वहाँ तक आपकी बुद्धि की उन्नति हो गई तो वह कक्षा आप पास कर लेंगे और स्वतः ही दूसरी कक्षा में चले जाएँगे। आपको कोई कक्षा छोड़ने या पकड़ने की जरूरत नहीं रहेगी। बुद्धि अपने आप ज्ञानमार्ग में लग जाएगी।

त्रिपुरारहस्य में वर्णन आता है कि परशुरामजी जब रामजी से परास्त हुए तब उनके मन में बड़ी ग्लानि हुई। वे तप करने के लिए जंगल की ओर चल दिये। मार्ग में उन्हें एक पेड़ के नीचे धूल में बैठे हुए संवर्त अवधूत मिले। जब उनके चेहरे की ओर देखा तो उन्हें लगा कि यह व्यक्ति धूल में बैठा है, इसके पास कोई सम्पत्ति नहीं है फिर भी चेहरे पर इतनी प्रसन्नता कैसे है? मैंने इतनी बार क्षत्रियों का संहार किया पर आज मेरा मन एकदम दुःखी है। उनके पास जाकर परशुरामजी ने कुछ पूछा पर उन्होंने जो उत्तर दिया वह उनकी समझ में नहीं आया। अरे भाई! ब्रह्मनिष्ठ पुरुष अपने ढंग से उत्तर देता है, देहाध्यासी उसे कैसे समझे? जब परशुरामजी ने कहा कि हमारी समझ में कुछ नहीं आ रहा तो संवर्तजी ने जवाब दिया, 'तुम्हारे गुरु दत्तात्रेय हैं, उनके पास जाओ।'

फिर परशुरामजी दत्तात्रेयजी के पास पहुँचे और प्रणाम करके संवर्तजी की स्थिति के विषय में पूछा कि धूल में पड़ा हुआ व्यक्ति इतने आनन्द में कैसे रह सकता है? तब दत्तात्रेयजी ने कहा कि उनकी स्थिति को तुम अभी समझ नहीं पाओगे। फिर उन्होंने देवी का माहात्म्य बताकर उन्हें उपासना-पद्धति बताई तथा उपासना करने का आदेश दिया।

परशुरामजी ने महेन्द्र पर्वत पर जाकर १२ वर्ष तक देवी की उपासना की। जब उपासना का कार्य पूरा हुआ तो अन्दर से यह विचार स्वतः उत्पन्न हुआ कि कब तक यह सब करते रहेंगे? क्या इससे पूर्णता प्राप्त होगी? तब फिर दत्तात्रेयजी के पास पहुँचे। उन्होंने ज्ञान का उपदेश किया तो इन्हें तत्त्वज्ञान का प्राप्ति हो गई। मेरे कहने का तात्पर्य है कि इसी प्रकार जब निष्काम कर्म का फल जीवन में उदित होगा तो स्वतः विचार उत्पन्न होगा कि मैं कौन हूँ, कब तक कर्म करता रहूँगा? इनका फल क्या है? चित्तशुद्धि का यही लक्षण है कि जगत् की कामना छूटे और इस प्रकार के विचार उत्पन्न हो जाएँ।

कर्म चित्तशुद्धि का साधन है, उसमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए अन्यथा जब छोड़ने का समय आएगा तब छूटेगा नहीं। निष्काम कर्मयोग अन्तःकरण को शुद्ध करके विवेक उत्पन्न कर देता है, फिर विचार से ज्ञान उद्भूत होता है और व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर लेता है। अतः व्यक्ति सम्यक् रूप से निष्काम कर्मों का अवलम्बन लेकर परम्परा से मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

जिज्ञासा :- संन्यास लेने के बाद भी कोई शादी करे तो उसकी कौन-सी गति होगी?

समाधान :- शास्त्र भगवान् की आज्ञा है, उसके विपरीत कोई भी आचरण करेगा तो उसकी क्या गति होगी? सीधी बात है कि वह अपने को नरक में जाने के लिए तैयार कर रहा है।

जिज्ञासा :- महापुरुष कहते हैं कि निष्काम कर्म से चित्त शुद्ध होने के बाद ही मनुष्य ठोक से उपासना कर सकता है, फिर वाल्मीकि, अजामिल जैसे लोग इतने पाप करते-करते अचानक भक्ति में कैसे तल्लीन हो गये?

समाधान :- हम लोग वाल्मीकि और अजामिल के पूर्वजन्मों को नहीं जानते हैं। उस निमित्त को भी नहीं जानते जिसकी वजह से अचानक उनका मन ऐसा हो गया, इसलिए इस प्रकार की शंका हो जाती है। साधना तो अनेक जन्मों की होती है। वाल्मीकिजी ने एक बार रामजी को अपने पूर्व जन्मों के बारे में सुनाया था। पूर्व जन्म में भी वे एक डाकू ही थे। जंगल में रहते और राहगीरों को लूटते थे। एक बार ग्रीष्म ऋतु में एक ऋषि उधर से जा रहे थे, उनके पास कुछ और नहीं था तो उनके पैर के जूते ही इन्होंने ले लिये।

ऋषि ने कुछ नहीं कहा और आगे बढ़ गये, परन्तु तेज धूप से तपी हुई रेत में चलने से उन्हें बहुत कष्ट हो रहा था, प्यास भी बहुत लगी थी जिससे वे अत्यन्त व्याकुल हो गये थे। यह देखकर वाल्मीकि के मन में पता नहीं कहाँ से कुछ दया आ गई और उन्होंने जाकर ऋषि के जूते उन्हें वापस कर दिये। ऋषि ने कहा, 'प्यास से मेरे प्राण निकले जा रहे हैं, यदि जल पिला सको तो बहुत कृपा होगी।' वाल्मीकि उन्हें एक सरोवर के पास ले गये। ऋषि ने जल पीया और तृप्त हुए। उन्होंने कहा, 'तुमने एक ऋषि के प्राण बचाए हैं, तुम भी आगे जाकर अवश्य ही एक ऋषि बनोगे।' उस जन्म के संस्कारों से अगले जन्म में भी वाल्मीकि ब्राह्मण होने के बाद भी लूटपाट में ही लगे रहे, परन्तु ऋषि का वरदान अमोघ था। जब उसका फल देने का समय आया तो इनका मन एकदम बदल गया।

इस प्रकार अनेक संस्कार होते हैं, कुछ वरदान भी होते हैं जो किसी पापी के जीवन में भी समय आने पर जागृत हो जाते हैं। ऐसे लोगों में सीधे अहंता

ही परिवर्तित हो जाती है, किसी क्रम से धीरे-धीरे सुधार हो, ऐसी बात नहीं। ऐसा हो सकता है कि पूर्व के शुभ संस्कार या कर्म कई जन्म तक दबे रहें, परन्तु जिस समय वे बलवान होकर ऊपर आते हैं, उस समय सारी समस्या तुरन्त समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार अजामिल, अंगुलीमाल आदि के विषय में भी समझना चाहिए।

जिज्ञासा :- भाष्य आदि में निष्काम कर्म की चर्चा के समय कर्म शब्द से शास्त्रीय कर्मों का ही ग्रहण किया गया है, वे ही चित्तशुद्धि के हेतु बनते हैं। आजकल आश्रमों में साधु लोग अनेक प्रकार की सेवा करते हैं, उनमें से सभी कर्म उनके लिए शास्त्रविहित तो नहीं होते। फिर क्या उनकी चित्तशुद्धि होगी?

समाधान :- अरे भाई! साधु लोग जिस उद्देश्य से सेवा करते हैं वह होगा इसमें सोचना क्या है! शास्त्र की बात का विचार करें तब तो संन्यास संस्कार में सभी कर्मों का परित्याग हो गया, गुरु ने बोल दिया उदीच्यां गच्छेत् (उत्तर दिशा की ओर जाओ), अब उसका कर्तव्य तो निरन्तर तत्त्वानुसन्धान ही है। फिर ऐसे व्यक्ति को आश्रम में रहने की क्या आवश्यकता है? परन्तु जिसका मन निरन्तर तत्त्वानुसन्धान नहीं कर सकता और शरीर अधिक तितिक्षा नहीं कर सकता, वह साधु क्या करेगा?

उसके लिए यही उचित है कि गुरु-आश्रम में रहकर गुरु की सेवा को आश्रम की सेवा करे। जब आप गुरु की निष्काम भाव से सेवा करके उन्हें प्रसन्न करेंगे, देवता की सेवा करेंगे तो आपपर उसका प्रभाव पड़ेगा ही। आप चाहे गो-सेवा करें या झाड़ू लगावें अथवा खेत में काम करें, पर सब जगह निष्कामता होनी चाहिए। ऐसा होने पर वे कर्म अवश्य ही चित्तशुद्धि के हेतु बनेंगे। हमने स्वयं कई गृहस्थों और साधुओं को देखा है जो केवल गुरु-सेवा के बल पर अत्यन्त उच्च स्थिति में पहुँच गये।

जिज्ञासा :- कोई साधक शारीरिक असमर्थता के कारण अधिक सेवा नहीं कर सकता है। भगवन्नाम एवं शास्त्र का महत्व उसकी बुद्धि में बैठा है, अतः

शास्त्र का स्वाध्याय और मन्त्रजप करता रहता है, परन्तु चित्त शुद्ध न होने से मन अधिक एकाग्र नहीं हो पाता। ऐसे साधक की क्या गति होगी?

समाधान :- वह साधक जानता है कि मेरा चित्त शुद्ध नहीं है, इसलिए जो कुछ साधन करता है, चित्तशुद्धि की दृष्टि से ही करता होगा। मन एकाग्र न होने से उसका जप और पाठ एकाग्रता से नहीं हो पा रहा है, फिर भी उसका लक्ष्य यदि ठीक है तो ऐसे साधन से भी धीरे-धीरे उसका चित्त शुद्ध होता जाएगा। इसके बाद स्वतः ही जप आदि में एकाग्रता बढ़ जाएगी। ऐसे व्यक्ति को धैर्य रखना चाहिए। सांसारिक फलों की आसक्ति से अपने आपको बचाकर रखना चाहिए। अपने मन्त्रजप आदि का चित्तशुद्धि के सिवाय अन्य किसी फल में विनियोग नहीं करना चाहिए। परमेश्वर को दृढ़ता से पकड़कर रखना चाहिए। यदि इस प्रकार की सावधानी रखेगा तो उसकी साधना में अवश्य प्रगति होगी।

जिज्ञासा :- इस शरीर में जीवन भर जो अहंता की है, शरीर छूटने पर उसका क्या होता है?

समाधान :- मृत्यु से पहले अहंता बदल जाती है। पूर्व जन्म में जो अहंता थी वो अब नहीं रहती है। अहंता बदलने में कितना समय लगता है, रोज ही स्वप्न में एक कल्पित शरीर के साथ आपकी अहंता चली जाती है। यदि उसके साथ अहंता न जाए तो वहाँ सुख-दुःख का अनुभव कैसे हो सकता है? जब कोई कर्मकाण्ड करता है तब भी उसकी अहंता बदल जाती है कि मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग में जाकर देवशरीर प्राप्त करूँगा। मृत्यु के बाद उसकी अहंता उस शरीर के साथ चली जाती है। यह अहंता जब तक अपने शुद्ध स्वरूप में नहीं पहुँचती, तब तक बदलती रहती है। जब तक उपाधि के साथ रहेगी, तब तक अवश्य ही बदलेगी।

यहाँ से ब्रह्मलोक तक अहंता बदलती रहती है। यहाँ शरीर छूटने पर उपासक ब्रह्मलोक में शरीर प्राप्त कर लेगा। थोड़ा भी विचार करके देखने पर यह ज्ञात हो जाएगा कि अहंता शरीर की बपौती नहीं है। वह तो बदल जाती है। शरीर छूटने पर किसी की अहंता पशु-पक्षी में चली जाती है, तो फिर उसी शरीर में मैं करने लगता है। जहाँ भी विशिष्ट अहंता है, वहाँ बन्धन रहता ही है।

हिरण्यगर्भ की अहंता कोई मामूली अहंता तो नहीं है, परन्तु उसकी समष्टि अहंता भी एक प्रकार का बन्धन ही है। कोई साधक यदि जिज्ञासु है तो उसे ब्रह्मलोक में तत्त्वज्ञान हो सकता है। तभी जाकर अहंता के बदलाव का यह चक्र उपराम होगा।

जिज्ञासा :- कर्म की योग संज्ञा कब होती है? निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान व्यक्ति किस प्रकार कर सकता है?

समाधान :- कर्म की योग संज्ञा तब होती है जब हमारा लक्ष्य कर्म के द्वारा परमात्म-प्राप्ति हो अन्यथा जिस-जिस विषय सम्बन्धी हम कर्म करते हैं उस-उस विषय की प्राप्ति का वह साधन बन जाता है। उस कर्मयोग में क्या विशेषता है? वह निष्काम है, अर्थात् जगत् की किसी कामना का सम्बन्ध उसके साथ नहीं रहता। यह निष्काम कर्मयोग परमात्मा की प्राप्ति का एक साधन है। कर्म तो किसी का भी साधन हो सकता है। कोई युद्ध करता है जिससे स्वर्ग प्राप्त करता है और भी शास्त्र के अनुसार कर्म करता है तो उसका शुभ फल प्राप्त होता है। पर व्यक्ति निष्काम हो जाए फिर कर्म कैसे करेगा? ऐसा व्यक्ति शास्त्रीय कर्तव्य-दृष्टि से ही कर्म करता है। शास्त्र की आज्ञा प्रातःकाल उठो, सन्ध्या करो, यज्ञ करो, इस प्रकार शास्त्राज्ञानुसार ही वह कर्म को करता है और जगत् विषयक फल से उसका सम्बन्ध नहीं रहता।

कर्मयोग के साधक को बहुत सावधानी की आवश्यकता है। जीव का शरीराध्यास उसको बहुत चतुर बना देता है। इधर जप करेगा, उसे शिवार्पण करता जाएगा, परन्तु जब बीमार पड़ेगा तो भगवान् से कहेगा कि इतना जप किया फिर बीमार क्यों पड़ गया? जगत् के व्यवहार बड़े विलक्षण होते हैं क्योंकि यहाँ जो कहा जाता है वैसा किया नहीं जाता। आपके घर हम जाते तो आप कहते हैं - मकान आपका ही है। पर हम कहें - निकलो यहाँ से, तो आपकी तैयारी कहाँ रहती है! मन में कुछ और बाहर दिखावा कुछ और। व्यक्ति बाहर से ऐसा समझता है कि निष्काम कर्म कर रहा हूँ, परन्तु उसके द्वारा होनेवाले फल में उसकी भोगबुद्धि बनी रहती है। अतः इस विषय में साधक को बहुत सावधान रहना चाहिए कि कर्म का सम्बन्ध किसी भी प्रकार के फल से न बन पाए।

निष्काम कर्म कैसा होता है, इसे इस दृष्टान्त से समझ सकते हैं। उत्तरकाशी में एक निष्काम कर्मयोगी महात्मा को हमने देखा। गंगोत्री जाने के रास्ते में एक सेमल का पेड़ था। दोपहर के समय गौएँ आकर वहाँ छाया में बैठ जाती थीं। वे साधु उस स्थान को कंकड़-पत्थरविहीन बनाकर साफ-सुथरा रखते ताकि गौएँ वहाँ सुख से बैठें। वहाँ जाकर गोबर उठा लाते थे और उस पहाड़ी जगह में गड्डे खोदकर उनमें गोबर डालते जाते थे। यह उनकी प्रतिदिन की दिनचर्या में शामिल था। वर्षा आने पर उन गड्डों में कुछ बो देते थे, तो समय आने पर फल लग जाते थे। फल तैयार होने पर वे उन्हें ले जाकर शिव-मन्दिर में रख देते थे। उसके बाद उन फलों को कौन ले गया, किसने खाया, इससे उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता था।

कुछ साधु उनसे कहते वृद्धावस्था में भी कर्मकाण्ड ही करते रहोगे क्या? तो वे कहते, 'शरीर तो हमने बहुत पहले ही महादेव को दे दिया है। मेरे पास तो शरीर ही नहीं है, तो मैं क्या कर्मकाण्ड करूँगा।' फिर एक दिन उनकी तबीयत खराब हुई तो हमारे महाराजजी को बुलावाएँ और कहा, 'अच्छा स्वामीजी, यह शरीर शिवजी को अर्पित है। इसका काम पूरा हो गया है। गीता सुना दीजिए।' तब उन्होंने सुनाना शुरू किया। गीता सुनते-सुनते जब ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म आया, तो उन्होंने शरीर छोड़ दिया।

देखो, ऐसा कर्म योग का रूप धारण कर लेता है। हमने एक कर्मयोगी का उदाहरण दिया कि कर्म किस तरह योग बन जाता है तथा परमात्मा से सम्बन्धित हो जाता है। कर्तव्यबुद्धि से शुरू होता है और ईश्वरार्पण में उसकी अन्तरंगता हो जाती है। इसमें कर्म ईश्वर को ही समर्पित होता है। इस प्रकार साधक का पूरा जीवन ही ईश्वर से सम्बन्धित हो जाता है। ऐसा जो कर्मयोग है, वह साधक के अन्तःकरण को शुद्ध क्यों नहीं करेगा! उसके अन्दर विचार क्यों नहीं उत्पन्न होगा! भगवान् की गीता में प्रतिज्ञा है -

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ (१०-८, ९, १०)

यदि कोई परमेश्वर के प्रति तन्मय हो जाता है तो यह परमेश्वर के प्रतिज्ञा है कि वह उसे ज्ञान प्रदान कर देता है। इस प्रकार कर्म की योगसंज्ञा तब होती है, जब वह मुख्य पुरुषार्थ से सम्बन्धित हो जाए।

सेवाकार्य में हमारी कोई प्रशंसा करे या निन्दा करे, इससे हमें को मतलब नहीं होना चाहिए। हम तो अपना कर्तव्य करते हैं। जो निन्दारूपी वि नहीं पी सकता, वह सेवा कैसे कर सकता है? लोग तो निन्दा करेंगे ही। यदि निन्दा से तुम्हारा मन बिगड़ गया तो फिर सेवा क्या करोगे? जो कर रहे हो उसे पर ध्यान केन्द्रित करो। अपने में कहीं कमी हो तो उसे अवश्य ही दूर कर दो। परमेश्वर ने तुम्हें जो ज्ञान दिया है, शक्ति दी है, उससे तुम परमेश्वर की कितनी सेवा कर सकते हो, यह तुम पर निर्भर है।

जैसे कोई डॉक्टर है, जितनी उसमें सामर्थ्य हो, उसे उतनी सेवा करनी चाहिए। जो नहीं कर सकते, उसका विधान नहीं है। तुम्हारा लड़का बीमार हो जाए तो उसके लिए तुम दो लाख रुपये खर्च कर देते हो, पर एक गरीब बीमार हो जाए तो सामर्थ्य होने पर भी उसकी मदद नहीं कर सकते। को कहें कि हम कितने लोगों की इस प्रकार मदद कर सकते हैं? तुम यदि एक कर सकते हो तो एक की करो। उसके लिए पीछे क्यों हटते हो? शरीर तो चि पर पड़ा हुआ है। तात्पर्य यह है कि ये सब बड़ी रहस्यात्मक बातें हैं। केव वाणी से 'निष्काम' कह देने मात्र से नहीं होता।

एक संस्थान में कोई शुरू में सेवा करने के लिए जुड़ता है, पि लोगों से उसका सम्बन्ध बनता है। तत्पश्चात् उसको कहीं-न-कहीं से मिलने लगता है। उसे कोई कहे कि अब तुम्हारी जिम्मेदारी दूसरा कोई निभा तो उसे बड़ा भारी धक्का लगता है, बड़ा नाराज होता है। अरे, क्यों नाराज चाहिए? सेवा करने के लिए बहुत जगह है। पर उसमें रस लेने के कारण दोष आ जाता है। उसका अन्तःकरण मलिन हो जाता है तो वह सन्मार्ग को छो देता है। इसीलिए 'निष्काम' शब्द सुनने में जितना सरल प्रतीत होता है, जीवन में उतारना इतना सरल नहीं है।

जिज्ञासा :- निष्काम कर्मानुष्ठान यदि कोई ठीक से करे तो उसका फल क्या होगा?

समाधान :- निष्काम सेवा से साधक के मल परिपक्व हो जाते हैं। उसका मन शुद्ध हो जाता है। इसके बाद ही साधक परमात्मा की पूर्ण कृपा का अनुभव करता है। आगम शास्त्र में कहा गया है -

परिपक्वमला ये तान् उत्सादनहेतुशक्तिपातेन।

योजयति परे तत्त्वे स दीक्षया आचार्यमूर्तिस्थः॥ (परम्परया)

परमात्मा जब देखता है कि इस साधक के मल पक गए हैं - तब वह आचार्यमूर्ति में बैठकर उसे हिला देता है, उसके मलों को नाश करने के लिए शक्तिपात दीक्षा के द्वारा उसे परमतत्त्व से जोड़ देता है। गुरुकृपा से अब उसके लिए संसार की सारी बातें तुच्छ हो जाती हैं। पर जब तक निष्काम सेवा से मल पकेंगे नहीं तब तक गुरु की यह परमकृपा नहीं होगी।

जिज्ञासा :- पितर योनि किन कर्मों से प्राप्त होती है और उनका निवास स्थान कहाँ है? पितर योनि समाप्त होने पर उनकी क्या गति होती है? मनुष्यलोक में किए हुए श्राद्ध का फल उन्हें कैसे प्राप्त हो जाता है?

समाधान :- मृत्यु के पश्चात् व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार ही गति प्राप्त करता है। कोई साधक किसी देवता का उपासक है और दान, यज्ञादि शुभकर्म भी करता है, तो वह स्वर्ग में जाकर देवशरीर प्राप्त करेगा। इसी प्रकार जो श्राद्ध इत्यादि कर्म हमेशा करते रहते हैं, पितरों के प्रति जिनकी निष्ठा है, भक्ति है, वे अपने कर्मानुसार मृत्यु के पश्चात् पितृलोक जा सकते हैं। जैसा देवलोक है, वैसा ही पितृलोक है। देवलोक में कई प्रकार के देवता होते हैं। एक तो वे जिनकी उत्पत्ति सृष्टि के आरम्भ में हिरण्यगर्भ से हुई है, वे आजानजदेव कहलाते हैं और जो यहाँ पर उपासना और शुभकर्म करके बाद में वहाँ जाते हैं, वे कर्मदेव कहलाते हैं।

जैसी व्यवस्था देवलोक में है, उसी प्रकार की पितृलोक में भी रहती

है। पितृलोक में भी मूल पितृगण सृष्टि के आरम्भ से ही रहते हैं। प्रारब्धक्षय होने पर वे लोग मुक्त हो जाते हैं। अन्य जो लोग पृथ्वी पर पितरों सम्बन्धी शुभकर्म करके वहाँ जाते हैं, जब उनके पुण्यों का क्षय हो जाता है, तब उनका शरीर गलत जाता है। इसके बाद एक निश्चित क्रम से वे लोग पृथ्वी पर लौट आते हैं। पुनः अपने संस्कारों और शेष कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में जन्म लेते हैं। उनमें मनुष्य जन्म प्राप्त हो ही जाएगा, यह निश्चित नहीं रहता। परन्तु पुण्यबल से मनुष्य-योनि से पितृयोनि में गये थे तो प्रायः ऐसा समझा जाता है कि वे पुनः मनुष्य योनि जन्म लेते हैं। उनका इतना पुण्य नहीं बचा था कि उन पुण्यलोक में रह सकें। जैसे आप किसी ऐसे होटल में ठहरते हैं जहाँ पर रोज चार हजार रुपये किराया देना पड़ता है। यदि आपके पास तीन हजार रुपये ही बचे हैं तो उस होटल में कैसे ठहर पाएँगे? ऐसी मान्यता है कि प्रायः पितरों को मनुष्य शरीर मिल जाता है, पर कभी ऐसा भी हो सकता है कि उनके पिछले पापकर्म फल देने के लिए तैयार हो जाएँ तो अन्य योनि में भी जन्म हो सकता है।

लोग शंका करते हैं कि श्राद्ध यहाँ किया तो उसका फल इतने दूर पितरों को कैसे मिल जाता है? अरे! व्यवहार में ही देख लो - जैसे पोस्ट ऑफिस में हम कोई मनीऑर्डर करते हैं, तो जो रुपये हमने यहाँ दिए, वही रुपये वहाँ नगद जाते। पर एक व्यवस्था बनी है जिसमें पते के अनुसार वहाँ उसे उतने रुपये मिल जाएँगे। इसी प्रकार श्राद्ध की व्यवस्था है। हम यहाँ पर किसी पितर के निमित्त से जो कुछ भी करेंगे, वह जिस शरीर में रहेगा, वहीं उसको भोग प्राप्त हो जाएगा क्योंकि हमारा निमित्त तो वही है। दृष्टि से ही काम होता है। जैसे, ब्राह्मण लोग यज्ञ करते हैं और फल यजमान को मिलता है क्योंकि वे लोग यज्ञ यजमान के लिए करते हैं और उसके बदले में उससे दक्षिणा लेते हैं।

इसी प्रकार जिस पितर के लिए यहाँ संकल्प होता है, वह पितर जहाँ भी होगा, उसे उसका फलभोग प्राप्त हो जाएगा। भले ही इसे उसका पता पता न हो, पर उसको सुविधा मिल जाएगी। यदि वह पशु शरीर में है तो वहीं खाने पीने की सुविधा हो जाएगी। कोई उसे चारा डाल देगा, गुड़ खिला देगा। पितरों

में विशेष शक्ति होती है, वे किसी के शरीर में आकर आपको आदेश भी दे सकते हैं। जब भूत-प्रेत शरीर में आविष्ट होकर आदेश दे सकते हैं तो पितर लोग भी ऐसा कर ही सकते हैं। उपनिषदों में वर्णन आता है कि कोई गन्धर्व ब्राह्मण-पत्नी के शरीर में आकर बोला। जिनमें सामर्थ्य है वे अवश्य ही ऐसा कर सकते हैं।

जिज्ञासा :- क्या मृत्यु के पश्चात् सूक्ष्म-शरीर का भी नाश हो जाता है?

समाधान :- सूक्ष्म-शरीर जीवात्मा के भोग के लिए करण है। करण उसे कहते हैं जिससे कार्य किया जा सकता है। जैसे - कलम लिखने में, कुल्हाड़ी लकड़ी काटने में, इसी प्रकार नेत्र देखने में, श्रोत्र सुनने में, त्वक् स्पर्श करने में, मन संकल्प करने में करण है और बुद्धि निश्चय करने में। दस-इन्द्रिय, पञ्चप्राण, मन, बुद्धि यही सब मिलकर सूक्ष्म-शरीर कहलाता है। आपको करण की आवश्यकता तब तक रहती है जब तक आप कुछ करना चाहते हैं। जब कुछ करने की इच्छा समाप्त हो जाएगी तो करण की भी जरूरत नहीं रहेगी।

जब तक जगत् के भोगों की वासना है, तब तक कुछ-न-कुछ करना पड़ेगा और करने के लिए सूक्ष्म-शरीररूपी करण आवश्यक है। इसलिए मृत्यु के पश्चात् सूक्ष्म-शरीर का नाश नहीं होता, वह दूसरे स्थूल-शरीर में जाकर बैठ जाता है और वहाँ करण बनता है। जीव के सारे संस्कार इसी में रहते हैं। ज्ञान होने पर जब व्यक्ति के अन्दर वासना नहीं रहेगी तो कुछ करने की भी इच्छा नहीं रहेगी, तब सूक्ष्म-शरीर की आवश्यकता समाप्त हो जाएगी। अतः जिस समय ज्ञानी का स्थूल-शरीर समाप्त होगा, उसी समय सूक्ष्म-शरीर भी अपने कारण सूक्ष्म-पञ्चभूतों में लीन हो जाएगा।

जिज्ञासा :- मृत्यु के पश्चात् इस जीव की क्या गति होती है?

समाधान :- जीवों के तीन प्रकार के कर्म-संस्कार होते हैं। एक व्यक्ति इस प्रकार का है जो शास्त्रानुसार कर्म करता है और उपासना भी करता है। कर्म और उपासना के आधार पर उसे देवलोक की प्राप्ति होती है क्योंकि उसके कर्मों का फलभोग देवता-शरीर में ही हो सकता है। मृत्यु-समय उसे

देवशरीर की स्मृति हो जाती है, उस शरीर को अहंतया पकड़कर वर्तमान शरीर को छोड़ देता है। उसके लिए एक विशेष मार्ग निर्धारित है जिसमें अनेक देवता हैं जो उस जीव को देवलोक (ब्रह्मलोक) पहुँचा देते हैं। इसे उत्तरायण मार्ग, अर्चि मार्ग या शुक्ल मार्ग कहते हैं।

ऐसा उपासक चाहे कृष्णपक्ष में शरीर छोड़े अथवा शुक्लपक्ष में, उत्तरायण में छोड़े या दक्षिणायन में, उसका पुण्य इस प्रकार का है कि वह अर्चिमार्ग से ही जाएगा। पहले वह अर्चि अभिमानी देवता के अधिकार में जाएगा, वह उसे दिन के अभिमानी देवता को देगा, वहाँ से शुक्लपक्षाभिमानी देवता के अधिकार में पहुँचेगा, इस प्रकार वह क्रम से अनेक देवताओं से सम्बन्धित होते हुए और आदित्यलोक, चन्द्रलोक, वरुणलोक आदि अनेक लोकों से होते हुए ब्रह्मलोक पहुँचेगा।

दूसरे जो कर्मनिष्ठ व्यक्ति होते हैं, वे शास्त्रानुसार ही कर्म करते हैं, परन्तु उपासना में उनकी निष्ठा नहीं है, ऐसे लोग शरीर छूटने के बाद स्वर्ग (पितृलोक) जाते हैं। उनका मार्ग धूममार्ग या कृष्णमार्ग कहलाता है। वे पहले धूमाभिमानी देवता के अधिकार में जाते हैं, वहाँ से राज्यभिमानी देवता, फिर कृष्णपक्षाभिमानी देवता के अधिकार में पहुँचते हैं। इस प्रकार ये भी क्रम से अनेक देवताओं से सम्बन्धित होते हुए स्वर्ग को प्राप्त करते हैं और पुण्य समाप्त होने तक स्वर्ग का सुख भोगकर पुनः पृथ्वीलोक में लौट आते हैं।

कुछ मनुष्य ऐसे भी होते हैं जो न शास्त्रीय कर्मों का अनुष्ठान करते हैं और न ही उपासना। ऐसे लोगों के लिए वेद बताता है - जायस्व म्रियस्व इत्येतत् तृतीयं स्थानम् ... (छान्दो. उप.-५.१०.८)। मर्त्यलोक में ही बार-बार जन्म और मृत्यु यही उनकी गति है। वे किसी अन्य लोक में नहीं जाते। यदि उनके पुण्य-पाप लगभग सम हैं तो मनुष्य-शरीर प्राप्त कर लेते हैं अन्यथा पाप अधिक होने पर तिर्यग्योनि या नारकीययोनि को प्राप्त होते हैं। मरने के बाद यही तीन गतियाँ जीव की होती हैं।

वस्तुतः मरने के बाद ये गतियाँ अज्ञानी के लिए कही गयी हैं। ज्ञानी के लिए कोई गति नहीं है। वह न तो किसी अन्य लोक में जाता है और न ही यहाँ पर उसका जन्म होता है। अतः वह तो यहीं पर मुक्त हो जाता है।

भक्ति एवं उपासना

जिज्ञासा :- जो भगवद्भक्त भगवत्पूजन में लगे रहते हैं, क्या उन्हें भगवान् ज्ञान प्रदान कर देते हैं?

समाधान :- हाँ, क्यों नहीं करते, यदि वे ज्ञान चाहते हैं तो ज्ञान प्रदान कर देंगे। भगवान् प्रसन्न होंगे तो जो आप चाहते हैं वे वही देंगे। भगवान् ने तो गीता में कहा है -

अहं सर्वस्य प्रभवो

मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ (१०.८)

मेरे भक्त मुझे जगत् का कारण समझकर भावपूर्वक मेरा भजन करते हैं।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ (१०.९)

वे लोग मेरे में ही मन और प्राण को लगाकर मेरे विषय में ही परस्पर कथन करते हैं और मुझमें ही सन्तुष्ट रहते तथा रमण करते हैं। उन्हीं के लिए भगवान् ने आगे यह कहा -

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं

तमः।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (१०.११)

अपने ऐसे अनन्य भक्तों पर कृपा करके मैं उनके अज्ञानान्धकार का ज्ञानरूप प्रकाश से नाश कर देता हूँ। सकाम भक्तों के लिए भगवान् ने यह नहीं कहा है। भगवान् निष्काम भक्त को ज्ञान देते हैं और सकाम को लड्डू (लौकिक फल)। यदि कोई व्यक्ति ज्ञान पाना चाहे ही नहीं तो उसे भगवान् भी ज्ञान नहीं दे सकते।

जैसे कोई पशु कमजोर है, उठना चाहता है तो कोई व्यक्ति उसका सींग पकड़ लेता है, कोई पूँछ पकड़ लेता है, तब वह उठ जाता है। किन्तु यदि वह पशु उठना ही न चाहे तो कोई भी उसको नहीं उठा सकता। इसी प्रकार जीव मोक्ष प्राप्त करना न चाहे तो भगवान् भी उसे मोक्ष नहीं दे सकते। यदि जीव साधना

में अपनी ताकत लगाएगा तो भगवान् भी अपनी ताकत लगा देंगे, फिर जीव का कल्याण हो जाएगा। इसलिए जीव का जैसा लक्ष्य है, उसी के अनुसार भगवान् की कृपा होती है।

जिज्ञासा :- पहले के भक्तों में भगवान् के प्रति जो श्रद्धा होती थी, वह इस समय के भक्तों में दिखाई क्यों नहीं देती?

समाधान :- इस समय अन्न, जल, वायु और वातावरण सब बिगड़ गए हैं, यह एक समस्या है। दूसरा कारण यह है कि आज व्यक्ति सचाई को स्वीकार नहीं करता। बुद्धिवाद बढ़ गया है, व्यक्ति चालाक हो गया है, बुद्धि से ही बोलता है, हृदय से तो बोलता नहीं है। चाहे कुछ भी गलत काम करें पर पकड़ में नहीं आएँ। किसी को प्रभावित कैसे किया जाए? बस, व्यक्ति इसी में लगा रहता है। यह विज्ञान का युग है, सुविधा बढ़ रही है पर मानवता ढकती जा रही है। विज्ञान ने समाज के लिए एक बहुत बड़ी हानि की है। हमारी तपस्या ही खत्म कर दी है। पहले तो साधु ऐसे ही रहते थे, न बिजली थी, न कुछ अन्य साधन थे। अब सुविधाएँ बढ़ गईं तो भजन घट गया। शरीर पराधीन हो गया, इन्द्रियाँ कमजोर हो गईं। पहले ऐसा नहीं था। उस समय लोग भगवान् को ही आधार मानकर चलते थे, कोई अन्य आधार नहीं था, इसलिए उनमें भगवान् के प्रति श्रद्धा थी। परन्तु आजकल लोगों का आधार संसार बन गया है, इसलिए इनमें श्रद्धा दिखाई नहीं देती।

जिज्ञासा :- भगवान् का दर्शन कैसे हो सकता है?

समाधान :- जब भगवान् से मिलने की इतनी तड़पन हो जाएगी कि संसार निस्सार लगने लगेगा, तब भगवान् के दर्शन निश्चित ही हो जाएँगे, इसमें कोई संशय नहीं है। जब बुद्धजी ने कहा - इहासने शुष्यतु मे शरीर... इस आसन पर चाहे हमारा शरीर सूख जाए पर ज्ञान प्राप्त करके ही रहूँगा, तो उन्हें ज्ञान प्राप्ति हो ही गई। इसी प्रकार भगवती उमा ने भी कहा, जन्म कोटि लागि

रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी। (मानस, बाल.-८०.३) मन्त्र और इष्ट में जिसको ऐसा दृढ़ विश्वास है उसको कोटि जन्म नहीं लेने पड़ते, इसी जन्म में ईश्वर-दर्शन हो जाता है। यदि हमारा मन जगत् में कहीं रस नहीं ले रहा है और ईश्वर के बिना हम नहीं रह पा रहे हैं तो ईश्वर-दर्शन कोई कठिन काम नहीं है।

जिज्ञासा :- उपासना और निदिध्यासन में क्या अन्तर है?

समाधान :- उपासना भावनात्मक है और निदिध्यासन ज्ञानात्मक है। ज्ञान के विषय में पहले श्रवण किया जाता है, श्रवण करके तत्त्व (जीव-ब्रह्म का एकत्व) को निर्धारित करते हैं, फिर उसका मनन करते हुए उसे निःसन्दिग्ध करते हैं। निदिध्यासन में इसी तत्त्व का अभ्यास करते-करते मैं ब्रह्म हूँ ऐसी अनुभूति उत्पन्न हो जाती है।

यदि साधक को अपरब्रह्म की अहंग्रह-उपासना करनी है तो इसमें भी पहले उपास्य का स्वरूप ठीक-ठीक समझना पड़ता है, फिर उसकी अहंरूप से भावना की जाती है और भावना करते-करते उपासक उस उपास्य देवता के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यदि वह सम्यक् प्रकार से अहंग्रह-उपासना कर लेता है तो हिरण्यगर्भ लोक को प्राप्त कर लेता है। इस उपासना से सभी देवता उसके अंगभूत हो जाते हैं। उसने पहले यदि तत् और त्वम् पदार्थ का विवेक अच्छी प्रकार से कर लिया है (परोक्ष ज्ञानी है), तो ब्रह्मलोक में जाकर मुक्त हो जाता है। परन्तु निदिध्यासन में अभ्यास की प्रबलता से यहाँ पर ही अपरोक्षानुभूति हो जाती है।

जिज्ञासा :- आपके श्रीमुख से सुना है कि ज्ञान के लिए भक्ति आवश्यक है और भक्ति के लिए ज्ञान। जब दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं, तो व्यक्ति किसी एक की पहले प्राप्ति कैसे करे?

समाधान :- करीब चालीस वर्ष पहले की बात है। मैं हिमालय में

घूमते-घूमते सोलह-सत्रह हजार फीट ऊँचाई पर बर्फीले क्षेत्र में पहुँचा। वहाँ मैंने एक मन्दिर देखा। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि यहाँ एक वृक्ष भी नहीं है, ऐसे जगह पर मन्दिर किसने बनाया होगा! मैं उसकी तरफ चला। इतने में मैंने एक काले मृग को देखा तो मुझे और भी आश्चर्य हुआ क्योंकि काला मृग हिमालय में नहीं होता है। वह तो गर्म प्रदेश में ही पाया जाता है। उसी समय वह मृग वहाँ से उछलकर मेरे सामने आकर खड़ा हो गया और मनुष्य की भाषा में बोलने लगा - ज्ञान बिना भक्ति नहीं, भक्ति बिना ज्ञान नहीं। इस प्रकार उसने तीन बार उच्चारण किया।

उसके इस वाक्य का विचार करने पर मैंने समझा कि देवता के विषय में जब तक ज्ञान ही नहीं होगा तब तक उसके प्रति विश्वास और भक्ति नहीं होगी और जब तक अन्तरंग भक्ति नहीं होगी तब तक उस देवता के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान भी नहीं होगा। मैं ऐसा सोच ही रहा था तब तक वह मृग बड़ी-बड़ी जटाएँ, शरीर में भस्मी, कमरबन्ध और लंगोटी पहने हुए एक महात्मा का स्वरूप धारण करते हुए, मन्दिर की तरफ चला। वे महात्मा मन्दिर में शिवलिंग का दर्शन करके बाहर आए और नन्दीश्वर के पास बैठकर एकदम समाधिस्थ हो गये।

मैं भी उनके पास में जाकर बैठ गया और भक्ति-सम्बन्धी कुछ श्लोक बोलने लगा, तो उन महात्मा के शरीर में बहुत रोमाञ्च हो आया। उनकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। मैंने सोचा इस प्रकार से तो ये महात्मा मूर्च्छित हो जाएँगे। मैंने तुरन्त प्रकरण को बदला और ज्ञानविषयक श्लोक बोलने लगा, तब वे प्रकृतिस्थ हुए और कुछ समय पश्चात् पुनः मृग बन गये। वह मृग, 'देखो! रस लेने के लिए तो भक्ति ही है, ज्ञान तो अनुभूति है' - इस प्रकार कहते हुए गायब हो गया। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी देवता के विषय में पहले हमें सामान्य ज्ञान होता है फिर उसके प्रति अनुराग (भक्ति) होता है, तदनन्तर उस देवता का विशेष ज्ञान प्रकट होता है। इस प्रकार दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है।

जिज्ञासा :- रघुपति भक्ति करत कठिनाई (विनयपत्रिका - १६७.१) - शास्त्रों में ज्ञानमार्ग की अपेक्षा भक्तिमार्ग को सरल बताया गया है, फिर तुलसीदासजी ने ऐसा क्यों कह दिया?

समाधान :- भगवान की भक्ति करना बहुत कठिन है क्योंकि भगवद्भक्ति में संसार का कोई बल काम नहीं करता। इस विषय में तुलसीदासजी ने दृष्टान्त दिया है - जल की तेज धारा में मछली सरलता से विपरीत दिशा में तैरती रहती है और हाथी बह जाता है। हाथी में मछली की अपेक्षा ज्यादा बल है, परन्तु तेज जलधारा में उसका बल काम नहीं करता। इसी प्रकार भक्तिमार्ग में जगत् का बल कोई काम नहीं करता। लोक में तो प्रदर्शन (दिखावे) की आवश्यकता पड़ती है परन्तु परमेश्वर को इसकी आवश्यकता नहीं है। उसको केवल आपके भाव की आवश्यकता है। परन्तु आपका आश्रय जब तक जगत् बना हुआ है, तब तक आपका भाव जगत् को ही पकड़ेगा भगवान् को नहीं और जब तक भाव भगवान् से नहीं जुड़ेगा, तब तक भक्ति कठिन ही रहेगी। इसलिए तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है - रघुपति भक्ति करत कठिनाई।

जिज्ञासा :- भगवान् की उत्कृष्ट भक्ति कैसे करें और उसका फल क्या है?

समाधान :- प्रत्येक जीव में तीन धाराएँ बहती रहती हैं, पहली है - कर्मधारा। जब यह बहती है तो जीव से कर्म बलात् होता रहता है। दूसरी है - ज्ञानधारा, इसका सम्बन्ध बुद्धि से है। इसके बिना जीव कोई भी विचार या निश्चय नहीं कर सकता। तीसरी है - भावधारा, इसका सम्बन्ध सीधा हृदय से है। भावधारा जिसको पकड़ लेती है जीव के ज्ञान और कर्म उधर ही मुड़ जाते हैं। जीव की भावधारा प्रायः जगत् को पकड़कर रखती है। यदि इसका सम्बन्ध परमात्मा से हो जाए तो इसी का नाम भक्ति हो जाता है।

उत्कृष्ट भक्ति तभी हो सकती है जब आपके लिए एक भगवान् ही रह

जाए, न तो स्वयं आप रहें और न कुछ अन्य ही। इसलिए उत्कृष्ट भक्ति की प्राप्ति के लिए योगी बनना पड़ता है। योगी की स्थिति का तुलसीदासजी ने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।

सकल दृश्य निज उदर मेलि, सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख, अतिसय द्वैत-बियोगी॥

(विनयपत्रिका - १६७.४)

वे कहते हैं - सकल दृश्य निज उदर मेलि। पहले सम्पूर्ण जगत् को खा जाओ, सबको आत्मसात् कर लो क्योंकि कोई दूसरा रहेगा तो आपका मन वहाँ चला जाएगा। यहाँ शंका होती है कि व्यक्ति सम्पूर्ण जगत् को कैसे खा सकता है? इसका उत्तर यही है कि जब आपका अहम् आकाश से सम्बन्धित हो जाएगा, तब सम्पूर्ण जगत् आपके अन्दर हो जाएगा। आपकी अहंता जब इस कार्यकरण-संघात को छोड़ देती है तो व्यापक हो जाती है। तब सम्पूर्ण विश्व आपके उदर में चला जाता है।

यदि कहो कि सुषुप्ति में तो रोज ही ऐसा हो जाता है, तो वह होना किसी काम का नहीं है। योगी की सुषुप्ति अलग ही प्रकार की होती है - सोवै निद्रा तजि जोगी, निद्रा को छोड़कर कैसे सोएगा? वह अपने स्वरूप में ही सोता है - स्वरूपे शेते। ऐसे योगी को क्या फल प्राप्त होता है? इसके उत्तर में कहा - सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख, अतिसय द्वैत-बियोगी। कारणावस्था (सुषुप्ति) में भी द्वैत तो नहीं रहता है, पर द्वैत का बीज (अज्ञान) रहता है। योगी में वह भी नहीं है, यह बताने के लिए अतिसय द्वैत-बियोगी ऐसा कहा। ऐसा योगी ही उत्कृष्ट भक्ति करता है। वह योगी जिस पद को प्राप्त करता है उसे शास्त्र में कहा - तद्विष्णोः परमं पदम् (कठ उप.- १.३.९) वहाँ द्वैत नाम की कोई वस्तु नहीं है। स्व की भगवान् से भिन्नता नहीं रहती है वहाँ परमसुख का अनुभव होता है। यही उत्कृष्ट भक्ति का फल है।

जिज्ञासा :- शबरी ने रामजी को जूठे बेर खिलाए, फिर उसे दोष क्यों नहीं लगा?

समाधान :- शबरी का राम के प्रति एक विलक्षण पवित्र भाव था। ऐसे भाव में शुद्ध-अशुद्ध कुछ याद नहीं रहता। भाव एक ऐसी पवित्र वस्तु है कि वहाँ जूठा नाम की कोई चीज ही नहीं है। महाराष्ट्र के एक महान् सन्त समर्थ गुरु रामदास थे जो शिवाजी के भी गुरु थे। उन्हें प्रतिदिन भोजन के पश्चात् पान खाने का अभ्यास था। वृद्धावस्था में दाँत नहीं रहे तो किसी से कुटवाकर खा लेते थे, परन्तु मुख चूने से कट जाता था। उनकी यह समस्या देखकर उनका सेवक ब्रह्मचारी बड़ा दुःखी रहता था। एक दिन उसे भावावेश हुआ। उसने जल से अपने मुख को अच्छी तरह धोया और मुख में पान को खूब चबाकर गुरुजी को दे दिया। गुरुजी ने उसे खाया तो उनका मुख नहीं कटा। ब्रह्मचारी प्रसन्न हो गया, अब तो उसका रोज का यही नियम हो गया।

एक दिन उसके इस कृत्य को आश्रम में किसी ने देख लिया और शिवाजी महाराज को शिकायत कर दी। यह सुनकर वे रामदासजी के पास गए और कहा, 'महाराज! सुना है आपका सेवक आपको जूठा खिलाता है!' रामदासजी बोले, 'ऐसा नहीं हो सकता। हमारा ब्रह्मचारी हमको जूठा क्यों खिलाएगा?' शिवाजी ने कहा, 'महाराज! लोगों ने देखा है कि वह पान को मुख में चबाकर आपको देता है।' रामदासजी ने ब्रह्मचारी को बुलाया और कहा, 'ब्रह्मचारी, तू मुझे जो पान देता है वह खलबट्टे में कूटकर देता है न?' ब्रह्मचारी ने कहा, 'जी महाराज!' रामदासजी ने कहा, 'अच्छा, उस खलबट्टे को यहाँ लेकर आ।'।

ब्रह्मचारी अन्दर गया और अपने जबड़े को चाकू से काटकर ले आया। उसे गुरुजी के सामने रखकर उनके चरणों में गिर गया। उसका शरीर छटपटाने लगा, रक्त की धारा बहने लगी और गुरुजी की कृपादृष्टि उसपर पड़ती रही। शिवाजी अवाक् होकर देखते रहे। कुछ समय पश्चात् उसका शरीर छूट गया। रामदासजी ने कहा, 'शिवा! जिसने इस शरीर को खलबट्टा बना दिया उसके ऊपर तू कौन-सा कानून चलाएगा रे?' कहने का तात्पर्य यह है कि भाव एक ऐसी स्थिति है, जहाँ कोई दिखावट नहीं है, वहाँ शास्त्र का कोई नियम

काम नहीं करता। इसलिए शबरी ने यदि रामजी को जूटे बेर खिलाए तो इस कोई आश्चर्य नहीं है। उसे किसी प्रकार का दोष लगने की कोई सम्भावना नहीं है।

जिज्ञासा :- कहते हैं भगवान् केवल भावग्राही हैं, क्या भाव में इतनी शक्ति है?

समाधान :- आजकल कुछ लोग वेदान्त को अपने मन से पढ़कर भावमय जगत् को मिथ्या समझते हैं। पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या होने पर यह इस मायिक जगत् से बहुत प्रबल है। यह मायिक जगत् झूठा है, पर भावमय जगत् में प्रतिष्ठित हुए बिना इसमें होनेवाले सत्यत्व ज्ञान को केवल बुद्धि के बल पर काट नहीं सकते हैं क्योंकि बुद्धि भी तो मायिक जगत् अन्तर्गत है। भाव के बिना जगत् में काम किसका चलता है! एक लड़का अपनी प्रेमिका को चाहे वह सुन्दर हो या असुन्दर, अपने भाव से सुन्दर बना लेता है। यह भी देखा जाता है कि दवा एक ही है पर जिस डॉक्टर के पास आपका भाव है उससे लेने पर वह काम कर जाती है, अन्यथा नहीं। आश्चर्य है कि ऐसे भाव को लोग मिथ्या या मनोराज्य समझते हैं।

जगत् में व्यक्ति भाव बनाकर ही रह पाता है। जगत् किसी का हो सकता, परन्तु व्यक्ति भाव से इसे अपना समझ लेता है और उसीसे समझ काम चल रहे हैं। यदि जो तुम्हारा सच्चा सम्बन्धी है, उसमें तुम्हारा भाव केन्द्रित हो जाए तो क्या नहीं हो सकता! जो तुम्हारी श्वास चला रहा है उसमें तुम्हारा भाव बैठ जाए तो जीवन में चमत्कार हो जाएगा। इसलिए पहले इसकी बात छोड़ो और भगवान् को भाव से ही पकड़ो - **भावग्राही जनार्दन**

जिज्ञासा :- यदि भगवान् भाव से ही मिलते हैं तो शरीरादि की शुद्धि की क्या आवश्यकता है?

समाधान :- भगवान् भाव से ही मिलते हैं, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। मैं शुद्ध हूँ, मेरा स्वरूप चैतन्य है, अशुद्धि मुझमें कभी नहीं आती, यदि ऐसी निष्ठा आपमें है तो शास्त्र भी आपको शुद्धि के लिए प्रेरित करेगा। परन्तु अन्य सबकुछ व्यवहार कर रहे हैं और जहाँ शुद्धता की बात आ

है वहाँ वेदान्त की चर्चा करते हैं तथा शरीर को नहलाते नहीं हैं तो उसमें दुर्गन्ध आएगी ही। शरीर, मन इत्यादि को यदि धारण करना है तो शुद्धि की आवश्यकता पड़ेगी ही।

महाराष्ट्र में कूर्मदास नाम के एक सन्त हुए हैं, उनके हाथ-पैर काम नहीं करते थे। वहाँ एक परम्परा है कि भक्त लोग दूर-दूर से कीर्तन करते हुए आषाढ़ी (आषाढ़ मास की एकादशी) मनाने के लिए पंढरपुर पहुँचते हैं। लोगों को जाते देखकर कूर्मदास ने भी सोचा, क्यों न मैं भी ऐसा करूँ। उन्होंने विचारा कि मैं लुढ़कते-लुढ़कते दिन में एक मील तो चल ही लूँगा। ऐसा निश्चय करके वे पहले दिन एक मील चले, उनका शरीर रक्त से लहू-लूहान हो गया। खाने को कुछ भी नहीं मिला।

इस प्रकार का भाव देखकर भगवान् पंढरीनाथ से रहा न गया। वे एक सेठ का रूप बनाकर जहाँ पर कूर्मदास थे, वहाँ शाम को पहुँचे और कहा, 'मैं किसी काम के लिए यहाँ पर आता ही रहता हूँ। उसी प्रकार आज भी आया हूँ और आपको देखकर आपके दर्शन करने मैं यहाँ पहुँचा।' ऐसा कहकर उन्होंने उनको भोजन दिया, घावों पर मलहम-पट्टी इत्यादि किए और सुला दिया। इस प्रकार प्रत्येक दिन यह क्रम चलता रहा। आषाढ़ी निकट आ गई। पंढरपुर चार मील दूर रह गया और कूर्मदास समय रहते हुए वहाँ नहीं पहुँच पाया। ऐसा देखकर भगवान् पंढरीनाथ ही मन्दिर से उसकी ओर चल दिए। जहाँ कूर्मदास था, वहाँ पहुँचे और उसको दर्शन दिए। यदि कूर्मदास जैसा किसी का मन है तो उसके लिए किसी कर्मकाण्ड या शुद्धि की आवश्यकता नहीं है। उसके अन्दर ऐसा भाव है जो भगवान् को ही खींच लेता है। हाँ, अन्य लोगों को तो शरीरादि की शुद्धि की आवश्यकता पड़ती ही है।

जिज्ञासा :-

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ (गीता - ६.१४)

यहाँ मच्चित्तः और मत्परः दोनों अलग-अलग क्यों कहा है?

समाधान :- इसी श्लोक के भाष्य में भाष्यकार भगवान् ने इन शब्दों पर विचार किया - भवति कश्चिद् रागी स्त्रीचित्तः न तु स्त्रियमेव परत्वे गृह्णाति। कोई व्यक्ति स्त्रीचित्त हो सकता है, परन्तु वह स्त्री को ही सर्वोपरि नहीं समझता। भगवान् की पूजा इत्यादि भी करता है। जगत् में राग के कारण वह भी हमारा चित्त बँध सकता है, पर वह हमारे लिए सर्वोपरि है ऐसा नहीं होता। फिर आगे कहा - किं तर्हि राजानं महादेवं वा, राजा को स्त्री से बढ़कर मानता है, महादेव को सबसे बढ़कर मानता है। इस प्रकार दोनों में अन्तर किया जगत् में कोई रागी (तच्चित्त) हो सकता है, पर तत्पर नहीं। लेकिन भगवान् का भक्त होता है, वह तो भगवच्चित्त और भगवत्पर दोनों होता है।

जिज्ञासा :-

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ (गीता - ६.४६)

इसके भाष्य में - योगिनां सर्वेषां रुद्रादित्यादिव्यायानपराणां मध्ये मद्गते मयि वासुदेवे समाहितेन अन्तरात्मना - इसका क्या तात्पर्य है?

समाधान :- एक ईश्वरतत्त्व मूल है। अन्य जितने नाम रुद्र, आदि इत्यादि सब उसकी मूर्तियाँ हैं। राजस, तामस और सात्त्विक श्रद्धा के अनुसार तत्तद् मूर्ति से उसी ईश्वर द्वारा ही साधक फल प्राप्त करता है। फल तो जैसे श्रद्धा है - सात्त्विक, राजस या तामस उसी प्रकार का ग्रहण करेगा, परन्तु ईश्वर से ही ग्रहण करेगा। ईश्वर ही उस साधक की श्रद्धा को वहाँ पर स्थिर कर देगा। वे सब योगी हो गए क्योंकि उन्होंने अपने चित्त का देवता के साथ तादात्म्य किया है। इसी बात को कहते हैं - योगिनामपि सर्वेषां ...। जिसकी ये मूर्तियाँ हैं, वह ईश्वर वासुदेव है। जैसे सभी देवता हिरण्यगर्भ के अंगभूत हैं। एक-एक तो अंगदेवता हो गए और ईश्वर उन सभी में व्याप्त हो गया। इसलिए कहा - युक्त तो दूसरे योगी भी हुए, पर यह तो युक्ततमः - अतिशयेन युक्त मतः अभिप्रेतः इति - क्योंकि शेष सभी तो एकांगयुक्त हैं। पर यह सर्वांगयुक्त है। इसलिए युक्ततमः कहा।

जिज्ञासा :- वेदान्त श्रवण करके ज्ञान को बुद्धिस्थ कर लेने पर भी ब्रह्मज्ञान के लिए उपासना की आवश्यकता क्यों होती है?

समाधान :- देखिए, जो हमारा वेदान्त का बुद्धिगत ज्ञान है यह माया के ही अन्तर्गत है। मात्र इस प्रकार के ज्ञान से काम नहीं होता क्योंकि हमारी बुद्धि में जगत् की सत्यता बहुत दृढ़ता से बैठी हुई है। पर शास्त्रीय दृष्टि (उपासना) जगत् की इस सत्यता को शिथिल कर देती है। यह जगत् मायिक है और उपासना इससे बलवान है। वह उपासना भावना की प्रबलता से इस जगत् को भगवद्रूप में दिखला देती है, 'सीय राममय सब जग जानी' (मानस, बाल.-७.१) जिस भाव शक्ति की आजकल लोग उपेक्षा कर देते हैं उसमें बहुत ताकत है। भावशक्ति का समर्थन लेकर ही इस मायिक जगत् में सत्यत्व प्रतीत होता है। प्रातिभासिक में जो सत्यत्व बुद्धि है यही व्यवहार है। वह सत्यत्व बुद्धि भाव से ही होती है और शास्त्रीय भाव (उपासना) से वह परिवर्तित हो जाती है। अतः ज्ञान के लिए पहले उपासना की अपेक्षा होती है।

दूसरी बात, बुद्धि के साथ एक सूक्ष्म अहंता रहती है जो बुद्धि को चालाक बना देती है, सरल नहीं होने देती। सरलता के बिना उसमें श्रद्धा का अभाव रहता है जो ज्ञान की स्वीकृति में बाधा बन जाता है। इसलिए वेदान्त ज्ञान बुद्धिस्थ होने पर भी अनुभव में पर्यवसित नहीं हो पाता। उपासना से यह अहंता ईश्वर को समर्पित हो जाती है जिससे बुद्धि में तत्त्वग्राहिता की शक्ति आ जाती है। अतः वेदान्तियों को उपासना की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

जिज्ञासा :- क्या वेदान्ताध्ययन उपासना में बाधक नहीं बनता है? उपासना में तो उपास्य-उपासक में भेद दृष्टि रहती है और वेदान्त भेद का निषेध करता है। दोनों में परस्पर विरोध जैसा लगता है। कृपया इसका समाधान कीजिए।

समाधान :- यदि साधक मुमुक्षु है, साधनचतुष्टय-सम्पन्न है, तो उसके लिए वेदान्ताध्ययन उपासना में बाधक नहीं बनता है क्योंकि उसकी उपासना का स्वरूप बदल जाता है। यदि वह मुमुक्षु है तो उपासना मोक्ष के लिए करेगा, इसलिए वह भेददर्शी नहीं होता है। वह उपासना से ईश्वरीय बल

प्राप्त करता है। जैसे सामान्य लोगों की अपेक्षा नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए उस गायत्री का अर्थ दूसरा ही हो जाता है। सामान्य लोगों के लिए व्याहृतियों का अर्थ लोकत्रय होता है, परन्तु नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए उनका अर्थ सच्चिदानन्द हो जाता है। भू सत्तायाम् धातु है इसलिए भूः का अर्थ हुआ - सत्। भुवः का अर्थ प्रकाश अर्थात् चित् है। स्वः सुख अर्थात् आनन्द का वाचक है। तीनों को मिलाकर हुआ - सच्चिदानन्द। परमात्मा का जो ज्ञानात्मक तेज (भर्गः) है वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिए वरणीय (वरेण्यम्) है। मायिक तेज उसके लिए वरणीय नहीं है, इसका वरण तो गृहस्थ करता है। इस प्रकार की उपासना का वेदान्त से कहाँ विरोध है? इसी प्रकार मुमुक्षु के लिए अहंग्रह-उपासना है जिसमें उपासक उपास्य के साथ अहं करके तादात्म्य करता है। इसमें भेददर्शन नहीं है। इसलिए ऐसी उपासनाओं का वेदान्ताध्ययन के साथ कोई विरोध नहीं है।

जिज्ञासा :-

‘परा भक्ति और ज्ञान में तनिकउँ नहि भेदा,
नारायण मुख्य प्रेम है कहें संत और वेदा।’

यहाँ भक्ति और ज्ञान में अभेद बताने का क्या तात्पर्य है?

समाधान :- पराभक्ति परमात्मा के प्रति मुख्य प्रेम है, प्रेम में अपना सीमित अहंता का परित्याग होता है। पराभक्ति भक्त को ज्ञान में प्रतिष्ठित कर देती है और बौद्धिक ज्ञान जब अनुभव में पर्यवसित हो जाता है, तब साधक में पराभक्ति स्वाभाविक ही उद्भूत हो जाती है। इसलिए वास्तव में परा भक्ति और ज्ञान में भेद नहीं है।

अपने महाराजजी (स्वामी अभयानन्दजी) कहा करते थे कि चाहे १ में ९९ को मिलाओ या ९९ में १ को मिलाओ, फल में कोई अन्तर नहीं आएगा। भक्त पहले ९९ को १०० मान लेता है। ईश्वर को सर्वरूप मानता है और अपने को अलग रखता है। इस प्रकार आराधना करते-करते जब मन के दोष समाप्त हो जाते हैं तो जिस सीमित अहंता से अपने को अलग कर रखा था उसका समर्पण ईश्वर में हो जाता है, तब १०० पूर्ण हो जाता है।

ज्ञानमार्गी पहले १ को स्वीकार करता है - अहं ब्रह्मास्मि, फिर जो कुछ भिन्न दिखाई देता है स्व में उसका हवन करता है। ९९ जो दिखाई देता है उसे १ में मिला देता है, आत्मसात् कर लेता है। फल वही १०० होता है। इसलिए ज्ञान और परा भक्ति में मार्ग का भेद होने पर भी फलरूप से कोई भेद नहीं है।

जिज्ञासा :- शास्त्र में आता है कि अहंग्रह-उपासक इसी शरीर में देवतात्मभाव को प्राप्त करके उस देवता सम्बन्धी भोग का अनुभव करता है, ऐसा कैसे सम्भव है?

समाधान :- देवतात्मभाव का अर्थ है देवता का सायुज्य, इसका लक्षण है-

व्यष्ट्युपाधिकृतपरिच्छेदनिर्मोकेन समष्ट्युपाध्युपहितत्वस्याधिगममिति (परम्परया)। अर्थात् व्यष्टि उपाधि को छोड़कर समष्टि उपाधि को प्राप्त कर लेना। जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णन है, अग्नि देवता ने ही वाक् होकर शरीर में प्रवेश किया। अतः वागिन्द्रिय का वास्तविक स्वरूप अग्नि है। वाक् को अग्निभाव में ले जाना ही देवतात्मभाव को प्राप्त करना है। वाक् जब अग्निभाव को प्राप्त करता है तो वह व्यष्टि के दोषों से विनिर्मुक्त हो जाता है। अग्नि हिरण्यगर्भ का अंगभूत है। हिरण्यगर्भ अर्थात् अपरब्रह्म, उसका स्वरूप परब्रह्म है।

देवतात्मभाव के माध्यम से स्वरूप में पहुँचाना, यह शास्त्र की एक पद्धति है। उपासक इसी शरीर में देवता की उपासना करके अन्त में देवता से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। मृत्यु के समय अहंरूप से देवता के स्वरूप को पकड़ लेता है। इस प्रकार तादात्म्य तो इसी शरीर में हो जाता है, परन्तु भोग तो ब्रह्मलोक में जाकर उत्पन्न होते हैं। वहाँ उसकी अहंता समष्टि उपाधि में रहती है।

जिज्ञासा :- अत्यधिक भावुक व्यक्ति को आत्मोन्नति के लिए क्या साधन अपनाना चाहिए?

समाधान :- यदि व्यक्ति बुद्धिप्रधान है तो उसे तत्त्वचिन्तन और

विचार करना चाहिए। यदि व्यक्ति भावप्रधान है तो उसे भावनात्मक भक्ति करने चाहिए। इष्ट के ध्यान, पूजन, स्तोत्रपाठ, लीलागान-श्रवण इत्यादि में लगे रहना चाहिए। ऐसा करने से इष्ट के साथ सम्बन्ध और प्रेम मजबूत होता रहेगा। 'क्वचिद् रोदिति, क्वचिद् गायति, क्वचिद् हसति' - भावुक व्यक्ति जब भक्ति में लगता है तो कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी गाने लगता है। ऐसे व्यक्ति को दो बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना होगा। पहले तो यह ठीक से निर्धारण करना पड़ेगा कि मेरी भक्ति का लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति ही है अन्यथा भक्ति करने पर भी भगवान् से जगत् ही माँगेगा क्योंकि उसका भाव अभी जगत् से जुड़ा है।

दूसरी बात यह है कि भावुक व्यक्ति के साथ जगत् में धोखा बहुत होता है। लोग उसका दुरुपयोग कर लेते हैं। अतः उसको जगत् के संग से हमेशा सावधान रहना चाहिए। इसके लिए उपाय यही है कि निरन्तर भगवान् के कार्य (पूजनादि) में लगा रहे, उनका आश्रय दृढ़ता से ग्रहण करे। ऐसा होने पर भगवान् रक्षा करेंगे तो जगत् के व्यवहार में खतरा नहीं रहेगा।

जिज्ञासा :- ऐसा सुना है कि कृष्णावतार राधा के निमित्त से हुआ था। क्या यह बात ठीक है?

समाधान :- ब्रह्मवैवर्तपुराण में गोलोक के वर्णन में मुख्य शक्ति राधा ही है और उसका ही वहाँ वर्चस्व है। वह अपने भाव में इस प्रकार रहती है कि कृष्ण को उसके आधीन रहना पड़ता है। कृष्ण को अपने भक्तों को प्रसन्न करने के लिए भी उसकी अनुमति लेनी पड़ती है, अन्यथा उसे क्रोध भी आ जाता है। एक बार कृष्ण अपनी एक भक्त गिरिजा के घर चले गये। राधा को पता लगने पर वह बहुत कुपित हुई, कृष्ण को बहुत कुछ कहा।

कृष्ण तो चुप रहे पर उनके मित्र सुदामा ने राधा को शाप देते हुए कहा कि तू मनुष्यलोक के समान यहाँ ईर्ष्या करती है, तुझे वहीं जन्म लेना पड़ेगा। क्रोध में राधा ने सुदामा को शाप देते हुए कहा कि तू भी पृथ्वीलोक में दक्षिण ब्राह्मण होकर रहेगा। पर बाद में वह बहुत दुःखी हो गई। राधा को दुःखी देखकर

भगवान् को उसे मनाना ही पड़ा और उन्होंने कहा कि हम भी तुम्हारे साथ चलेंगे। ये सब हमारी लीला है क्योंकि हमको भी पृथ्वीलोक में जाना है और तुम्हारे बिना वहाँ कार्य कैसे करेंगे! कृष्णावतार में इस प्रकार से राधा के निमित्त होने के साथ-साथ और भी बहुत-से कारण थे।

यहाँ ध्यान रखिये कि यह उस लोक की कथा है जहाँ का जड़ भी सर्वज्ञ है। वहाँ के फूल, बावड़ी आदि सभी सर्वज्ञ हैं। अतः ये क्रोध आदि की जो बात है, इसे समझना चाहिए कि भगवान् के संकल्प से ही ऐसा हुआ, राधा आदि में कोई कमी नहीं थी। राधा की जो महिमा बताई उसका तात्पर्य यह है कि सबका आधार तो मूल सत् तत्त्व ही है, परन्तु सृष्टि तथा अन्य कार्यों में शक्ति की प्रधानता है। इसलिए वेदान्तियों का ब्रह्म भी माया के बिना कुछ नहीं कर सकता है।

जिज्ञासा :- रामकृष्ण परमहंस कहते थे कि भगवन्नाम उच्चारण करने से रोमांच हो जाए और आँसू गिरें तो कर्मत्याग हो जाता है। इसका आध्यात्मिक रहस्य क्या है?

समाधान :- आपका नाम के प्रति इतना प्रकृष्ट भाव हो जाए कि नाम लेते ही आप तन्मय हो जाएँ तो शरीर का कर्तव्य समाप्त हो जाता है। तत्त्व में तन्मय हो जाओ चाहे नाम में, तो शरीर का कर्मत्याग हो ही जाएगा। शरीर के द्वारा होनेवाले कर्मों पर कर्तव्यता का नियन्त्रण तभी तक है जब तक बुद्धि अपना भान है, तब तक तुममें मनमानी करने की सम्भावना रहती है। ऐसे व्यक्ति के लिए शास्त्र कहता है अपनी मनमानी मत करो, हम जैसा कहते हैं वैसा करो और जब मन ही ऐसा हो जाए कि इष्ट-भाव में वह शरीर की सुध-बुध भूल जाए तो वहाँ क्या कर्तव्य रहेगा? उसका कर्तव्य समाप्त हो जाता है। कर्तव्यत्याग के बाद कर्मत्याग स्वाभाविक ही है। भाव में बहुत बड़ी शक्ति है।

जिज्ञासा :- आपके प्रवचन में सुना कि वेदान्त की बातों को बुद्धि से समझ लेने पर भी जब तक हृदय से स्वीकृति न हो तब तक ज्ञान नहीं होगा। परन्तु उपनिषदों में तो हृदयाकाश में ही बुद्धि की स्थिति कही गयी है। फिर बुद्धि

से समझना और हृदय से स्वीकृति इनमें क्या अन्तर होगा?

समाधान :- हृदयाकाश में प्राण की स्थिति है और जहाँ प्राण की स्थिति है वहीं बुद्धि की स्थिति है, ऐसा शास्त्र कहता है। इसलिए हम लोग भी वही मानते हैं। आज का विज्ञान बुद्धि का केन्द्र मस्तिष्क को मानता है तो वहाँ कोई अलग केन्द्र हो सकता है। परन्तु हृदयाकाशस्थ केन्द्र के बिना यह कार्य नहीं कर सकता, इसलिए बुद्धि का मूल हृदय में ही मालूम पड़ता है। इस विषय में अधिक तर्क करने की अपेक्षा व्यक्ति को अपने अनुभव से देखना चाहिए कि हमारे अन्दर एक हृदयपक्ष है और एक बुद्धिपक्ष। बुद्धि के साथ अहंकार रहता है इसलिए बुद्धि में चालाकी होती है।

उदाहरण से इसे समझ लीजिए, एक सामान्य अनपढ़ व्यक्ति है परन्तु वह धर्म को हृदय से स्वीकार करता है। दूसरा व्यक्ति बहुत पढ़ा-लिखा है, रोज धर्म पर व्याख्यान देता है, आपको चमत्कृत कर देता है, पर अन्दर से धर्म की स्वीकृति उसमें नहीं है। जिस व्यक्ति ने हृदय से धर्म को स्वीकार कर रखा है, वह यदि किसी का कर्जदार है तो मरते समय भी उससे कहेगा कि मैं इस जन्म में आपका कर्ज नहीं चुका पाया, यदि मेरा पुत्र नहीं चुकाएगा तो मैं दूसरा जन्म लेकर चुकाऊँगा। ऐसा कभी नहीं कहेगा कि हमने आपसे कर्ज लिया ही नहीं। परन्तु जिसके हृदय में धर्म की स्वीकृति नहीं वह तो कहेगा कि तुमने कर्ज दिया ही कहाँ? क्या प्रमाण है तुम्हारे पास?

वेद के जो सिद्धान्त हैं 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव'। (तैत्तिरीय. उप.-१.११.२) इन पर भाषण करनेवाले, पुस्तक लिखनेवाले आपको बहुत मिलेंगे, पर हिमालय में या नर्मदा किनारे जहाँ हजारों वर्षों से शिक्षा-दीक्षा नहीं है वहाँ हमने इन सिद्धान्तों को जीवन में उतरा हुआ देखा। हिमालय में देखा कि गरीब घर में खाने को एक ही रोटी है और भूखा बालक माँग रहा है, उसी समय किसी साधु ने भिक्षा माँग ली तो माता रोते हुए बालक को छोड़कर वह रोटी साधु के झोले में दे देगी।

इसी प्रकार नर्मदा-किनारे मण्डला जिले में आप किसी घर के सामने जाकर नर्मदे हर! कहेंगे, तो माता आकर कहेगी, 'महाराज! घर में कुछ नहीं।' उसकी आँखें डबडबाई होंगी। आप यदि कहेंगे, 'माता! कोई चिन्त

नहीं, हम दूसरी जगह से माँग लेंगे।' तो वह कहेगी, 'महाराज! हमारे घर से खाली हाथ कैसे जाओगे! एक डली नमक ही ले जाओ।' वह अन्दर से एक डली नमक और एक मिर्ची सूप में रखकर आपके पास ले आएगी। **अतिथिदेवो भव** - यह भावना उसके अन्दर पक्की बैठी हुई है। यह हृदयपक्ष की स्वीकृति है, इसे कोई काट नहीं सकता। स्वीकृति अलग है और बुद्धिगत वैभव अलग है। ज्ञान की स्वीकृति जब तक नहीं होती तब तक उसके अनुरूप जीवन नहीं बनता। स्वीकृति में जीवन है, बुद्धि में तो केवल वैभव है। यही दोनों में अन्तर है। बाकी अन्तःकरण तो सब एक ही है, उसको बुद्धि या हृदय कुछ भी कह लीजिए। पर व्यवहार में यह अन्तर हमें दिखाई देता है। जिस अनपढ़ के अन्दर अतिथिदेवो भव - यह पक्का बैठा है उसे हम अवैदिक कैसे मानें? जिनको न माता में देवता दीख रहा है, न पिता में और न ही अतिथि में देवता दीखता है ऐसे व्याख्यान देनेवालों को हम वैदिक कैसे मानें!

हमसे एक साधक ने कहा कि हमने वेदान्त पढ़ा है। यह तो हमें याद है कि विशेषण का क्या लक्षण है, उपलक्षण किसे कहते हैं, उपाधि किसे कहते हैं, पूरी पंक्तियाँ हमें सुना दीं। हमने देखा, शब्दावली ठीक है, समझने की बुद्धि भी ठीक है। पर बाद में उसने कहा कि हमको अभी ठीक से तत्-त्वं समझ में नहीं आया। इसलिए मैं कहता हूँ कि ज्ञान की स्वीकृति होनी चाहिए। बुद्धि से समझना और हृदय की स्वीकृति इन दोनों में यही अन्तर है।

जिज्ञासा :- ईशावास्योपनिषद् में सम्भूति और असम्भूति उपासना की जो चर्चा है उसका क्या तात्पर्य है? इनका समुच्चय कैसे होगा?

समाधान :- जगत् में हम देखते हैं दो प्रकार के सुख हमें प्राप्त होते हैं - एक ऐश्वर्यात्मक सुख और दूसरा निद्रा का सुख। यदि किसी को हम कहें, 'तुम जो चाहो वह खाने को देंगे, जैसा चाहो वैसा वस्त्र देंगे, जो भी सुविधा चाहोगे सब देंगे, परन्तु सोने नहीं देंगे क्योंकि सोने से तो तुम्हारे विषय छूट जाएँगे।' तब वह यही कहेगा आप सब विषय ले जाओ पर मुझे तो घण्टा भर सोने दो। इसका मतलब यह है कि विषय-सुख से भी ऊपर निद्रा का सुख है। असम्भूति से प्राप्त होनेवाला सुख मामूली नहीं है, उस समय भेद ज्ञान नहीं है फिर भी सुख मिलता है क्योंकि वहाँ कारण तत्त्व के साथ व्यक्ति की एकता

होती है। सम्भूति कार्य तत्त्व है और असम्भूति कारण तत्त्व।

इन दोनों सुखों की वासना हम सभी के अन्दर है। इसलिए उपासना का फल भी दो प्रकार का होता है - एक ऐश्वर्यात्मक सुखप्राप्ति जो स्वर्गप्राप्ति से लेकर हिरण्यगर्भप्राप्ति-पर्यन्त है। ऐश्वर्यप्राप्ति की अन्तिम सीमा हिरण्यगर्भप्राप्ति में ही होती है। इसी हिरण्यगर्भ उपासना को ईशावास्योपनिषद् में सम्भूति शब्द से कहा है। दूसरा सुख है - प्रकृतिलयप्राप्ति का। मायोपाधिक ईश्वर ही अव्याकृत (प्रकृति) है, उसमें लय प्राप्त उपासक को जो सुख मिलता है वह निद्रासुख के समान है। इस सुख की प्राप्ति जिस उपासना से होती है उसे असम्भूति शब्द से कहा। दोनों उपासनाओं की वहाँ जो अलग-अलग निन्दा की, उसका तात्पर्य निन्दा में नहीं है, अपितु दोनों के समुच्चय (सह अनुष्ठान) के विधान में है।

जैसे व्यवहार में व्यक्ति ऐश्वर्यसुख का भी अनुभव करता है और निद्रासुख का भी, इन दोनों का एक साथ अनुभव करने में कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार सम्भूति और असम्भूति दोनों उपासनाएँ साथ में हो सकती हैं। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वाऽसम्भूत्यामृतमश्नुते। (ईश. उप.-१४) सम्भूति के द्वारा अनैश्वर्यरूपी मृत्यु को तर जाता है और असम्भूति के द्वारा अव्याकृत में जाकर निर्विषय सुखरूपी अमृत का अनुभव प्राप्त कर सकता है। यहाँ हिरण्यगर्भ-उपासना कार्योपासना है और अव्याकृत-उपासना है - कारणोपासना। इन दोनों के समुच्चय का लाभ यही है कि उपासक कारण को समझकर कार्य की उपासना करता है, तो विशिष्ट फल प्राप्त करता है। यदि कार्यप्रधान होता है, तो हिरण्यगर्भपद को प्राप्त करता है और यदि कारणप्रधान होता है तो उस पद के सुख से उपराम होकर प्रकृतिलय को प्राप्त करता है। जैसा आनन्द जड़-समाधि में होता है वैसा आनन्द प्राप्त कर लेता है। पर जैसे सुषुप्ति में मुक्ति नहीं होती, इसी प्रकार वहाँ भी मुक्ति नहीं होती है।

जिज्ञासा :- कोई व्यक्ति साधु होकर बिल्कुल भजन न करे तो उसकी क्या गति होगी?

समाधान :- साधु यदि भजन ही नहीं करेगा तो उसका साधु बनने का

प्रयोजन ही सिद्ध न होगा। साधु बनकर भगवत्स्मरण नहीं करता तो जरूर कोई धोखा हो रहा है। लेकिन यहाँ एक बात ध्यान रखने की है कि साधु होकर कोई व्यक्ति भजन कर रहा है या नहीं, इसे दूसरा व्यक्ति नहीं जान सकता क्योंकि माला धुमाने मात्र का नाम भजन नहीं है। भजन कोई बाहर से दिखाने की चीज नहीं है, वह तो एक आन्तरिक भाव है।

अखण्डानन्दजी की किसी पुस्तक में आता है कि ऋषिकेशस्थ कैलास आश्रम के मण्डलेश्वर स्वामी चैतन्यगिरिजी जबलपुर में ठहरे थे। एक दिन सुबह टहलने के लिए नर्मदा किनारे गए तो देखा एक युवक साधु सोया हुआ था। करीब आठ बजे थे। उन्होंने कहा कि देखो, साधु होकर अभी तक सो रहा है। उसने जब आँख खोली तो उन्होंने उसे समझाया कि तुम युवा हो, यह समय भजन करने का है, प्रमाद से इसे व्यर्थ मत गँवाओ। तब उस साधु ने कहा, 'मेरे हाथ पर जरा कान लगाइये।' जब उन्होंने कान लगाया तो राम-राम की ध्वनि सुनाई दी। जब उसकी छाती-पैर आदि में भी कान लगाया तो वही ध्वनि सुनाई दी, तब उन्होंने कहा, 'बाबा! तुम्हें भजन करने की कोई जरूरत नहीं।' वह सोया था या अन्दर से भजन कर रहा था, कोई कैसे जान सकता है? भजन का सम्बन्ध हृदय से है, हृदय यदि परमात्मा में लगा है तो वही मुख्य भजन है।

एक बार हमने देखा, एक साधु रातभर माला फेरता है। कुछ दिन बाद किसी महात्मा ने बताया कि वह साधु तो बाएँ हाथ से माला फेरता है। हमने कहा उसके दाएँ हाथ में कुछ समस्या होगी तो महात्मा ने कहा, 'ऐसा नहीं है, वह किसी को मारने के निमित्त से माला फेर रहा है, इसलिए बाएँ हाथ से माला फेरता है।' देखो, हम तो सोच रहे थे कि वह रातभर भजन करता है, पर क्या यह कोई भजन है!

जिज्ञासा :- भगवदाराधना के लिए कौन-सा प्रतीक (माध्यम) अपनाना उत्तम है?

समाधान :- इसका निर्णय साधक की योग्यता पर निर्भर करता है। जो जिस कक्षा की योग्यता रखता है वही कक्षा उसके लिए श्रेष्ठ है। वहाँ से आगे बढ़

जाएगा तो स्वतः दूसरी कक्षा में प्रवेश पा लेगा। जैसे शास्त्र में कहा गया है -

अग्निर्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम्।

प्रतिमास्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र समदर्शिनाम्॥ (परम्परया)

‘अग्निर्देवो द्विजातीनाम्’ - पहले द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के विवाह के समय घर में अग्नि-स्थापन होता था। वे लोग अग्नि में ही देवताओं का पूजन किया करते थे। इन्द्र, विष्णु या अन्य किसी भी देवता के लिए आहुति प्रदान करनी होती थी, तो वे लोग अग्नि के माध्यम से ही करते थे। इस प्रकार अग्नि के माध्यम से देवताओं की उपासना की जाती थी। जब व्यक्ति धीरे-धीरे बाह्य कर्मों से उपराम हो जाता था, अन्तर्मुखता और ध्यान की योग्यता आ जाती थी, तो फिर वह देवता का ध्यान हृदय में ही करता था - ‘मुनीनां हृदि दैवतम्।’ हृदय में ही ऐसे व्यक्ति की देवोपासना होती थी।

अब तो घरों से अग्नि ही गायब हो गई, माचिस का युग आ गया है। किसी के घर में स्थापित अग्नि है ही नहीं तो फिर अग्नि में पूजन कैसे करेगा। आज व्यक्ति को अन्तर्मुखी होने के लिए न समय है और न ही उसमें योग्यता है। एक क्षण के लिए भी मन अन्तर्मुख नहीं होता है। फिर हृदय में ध्यान कैसे करेगा? भगवान् की आज्ञा है - मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव। (तैत्ति.उप.-१.११.२) पर आज व्यक्ति को माता भी दोष दिखाई देता है, तो पिता में भी और गुरु के विषय में सोचता है - अरे, मैं तो कुछ जरूर माँगेंगे और अतिथि को तो डाकू ही समझने लगा है।

भगवान् ने सोचा कि जीव का कल्याण करने के लिए तो हमें अवतार लेकर सब व्यवहार करके भी दिखा दिया, तब भी यह नहीं सुधरता, फिर इसके कल्याण का क्या उपाय है? कुछ विचार करके वे पत्थर की मूर्ति बनकर मन्दिर में बैठ गए। इससे क्या लाभ हुआ? जीव की समस्याओं का तो अन्त नहीं है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान् जब मन्दिर में बैठ गए, तो वह उनकी अपनी समस्या बताने मन्दिर में आता है। आजकल तीर्थों और मन्दिरों में लोगों की भीड़ बढ़ रही है, वह श्रद्धा से नहीं, बल्कि उनकी समस्याओं के कारण बढ़ रही है। भक्त मन्दिर में जाता है, भोग लगाता है, भगवान् तो खाली नहीं, प्रसाद उसी को मिलता है। उसकी श्रद्धा बढ़ जाती है, उसी से उसका

काम हो जाता है। व्यक्ति की बुद्धि तो इतनी हीन हो गई है कि माता-पिता, गुरु और अतिथि किसी को देवता नहीं मानता, इसलिए भगवान् को पाषाण-प्रतिमा बन जाना पड़ा - ‘प्रतिमास्वल्पबुद्धीनाम्’। कमजोर बुद्धिवालों के लिए तो प्रतिमा ही उपासना का माध्यम है।

अन्त में शास्त्र ने कहा - ‘सर्वत्र समदर्शिनाम्’, जिसे परमेश्वर-तत्त्व के सिवाय दूसरा कुछ कहीं दिखाई ही नहीं दे रहा है, उसकी तो भगवदाराधना हर जगह, हर काल में स्वतः ही होती रहती है। पर समदर्शी बनना इतना सहज नहीं है। इसलिए साधक को अपनी योग्यता के अनुसार ही आराधना के माध्यम का निर्णय करना चाहिए।

जिज्ञासा :- मैं एक गृहस्थी में रहनेवाली किसान महिला हूँ। सुबह से रात तक मेरा सारा समय घर और खेत के कामों में ही बीत जाता है। भगवान् के भजन के लिए समय ही नहीं मिलता। केवल सुबह और रात के समय भगवान् को थोड़ा नमस्कार कर लेती हूँ, मेरा कल्याण कैसे होगा?

समाधान :- देखो, सचाई और जीवन के लक्ष्य को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। कोई भी कर्म करते हुए तुम्हारी भावधारा किसे पकड़ती है, यह ध्यान में रखना चाहिए। यदि वह जगत् को पकड़ती है तो तुम्हारे कर्मों का विनियोग जगत् के लिए हो जाएगा। वह यदि भगवान् को पकड़ती है तो तुम्हारे कर्मों का विनियोग भगवद्भक्ति में हो जाएगा। भक्ति कोई क्रिया से नहीं होती है, भक्ति तो एक भाव है - भजनं भक्तिः। जगत् में तो प्रदर्शन की अपेक्षा है क्योंकि जगत् के लोग अल्पज्ञ हैं, वे तुम्हारे मन के भाव को नहीं जानते। इसलिए जो प्रदर्शन करना नहीं जानता, उसे कहते हैं - यह व्यावहारिक व्यक्ति नहीं है। परन्तु भगवान् तो सर्वज्ञ हैं, वे तुम्हारे मन को, तुम्हारे भावों को पूरी तरह जानते हैं। उनके सामने प्रदर्शन का कोई तात्पर्य नहीं है।

तुम्हारी भावधारा बस परमेश्वर से जुड़ी रहे तो जगत् की किसी भी परिस्थिति में परमेश्वर का स्मरण सतत होता रहेगा। प्रत्येक परिस्थिति में तुम्हें उसकी कृपा का ही अनुभव होगा। तुम अपने कर्म को ही भजन समझो और सेवा के समय भगवान् के नाम का स्मरण करती रहो। लोक में भी कोई स्त्री एक पति को पकड़कर सास-ससुर, ननद आदि सभी सम्बन्धियों के साथ व्यवहार कर सकती है तो एक परमेश्वर को पकड़कर जगत् में व्यवहार क्यों नहीं किया जा सकता? ईश्वर-सम्बन्ध बुद्धि में दृढ़ करके उसके सहारे खेती आदि का सारा व्यवहार किया जा सकता है।

सुबह उठकर परमेश्वर से प्रार्थना करो, 'हे भगवन्! मुझे दिनभर कर्तव्यपालन की शक्ति देना। कर्म करते समय आपका चिन्तन सदा ही बना रहे, विस्मरण न होने देना।' इस प्रकार प्रार्थना करके अपना दैनिक कार्य करो और रात्रि को सोते वक्त अपने सब कर्मों को उसके चरणों में अर्पित करके अपनी गलतियों के लिए उससे क्षमा माँग लो। इस प्रकार का आचरण करने से ऐसा कल्याण हो सकता है जो कोई व्यक्ति बड़ी तपस्या करके भी प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है, आप जहाँ पर हैं उसी परिस्थिति का ठीक उपयोग करके अपना कल्याण कर सकती हैं।

जिज्ञासा :- क्या माता-पिता की सेवा से भगवत्प्राप्ति हो सकती है?

समाधान :- अरे! शास्त्र कहता है - मातृदेवो भव, पितृदेवो भव (तैत्ति. उप.-१.११.२) माता देवता है, पिता देवता है - उन्हें देवता ही मानो। जब आप पत्थर की मूर्ति में ईश्वर की पूजा कर लेते हैं, तो माता-पिता में ईश्वर का पूजन क्यों नहीं होगा? उनकी सेवा से ईश्वर की सेवा का फल अवश्य मिलेगा, आपको उनके प्रति श्रद्धा होनी चाहिए।

महाराष्ट्र के पंढरपुर गाँव में पुण्डरीक नाम का एक ब्राह्मण था। उसके घर में माता-पिता और पत्नी थी, घर में पत्नी का वर्चस्व था। कई बार वह

माता-पिता का तिरस्कार कर देती, पर पुण्डरीक उसको कुछ बोल नहीं पाता था। एक बार पत्नी ने हठ किया कि काशी जाकर विश्वनाथजी के दर्शन करेंगे। उसकी बात मानकर पुण्डरीक ने एक बैलगाड़ी ली और पत्नी एवं माता-पिता सबको बिठाकर काशी की ओर चल पड़ा। चलते-चलते बैल बहुत थक गए। काशी से थोड़ा ही पहले एक बैल चलते-चलते गिरा और मर गया। अब उनपर बड़ा संकट आ गया। उसकी पत्नी तो अभिमानी थी ही, उसने कहा - इनको (माता-पिता) क्यों नहीं बेच देते! पुण्डरीक कुछ बोल नहीं पाया।

पिता बुद्धिमान् थे। उन्होंने माता को समझाया कि हम लोग ही गाड़ी खींचकर इन्हें काशी पहुँचा देते हैं। स्त्री के वश में हुआ पुण्डरीक भी माता-पिता को गाड़ी में जोतकर काशी की ओर चल दिया। काशी के पास पहुँचकर उसे कहीं से यह श्लोक सुनाई पड़ा - माता मे पार्वती देवी पिता देवो महेश्वरः। (अन्नपूर्णास्तोत्रम्) सुनते ही उसके मन में बड़ा भारी धक्का लगा। उसने सोचा, 'पण्डित लोग कह रहे हैं तुम्हारी माता ही देवी पार्वती है और पिता स्वयं महादेव हैं।' उसे भयंकर पश्चात्ताप हुआ कि मेरे घर में स्वयं पार्वती और महादेव विराजमान हैं, मैंने पत्नी के वश में होकर इनका घोर अपमान किया। अब इसका प्रायश्चित्त यही है कि जीवन भर इन दोनों की सेवा करता रहूँ।

वहाँ से वे लोग पंढरपुर पहुँचे और पुण्डरीक पूरी तरह से माता-पिता की सेवा में तन्मय हो गया। माता-पिता के सुख का चौबीस घण्टे ध्यान रखना, यही उसके जीवन का लक्ष्य हो गया। कई वर्ष उसके इसी प्रकार बीत गये, तब उसकी सेवा से प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु प्रकट हुए और उससे वरदान माँगने के लिए कहा, पर जिसको महादेव और पार्वती मिल गये हों, वह क्या माँगेगा? उस समय पुण्डरीक माता-पिता की सेवा में लगा था, उसने दो ईंटें एक तरफ फेंक दीं और कहा, 'भगवन्! जब तक मैं माता-पिता की सेवा कर रहा हूँ, तब तक आप यहीं खड़े रहिये।' भगवान् उस समय से वहीं खड़े हैं, इसलिए उनका नाम विट्ठल पड़ गया। पंढरपुर में विट्ठल भगवान् का मन्दिर है जिसका महाराष्ट्र में बड़ा भारी महत्व है। कहने का तात्पर्य यही है कि यदि ईश्वर-बुद्धि से माता-

पिता की सेवा कोई करले तो भगवान् को उसके पास आना ही पड़ेगा।

जिज्ञासा :- कई बार ऐसा सुनते हैं कि केवल माला फेरना, पूजा करना, इसका नाम ही भजन नहीं है, फिर वास्तविक भजन क्या है?

समाधान :- हर परिस्थिति में परमेश्वर का आधार रहे यही सबसे बड़ा भजन है। कई बार सब अनुकूल होता है तो तुम्हें मालूम होता है कि हमारा मन बिल्कुल ठीक है, ज्ञान भी ठीक है, भजन भी ठीक चल रहा है। परन्तु परिस्थिति एकदम प्रतिकूल हो जाए तो ये सब नहीं टिकते। जो सुख-निमित्तक भजन है वह वास्तविक भजन नहीं है और दुःख-निमित्तक भजन में परमेश्वर को ही पकड़ता है क्योंकि वहाँ अन्य कोई आधार ही नहीं रहता। जैसे गोस्वामीजी कहते हैं -

सुख हरषहिं जड़ दुःख बिलखाहीं।

दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥ (मानस, अयोध्या. - १४९.४)

जो जड़ अर्थात् शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त का और जगत् का आश्रय लेते हैं, वे मूर्ख हैं। उनको सुख मिले तो प्रसन्न हो जाते हैं, दुःख आ तो रोने लग जाते हैं। परन्तु जो बुद्धिमान पुरुष चेतन का आश्रय लेता है, वह सुख-दुःख दोनों में सम रहता है। यह जो साधक में समत्व है, ईश्वर आश्रय से ही होता है। इसीलिए ही तो भक्त और ज्ञानी दोनों में सम रहते हैं। इसी का नाम मुख्य भजन है। हमारे चित्त की अनुकूलता का नाम भजन नहीं है जो अनुकूलता, प्रतिकूलता दोनों में सम रहता है उसी का नाम भजन है।

जिज्ञासा :- अव्यक्त परमात्मा को व्यक्त कैसे किया जाए?

समाधान :- यदि कोई वस्तु हो और वह हमारे सामने न हो अर्थात्

उसे हम न जानें तो वह हमारे लिए अव्यक्त है। माचिस की तीली में अग्नि अव्यक्त रहती है, उसे आप व्यक्त कैसे करते हैं? उसके लिए घर्षण करना पड़ता है और यज्ञ में अरणि-मन्थन के समय घर्षण से ही अग्नि प्रकट की जाती है। इसी प्रकार एक घर्षण ऐसा है जिससे अव्यक्त परमात्मा प्रकट हो जाता है। वह है प्रेमपूर्वक भजन और ध्यान, उसी से वह परमात्मा व्यक्त हो जाता है।

जिज्ञासा :- ईश्वर तो सर्वज्ञ है, लेकिन अन्य देवताओं के भक्त ध्यान-पूजन करते हैं तो उनकी भक्ति के विषय में उन देवताओं को पता कैसे लगेगा?

समाधान :- जो व्यष्टि में वाक् है, वही (समष्टि) में अग्निदेवता है। व्यष्टि में जो चक्षु है, वही समष्टि में सूर्य है और वही चक्षु का अनुग्राहक देवता हो जाता है। सम्पूर्ण देवता हिरण्यगर्भ के अंगभूत हैं। हाँ, अन्तर इतना है कि वाक् की शक्ति और अग्नि की शक्ति में भेद है। देवता बनेगा तो बल भी बढ़ जाएगा। अपने क्षेत्र की सर्वज्ञता बढ़ जाती है। इसलिए उनका पूजन यदि कोई भक्त करता है तो उनको पता लग ही जाता है। इसलिए जो-जो देवता हैं वे अपने भक्त को जानते ही हैं, इसमें किसी को संशय नहीं होना चाहिए।

देवता भी दो प्रकार के होते हैं - एक तो वे जो कल्प पर्यन्त देवलोक में रहकर मुक्त होते हैं (आजानजदेव), उनमें ऋतम्भरा-प्रज्ञा रहती है। जैसे, हिरण्यगर्भादि में। दूसरे जो कर्मानुसार देवत्व प्राप्त करते हैं (कर्मदेव), उनमें ऋतम्भरा-प्रज्ञा होना आवश्यक नहीं है।

जिज्ञासा :- किसी भी वस्तु का ज्ञान तो प्रमाण से होता है, फिर ब्रह्मज्ञान के लिए वैराग्य की अपेक्षा क्यों है?

समाधान :- यह बात ठीक है कि वस्तु का ज्ञान प्रमाण से ही होता है। पर यदि प्रमाण में ही दोष है तो वस्तु का ठीक से ज्ञान नहीं होता। अतः साधना में हमारा समस्त प्रयास बुद्धि में स्थित प्रतिबन्धकरूप संस्कारों को नष्ट करने में ही होता है। जब बुद्धि किसी प्रकार के दोष से रहित होकर शुद्ध हो जाएगी, तब प्रमाण शुद्ध हो जाएगा। शुद्ध प्रमाण में वस्तु स्वतः प्रकाशित होगी। इसीलिए सारे साधन प्रमाण को शुद्ध करने के लिए हैं। यदि आपमें राग है तब आपका बुद्धि-प्रमाण शुद्ध कैसे हो सकता है!

जैसे, किसी न्यायाधीश के सामने कटघरे में खड़ा अपराधी उसका सम्बन्धी है, वह उसको बचाना चाहता है, तब वह सारा कानूनी ज्ञान उसको बचाने में लगाएगा क्योंकि ममत्व से उसकी बुद्धि कलुषित हो जाती है, ऐसी स्थिति में वह न्याय नहीं कर सकेगा। इसी प्रकार आपके पुत्र का किसी दूसरे के लड़के से झगड़ा हो जाता है, तो आप ममत्व के कारण अपने पुत्र का ही पक्ष लेते हैं। निष्कर्षरूप में ऐसा समझना चाहिए कि यदि बुद्धि में जगत् के प्रति ममत्व का संस्कार है, तो वह संस्कार बुद्धि की योग्यता को कुण्ठित कर देता है। अतः कुण्ठित बुद्धि के प्रतिबन्ध को हटाने के लिए हमें कर्म से लेकर उपासना तक सारे साधन करने पड़ते हैं, जिससे जगत् का लगाव समाप्त हो जाए। **अहं ममेति संसारः** - शरीर में जो अहंता केन्द्रित है एवं इसके द्वारा इसके सम्बन्धी वस्तुओं और व्यक्तिओं में जो ममत्व केन्द्रित है यही तो संसार है, इसी को हटाना पड़ेगा। इसलिए ब्रह्मज्ञान के लिए वैराग्य की अत्यन्त आवश्यकता है।

जिज्ञासा :- ज्ञानीजन समाधि दशा में वृत्तिरहित स्थिति में रहते हैं तब अद्वैत स्थिति है यह तो ठीक है, परन्तु जो पुरुष लोक-व्यवहार करते हुए 'मैं ब्रह्म

हूँ' ऐसा कहता है, उसकी इस बात में कितना सामञ्जस्य है?

समाधान :- तत्त्वमसि यह शब्द बोलने मात्र से आपका काम नहीं हो सकता। जब तक आपके अन्दर तत् पदार्थ और त्वम् पदार्थ का शोधित अर्थ गृहीत नहीं होगा, तब तक तत्त्वमसि का फल उदय नहीं होगा। ऐसे ही साधक के शिवोऽहम् बोलने पर भी उसके अन्दर शिव शब्द और अहम् शब्द का क्या अर्थ बैठा है, इस पर ही उसका फल निर्भर करता है। शिवोऽहम् बोलने मात्र से काम नहीं चलता। यदि इन दोनों शब्दों का शोधन साधक ने कर लिया है, तो उसका बोलना भी सार्थक है और न बोलना भी। अभ्यास के लिए बोल भी सकता है। पर यदि शोधित अर्थ अन्दर नहीं बैठा है तो मात्र शिवोऽहम् शब्द कल्याण करनेवाला नहीं है।

जिज्ञासा :- शरीर से अहंता हटाने के लिए विचार के अतिरिक्त कोई अन्य भी साधन है क्या?

समाधान :- जो वस्तु अविचार से सिद्ध है, वह तो विचार से ही हट सकती है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

जिज्ञासा :- जिसने पद-पदार्थ को ठीक से समझ लिया है, ऐसे साधक को गुरु के द्वारा तत्त्वज्ञान का उपदेश सुनकर तुरन्त अपरोक्ष साक्षात्कार क्यों नहीं हो जाता?

समाधान :- हाँ, जिसको पद-पदार्थ का ठीक ज्ञान है उसको तो अपरोक्ष ज्ञान हो ही जाना चाहिए। परन्तु यदि बुद्धि श्रद्धा-समर्पित नहीं है, तो वह हमेशा काटने में ही लगी रहेगी। वह तत्त्व को समझने में नहीं लगेगी। ऐसी बुद्धिवाले को ज्ञान होना कठिन है। इसको ही शास्त्रों में अपराध-वासना कहा गया है।

जिज्ञासा :- सम्पूर्ण जगत् अपने स्वरूप के अन्दर दिखाई देता है, ऐसा शास्त्र कहता है। यदि हमारा स्वरूप नित्यमुक्तस्वभाव है तो जगत् इसके अन्दर कैसे हो सकता है?

समाधान :- दर्पण में मुख दीखता है, पर वस्तुतः उसमें कोई मुख नहीं है। दर्पण नित्यमुक्त है, किसी भी मुख का कोई प्रभाव दर्पण पर नहीं पड़ता है। दर्पण में कभी भी किसी मुख का प्रवेश नहीं हुआ, पर लोग उसमें अपने को सुन्दर-असुन्दर देखकर सुखी-दुःखी होते हैं। इसी प्रकार यह जगत् दिखाई दे रहा है पर जिस समय दिखाई दे रहा है उस समय भी स्वरूप नित्यमुक्तशुद्धस्वभाव ही है क्योंकि जगत् के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

जिज्ञासा :- यदि जगत् रूपी प्रतिबिम्ब आत्मदर्पण (स्वरूप) में दिखाई देता है तो इसे अन्दर दिखाई देना चाहिए, यह बाहर क्यों दिखाई दे रहा है?

समाधान :- जिस प्रकार स्वप्न का जगत् रहता तो अन्दर है, पर निद्रादोष से बाहर दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार जाग्रत् जगत् है तो आत्मदर्पण के अन्दर, पर मायादोष से बाहर दिखाई देता है।

जिज्ञासा :- यदि इस जगत् को प्रतिबिम्ब मानते हैं तो इसका बिम्ब कहाँ है?

समाधान :- आप बताओ कि बिम्ब प्रतिबिम्ब का उपादान कारण है या निमित्त कारण। उपादान कारण तो हो नहीं सकता और निमित्त कारण अनेक भी हो सकते हैं। जड़दर्पण में यदि प्रतिबिम्ब दीखता है तो उसको बिम्ब की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु चिद्दर्पण को बिम्ब की आवश्यकता नहीं होती। जैसे, किसी व्यक्ति का शरीर छूट गया और उसको जला दिया गया। अब वह शरीररूपी बिम्ब नहीं रहा, पर आपके मन में कभी वह शरीर दिखाई देता है तो बिना बिम्ब के कैसे दिखाई दिया? अतः चिद्दर्पण में बिना बिम्ब के प्रतिबिम्ब मायिकरूप से दिखाई देता है।

जिज्ञासा :- गोस्वामीजी कहते हैं -

ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतनधन आनंद रासी॥

अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥

(मानस, बाल. - २२.३-४)

एक सच्चिदानन्द परमात्मा सबके हृदय में बैठा हुआ है, तो सभी प्राणी आनन्दमग्न रहने चाहिए। फिर जगत् में समस्त प्राणी दुःखी क्यों हैं?

समाधान :- जैसे किसी के घर में पारस पत्थर है और वह अज्ञान से उसको सामान्य पत्थर समझकर उससे चटनी पीसते हुए जीवन गुजार देता है। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी के हृदय में आनन्दराशि परमेश्वर विद्यमान है, पर यदि उसका ज्ञान नहीं है तो जीव कैसे सुखी होगा? अतः दोनों बातों का कोई विरोध नहीं है।

जिज्ञासा :- आत्मज्ञान कैसे हो सकता है?

समाधान :- साधक को पहले अपने को साधन-चतुष्टय-सम्पन्न बनाना पड़ेगा। एषणात्रय का परित्याग करना पड़ेगा। जगत् की ठीक-ठीक परीक्षा जब हो जाएगी, तब वैराग्य उत्पन्न होगा, इसके बाद साधक गुरु के पास जाए

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

(मुण्डक उप. - १.२.१२)

गुरु से वेदान्त-श्रवण करके उसका मनन और निदिध्यासन करे, तभी ज्ञानोद्भव हो सकता है। पहले परोक्ष ज्ञान होगा, फिर दीर्घकाल तक निदिध्यासन करते-करते वह अपरोक्ष ज्ञान में फलीभूत हो जाएगा। पर यदि वैराग्य नहीं है तो परोक्ष ज्ञान का पर्यवसान अपरोक्ष में नहीं होगा क्योंकि वैराग्यरहित व्यक्ति ज्ञान को ही बेचने लगता है। इसलिए तत्त्वज्ञान के लिए साधन-चतुष्टय-सम्पन्न होना अत्यन्त आवश्यक है।

जिज्ञासा :- वेदान्त शास्त्र में जगह-जगह आता है कि अपरोक्ष ज्ञान से ही मुक्ति होती है। यह अपरोक्ष ज्ञान क्या है?

समाधान :- जगत् के जितने भी ज्ञान हैं चाहे प्रत्यक्ष हों या अनुमान, उनके लिए करण की अपेक्षा होती है, परन्तु अपरोक्ष ज्ञान में किसी करण की आवश्यकता नहीं है। अपरोक्ष ज्ञान केवल आत्मा का ही होता है। इसके लिए बुद्धि की भी अपेक्षा नहीं है। बुद्धि की भूमिका केवल वृत्तिव्याप्ति तक ही है। ब्रह्माकार-वृत्ति से अज्ञान की निवृत्ति होती है। जैसे प्रकाश से अन्धकार की निवृत्ति होती है, उसी प्रकार वृत्ति से आवरण-भंग मात्र होता है, आत्मा का प्रकाशन नहीं होता। आत्मा स्वयंप्रकाश है, वह तो किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता। इस प्रकार मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि सम्पूर्ण करणों से निरपेक्ष होकर जो ज्ञान होता है, वही अपरोक्ष ज्ञान है।

आत्मा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है, शास्त्र से होनेवाला इस प्रकार का ज्ञान परोक्ष ज्ञान है और 'मैं' शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव हूँ - यह अनुभूति अपरोक्ष ज्ञान है। अपरोक्ष ज्ञान एक बार होने पर किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं होता क्योंकि सभी प्रमाण इदम्-विषयक हैं।

जिज्ञासा :- ज्ञान की कितनी भूमिकाएँ हैं और वे कौन-कौन-सी हैं?

समाधान :- ज्ञान की कोई भूमिकाएँ नहीं होतीं। भूमिकाएँ तो चित्त की होती हैं और वे सात प्रकार की हैं। शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी और तुरीया।

जिज्ञासा :- सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी। (विनयपत्रिका-१६७) सारे विश्व को कैसे खाया जाएगा और निद्रा त्यागकर कैसे सोएगा?

समाधान :- खाना सरल भी है और कठिन भी। जब तक एक शरीर

त्यागकर कैसे सोएगा?

समाधान :- खाना सरल भी है और कठिन भी। जब तक एक शरीर में अहंता है तब तक सकल दृश्य... इस बात को समझना कठिन है। आधा सेर भोजन पेट में नहीं डाल सकता तो सम्पूर्ण विश्व को कैसे डालेगा? पर सुरेश्वराचार्य भगवान् कहते हैं -

भुक्तं यथान्नं कुक्षिस्थं स्वात्मत्वेनैव पश्यति।

पूर्णाहन्ताकवलितं विश्वं योगीश्वरस्तथा॥

(मानसोल्लास-१. १५)

आपके सामने थाली में रखा हुआ जो भोजन है, वह बाहर दीख रहा है। अब आपने उसको खा लिया। पहले वह आपकी अहंता के बाहर था, अब अन्दर हो गया। हमारी अहंता केवल इस शरीर से सम्बन्धित है, इस अहंता से थाली में रखा भोजन बाहर दीखता था, अब खा लिया तो अहंता के अन्दर हो गया। अहंता शरीर में करके रखी है तो बाकी सब बाहर हो गया। यह अहंता जो शरीर के साथ कर रखी है, वह नित्य तो नहीं है। स्वप्न में यह शरीर तो पड़ा रहता है और एक कल्पित शरीर में आपकी अहंता जुड़ जाती है। इसलिए वहाँ आपका बनाया हुआ जगत् अन्दर होने पर भी बाहर हो जाता है।

विचार करके देखिए, आपका अहं यदि एक शरीर को छोड़ दे तो वह व्यापक हो जाएगा। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर को छोड़कर मैं का विचार करेंगे तो पता लगेगा कि आपका मैं परिच्छिन्न नहीं हो सकता। अपनी अहंता को आकाश के साथ एकीभूत करके देखिए तो सम्पूर्ण विश्व आपके अन्दर हो जाएगा। अहं शब्द बहुत व्यापक है। 'अ' और 'ह' के बीच में सभी वर्ण आ गए, उन्हीं वर्णों से सभी शब्द बनते हैं। वही शब्द सम्पूर्ण विश्व हैं क्योंकि शब्द और अर्थ का अभेद है। आपका अहं कोई मामूली वस्तु नहीं है। यदि आपकी पूर्ण अहंता हो गई तो सम्पूर्ण विश्व आपके अन्दर हो जाएगा अर्थात् आपके अहं के अन्दर हो जाएगा क्योंकि पूर्ण अहंता ईश्वररूप है।

एक सूर्य का दस हजार जल से भरे हुए घड़ों में प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। अब यहाँ दस हजार सूर्य दिखाई दे रहे हैं। जलानुसार कोई लाल दिखाई

दे रहा है, कोई पीला। वस्तुतः सूर्य किसी घड़े का नहीं है, परन्तु दस हजार सूर्यों का व्यवहार हो रहा है। घड़ा हिल रहा है तो सूर्य भी हिल रहा है। गलती कहाँ हो रही है? प्रत्येक सूर्य यह समझ रहा है कि मैं इस घड़े का हूँ। वह अपने मूल स्वरूप को नहीं जान रहा है। यदि वह जान ले कि मेरा मूल स्वरूप आकाश में है तो वे दस हजार घड़े के सूर्य उस सूर्य के अन्दर हो जाएँगे।

इसी प्रकार अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त से मैं को छोड़ने के लिए तीव्र मुमुक्षा होनी चाहिए। सूर्य जिस घड़ेवाला दीख रहा है उस घड़े एवं उसमें भरे जल से सूर्य का मोह नहीं टूटता है। यह स्थूल शरीर ही घड़ा है, मन-प्रधान सूक्ष्म-शरीर ही जल है, उसमें व्यापक ईश्वररूप प्रतिफलित हो रहा है (प्रतिफलन ही सूर्यरूप है)। यही व्यापक तत्त्व मैं का अर्थ है। व्यापक के आधार बिना कुछ बनता भी नहीं है। व्यापक तत्त्व, प्रतिफलन और अन्तःकरण मिलकर जीव-संज्ञा हुई है-

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः।

चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्सङ्घो जीव उच्यते॥

(पञ्चदशी-४.११)

मैं में तीन अंश आ गए। जिसमें प्रतिफलन हुआ है, उस अन्तःकरण के साथ जो अहंता है उसको तोड़ना है। उसको तोड़ा कि प्रतिफलन उधर (व्यापक की ओर) घूम जाएगा। प्रतिफलन की बहिर्मुखता टूट जाएगी, तब यह अनुभूति होगी कि सभी शरीरों में मैं ही प्रतिफलित हो रहा हूँ। यही पूर्ण अहंता है। यही ईश्वररूपता है, इसलिए भगवान् ने गीता में कहा - क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत (१३.२)। इसी को ही सुरेश्वराचार्यजी कहते हैं - पूर्णाहंताकवलितं ...और इसी का अर्थ हुआ - सकल दृश्य निज उदर मेलि ... ।

देखिए, आप घोर अन्धकार में शान्त बैठे हैं और सभी इन्द्रियाँ शान्त हैं। मन में एक संकल्प हुआ, वह आपमें ही हुआ। परन्तु चैतन्य की महिमा यह है कि संकल्प उद्भूत होते ही आपने उसे जान लिया। अब एक जाननेवाला हो गया और एक जो जाना जा रहा है वह हो गया। देखिए, अवकाश भी मिल गया। अवकाश कहीं से आता नहीं है। आप अपनी अहंता को जहाँ से खींच लेंगे वहीं

इदम् हो जाएगा। चैतन्य में अवकाश की कमी कहाँ है!

सृष्टि के आदि में एकोऽहं ... इस स्थिति में सारा दृश्य अन्दर है। फिर बहुस्याम प्रजायेय। (छा. उप.-६.२.३) यह संकल्प होते ही बाहर दीखने लगा। यही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग हो गया। अब यदि समेटना है तो वहीं एकोऽहं में जाओ, इसी को तुलसीदासजी कहते हैं - सकल दृश्य निज उदर मेलि ...।

दूसरी शंका यह होती है कि निद्रा में भी जगत् अन्दर होता है, फिर योगी की दशा और सुषुप्ति-दशा में क्या अन्तर है? तब कहा - सोवै निद्रा तजि जोगी। फिर कहाँ सोता है? स्वरूपे शेते। सुषुप्ति में भी व्यक्ति ईश्वरभाव में जाता है - सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति (छा. उप.-६.८.१), परन्तु सुषुप्ति अज्ञान दशा है। वहाँ पर अज्ञानोपाधि (अव्याकृतोपाधि) ईश्वर है। योगी तो निद्रा (सुषुप्ति) को भी त्यागकर अपने स्वरूप में सो जाता है। यहाँ सोने का अर्थ इससे भिन्न नहीं है। निद्रा में भी सुख का अनुभव तो होता है पर वह प्रतिफलित सुख है, आनन्दमय कोश का सुख है और स्वरूप का सुख तो परमसुख है। दोनों में अन्तर इतना ही है।

जिज्ञासा :- सर्वज्ञता किसको कहते हैं?

समाधान :- सर्वज्ञता दो प्रकार की होती है, जैसे, स्वर्ण से हजारों भूषण बने हुए हैं। उन प्रत्येक के नाम और रूप को अलग-अलग जानना, यह एक प्रकार की सर्वज्ञता है और केवल यह जानना कि यह स्वर्ण ही है, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यह दूसरे प्रकार की सर्वज्ञता है। यही मुख्य सर्वज्ञता है। वाचारम्भरणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। (छा. उप.-६.१.४) सभी घड़ों में एक मिट्टी ही है। आकार और नाम वाचारम्भण (वागावलम्बन) मात्र है और कोई वास्तविक उत्पत्ति नहीं है। इस मृत्तिकारूप से सबको जानना ही मुख्य सर्वज्ञता है। ईश्वर में यही सर्वज्ञता है। एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की सर्वज्ञता का अर्थ यह नहीं है कि सबकुछ जाने या सबके मन की बात जाने। यह तो अलग सिद्धि है। इसका यहाँ कोई तात्पर्य नहीं है। यहाँ तो मुख्य

सर्वज्ञता में ही तात्पर्य है।

जिज्ञासा :- तीन अवस्थाएँ (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) तो प्रसिद्ध हैं। चौथी अवस्था कौन-सी है?

समाधान :- ये तीन अवस्थाएँ जिसमें भासित हो रही हैं, वही चौथी अवस्था है। जब आप जाग्रत अवस्था में रहते हैं, उस समय आपका नाम विश्व हो जाता है। जब आप स्वप्न अवस्था में रहते हैं, उस समय आपका नाम तैजस हो जाता है और जब सुषुप्ति में रहते हैं, उस समय आपका नाम प्राज्ञ हो जाता है। ये तीनों अवस्थाएँ नैमित्तिक हैं जैसे किसी व्यक्ति का भोजन बनाने से पाचक नाम हो जाता है और पाठ करने से पाठक। ये दोनों नाम नैमित्तिक हैं, निमित्त न रहने पर नाम भी नहीं रहेंगे। इसी प्रकार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति - ये अवस्थाएँ आपमें भासित हो रही हैं। जब इन तीनों अवस्थाओं से अलग होंगे तब आप ही शेष रहेंगे।

आपका स्वरूप ईश्वर हो जाएगा, व्यापक हो जाएगा। यही तुरीय नामवाली चौथी अवस्था है। तीन की अपेक्षा से इसे चतुर्थ कहा है, पर यह उन तीनों के समान कोई अवस्था नहीं है। माण्डूक्योपनिषद् में पद्यते अनेन इति पादः, पद्यते इति पादः, तीन को साधन पाद माना है और चतुर्थ को साध्य। ये तीनों चतुर्थ में कल्पित हैं, इसी में पहुँचना है।

जिज्ञासा :- श्री गुरु पद नख मनि गन ज्योति। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती॥ (मानस, बाल. - गुरुवन्दना)

यहाँ पर कहा है कि गुरु के पद-नख से निकलनेवाली ज्योति के स्मरण करने से साधक के हृदय में दिव्य दृष्टि उत्पन्न हो जाती है। यहाँ नख-ज्योति और दिव्य दृष्टि का क्या तात्पर्य है?

समाधान :- एक जगह तुलसीदासजी ने कहा है -

व्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतनघन आनंद रासी॥

अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥

(मानस, बाल. - २२.३-४)

एक सत् चेतनघन व्यापक परमात्मा सब जीवों के हृदय में है, ऐसे अविकारी परमात्मा के हृदय में रहते हुए भी जीव दुःखी है। इससे सिद्ध होता है कि कोई वस्तु आपके पास होने मात्र से आप सुखी नहीं हो सकते जब तक आपको उसका ज्ञान नहीं है। ब्रह्म यदि अज्ञान का नाश करे तो सबका अज्ञान नष्ट हो जाना चाहिए। आत्मा अज्ञान को नष्ट नहीं करता। आत्मज्ञान ही अज्ञान को नष्ट करता है।

यहाँ शंका हो सकती है यदि जीव स्वयं ही ब्रह्म है तो फिर जानता क्यों नहीं? इसका समाधान यह है कि जैसे दूसरे का मुख देखना हो तो नेत्र मात्र से ही काम चल जाता है, पर यदि अपना मुख देखना हो तो नेत्र और दर्पण दोनों की आवश्यकता होती है। ब्रह्म तो अपना स्वरूप है, इसलिए उसको देखने के लिए दर्पण और नेत्र दोनों होने चाहिए। नेत्र तो जीव के पास है, पर इस मायिक नेत्र से माया का पदार्थ ही दिखाई देता है। जैसे स्वप्न के नेत्र से स्वप्न का पदार्थ ही दिखाई देता है। परमेश्वर को देखने के लिए मनुष्य के पास नेत्र तो है परन्तु वह बन्द है। दर्पण भी इसके पास है पर उस पर कोई जमी हुई है। **काई बिषय मुकुर मन लागी ...। (मानस, बाल. - ११४.१)** विषयों का सेवन करते-करते मनरूपी दर्पण पर कोई जम गई। फिर कहा -

मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥

(मानस, बाल. - ११४.२)

अब यह नेत्रहीन और मलिन हृदयरूपी दर्पणवाला दीन हुआ अपना स्वरूप कैसे देखे?

यह विचार करना है कि नेत्र खोलने और काई हटाने का उपाय क्या है? तब कहा - **श्री गुरु पद नख मनि गन ज्योति ... , नाम निरूपन नाम जतन तैं...। (मानस, बाल. - २२.४)** मन्त्रजप और सत्संग ये ही काई मिटाने के उपाय हैं। गुरुपद अर्थात् गुरु के द्वारा प्रदत्त शब्द, उसमें एक ज्योति है। उस शब्द को जब शिष्य हृदय में धारण करता है तो उसकी दृष्टि ही बदल जाती है। गुरु कहता है - बेटा, यह शरीर नाशवान है। तुम्हारा कौन है, इसका विचार करो। जो श्वास चलानेवाला है, नेत्र बनानेवाला है, वह कौन है? तब उसकी दृष्टि ही बदल जाती है। गुरु की कृपा जिसने प्राप्त कर ली है, उसकी

जगत् को देखने की दृष्टि ही अलग हो जाती है। यही दिव्य दृष्टि है। इस दिव्यदृष्टि से परमेश्वर-दर्शन होता है।

जिज्ञासा :- ऋते ज्ञानात् मुक्तिः (परम्परया) और काश्या मरणाद् मुक्तिः (परम्परया)- इन दोनों वाक्यों का सामंजस्य कैसे बनेगा?

समाधान :- ये दोनों वाक्य अपनी-अपनी जगह पर उचित ही हैं।
ऋते ज्ञानात् मुक्तिः :- ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है। यह सामान्य नियम है। **काश्या मरणाद् मुक्तिः :-** काशी में मरने से मुक्ति होती है। वहाँ भी मुक्ति ज्ञान से ही होती है, पर वहाँ इसके लिए एक विशेष व्यवस्था है। इसलिए इन दोनों वाक्यों में कोई विरोध नहीं है। काशी में ऐसी व्यवस्था है कि जब जीव का शरीर छूटता है तो वह पहले कालभैरव के अधिकार में जाता है। कालभैरव उस जीव को कोल्हू में पेरते हैं, इसको भैरवी-यातना कहते हैं। अढ़ाई घड़ी में उसके सभी पापों का भोग हो जाता है। अब उसके पुण्य ही शेष रह जाते हैं। तब कालभैरव उस जीव को शिवजी के समक्ष ले जाते हैं। जब वह शिवजी का दर्शन करता है तो उसका हृदय निष्काम हो जाता है, उसकी वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। तब भगवान् शिव उसको ज्ञान का उपदेश करते हैं -

सर्वं चैतन्यमात्रं जगदिदमखिलं स्वप्नवच्चिद्विवर्तम्॥ (परम्परया)

इस प्रकार ज्ञान का उपदेश सुनकर वह मुक्त हो जाता है। यह एक प्रक्रिया है। परन्तु काशी में शरीर छोड़नेवाला प्रत्येक व्यक्ति मुक्त नहीं होता है। इसमें भी एक शर्त है कि वह विष्णुद्रोही नहीं होना चाहिए अन्यथा शिवजी उसको स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि भगवान् शिव कहते हैं कि विष्णु और मुझमें किञ्चित् भी भेद नहीं है। जो व्यक्ति भेद मानता है, वह हमारी कृपा का पात्र नहीं हो सकता है। इसलिए कहा कि काशी में शरीर छूटने पर भी एक व्यवस्था है।

वाराणस्यां पुरारिः परमकरुणामयो ज्ञानदो विष्णुभक्तः। (परम्परया)

विष्णु को अपने से अभिन्न माननेवाले परम करुणामय त्रिपुरारि महादेव काशी में जीवों को ज्ञान प्रदान करते हैं। दूसरी बात यह है कि बहुत-से लोग काशी में शरीर छोड़ते हैं पर वस्तुतः उनका शरीर काशी में नहीं छूटता और बड़े

लोग काशी से बाहर शरीर छोड़ते हैं पर वस्तुतः उनका शरीर काशी में ही छूटता है। ये भी घटनाएँ हमने प्रत्यक्ष देखी हैं। उत्तरकाशी में हमने एक ऐसे महात्मा को देखा जो मृत्यु के समय कहने लगे, 'मैं काशी में शरीर छोड़ने के लिए जीवन भर वहाँ रहा अब आप लोग मुझे दिल्ली क्यों ले आए?' लोगों ने कहा, 'महाराज! आपको दिल्ली नहीं लाए, आप तो काशी में ही हैं।' महात्मा कहने लगे, आप सब झूठ बोल रहे हैं।

देखो, उनको अन्दर से इस प्रकार की अनुभूति हो रही है कि मैं दिल्ली में शरीर छोड़ रहा हूँ, तो समझो उनका शरीर दिल्ली में ही छूटा है। मैं देहात के एक ऐसे व्यक्ति को भी जानता हूँ जिनका मन काशी में शरीर छोड़ने का था। उन्होंने मृत्यु के समय बच्चों से कहा - हमको काशी ले चलो। किसी कारणवश वे लोग उनको काशी नहीं ले जा पाए। फिर थोड़ी देर में बोले, 'तुम लोग मुझे काशी ले आए?' लड़के ने कहा, 'हाँ, ले आए।' तब कहा, 'गंगा किनारे ले चलो।' कुछ देर बाद फिर कहा, 'गंगा किनारे ले आए?' लड़के ने हामी भरी। कहा, 'अब मुझे गीता सुनाओ।' लोगों ने गीता सुनाना शुरू किया। इस प्रकार गीता सुनते-सुनते उनका शरीर छूट गया। कहने का तात्पर्य यह है कि देहात में शरीर छूटते हुए भी काशी में ही छूटा। यह एक बड़ा विलक्षण रहस्य है। इस पर विचार करना चाहिए। इस प्रकार **काश्या मरणाद् मुक्तिः** का ऋते ज्ञानात् मुक्तिः के साथ कोई विरोध नहीं है।

जिज्ञासा :-

तीन अवस्था तजउं

भजउं भगवंत।

मन क्रम वचन अगोचर व्यापक व्यापी अनन्त॥

यहाँ पर कहा है - तीन अवस्थाओं को त्यागकर भगवान् का भजन करना चाहिए, ये तीन अवस्थाएँ कौन-सी हैं? उस भजन का स्वरूप क्या है?

समाधान :- 'मन क्रम वचन अगोचर व्यापक व्यापी अनन्त'

- यह भगवान् का लक्षण है। वह मन, कर्म या वाणी किसी का विषय नहीं है, व्यापक है और सबमें व्याप्त होनेवाला भी वही है तथा अनन्त है। भजन तो मन, वाणी या कर्म (शरीर) से ही होता है जब भगवान् इन तीनों का विषय नहीं है

तो उसका भजन कैसे हो सकता है?

जैसे आप किसी दर्पण में कोई वस्तुविशेष को देखना चाहें तो दर्पण के सामने की दूसरी वस्तु को हटाना पड़ेगा और उस वस्तुविशेष को सामने रखना पड़ेगा। इसी प्रकार मन से किसी देवता का भजन करना हो तो जरूरी है कि मन किसी अन्य आकृति को ग्रहण न करे और जिसका ध्यान करना चाहते हैं वह आकृति उसमें बनी रहे। एक तरफ से बाँध बाँधना पड़ेगा और दूसरी ओर से नहर खोदनी होगी। 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (योगसूत्र, समाधिपाद - १२) जिसका भजन करना है, उसका अभ्यास और दूसरी वस्तु से वैराग्य करना होगा।

पर यदि दर्पण में आकाश का अनुभव करना हो तो उसके सामने रखी वस्तु को हटाना पड़ेगा, अन्य कुछ लाना नहीं पड़ेगा। हाँ, दर्पण पर कोई आवरण न हो यह आवश्यक है। इसी प्रकार उपरोक्त लक्षण से युक्त व्यापक भगवान् के भजन के लिए मन-वाणी से होनेवाला जितना भी विषयानुभव है उसे 'नेति नेति' के द्वारा हटाना पड़ेगा। जो विषयानुभव जाग्रत, स्वप्नावस्था और सुषुप्ति में हो रहा है उसी को हटाना होगा, इसके लिए विचार ही उपाय है।

जीव प्रतिदिन तीन अवस्थाओं का अनुभव करता है। यह मेरा घर है, आश्रम है, सम्बन्धी है। इस प्रकार जाग्रत व्यवहार का अनुभव करता है। फिर स्वप्नावस्था में इस व्यवहार तथा जाग्रत-शरीर को भी भूलकर एक कल्पित शरीर में अहंता कर लेता है और विभिन्न प्रकार का अनुभव करता है। इसके बाद गाढ़ निद्रा में अज्ञानसहित सुख का अनुभव करता है। जैसे कोई व्यक्ति अपने तीन कमरों में से एक में ऑफिस का कार्य करे, दूसरे में भोजन आदि करे और तीसरे में जाकर सोए। ऐसा करने पर भी वह व्यक्ति न तो कोई कमरा होगा और न ही किसी एक कमरेवाला। इसी प्रकार हमारा मैं क्रम से जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में जाकर फिर उनको छोड़ देता है। इसलिए हमारा मैं न तो कोई अवस्था हुआ और न ही किसी अवस्थावाला। ये तीन अवस्थाएँ ही शुद्ध मैं के आवरण हैं।

यदि आपको व्यापक शुद्ध तत्त्व (भगवान्) का भजन करना है तो इस आवरण को हटाना ही पड़ेगा। इसी को कहा - तीन अवस्था तजडँ। यह

त्याग कैसे हो? जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के साथ जो तादात्म्य करते हैं, उसे छोड़ना पड़ेगा। यदि ये तीनों तादात्म्य छूट जाएँ तब आप ऐसे भगवान् का भजन कर सकते हैं जो 'मन क्रम बचन अगोचर व्यापक व्यापी अनंत।'।

जिज्ञासा :- ऐसा सुना है कि उपासना तो जीवन भर करनी पड़ती है परन्तु अपरोक्ष ज्ञान एक बार हो जाए तो उसको फिर सम्भालना नहीं पड़ता। इसका क्या तात्पर्य है?

समाधान :- उपासना एक भावना है, वह प्रमाणजन्य नहीं है। इसलिए यदि कोई उपासक बहुत दिन तक उपासना करके भी उसे छोड़ देगा तो वह भावना फिर क्षीण हो जाएगी। परन्तु ज्ञान तो वेदान्त प्रमाण से उत्पन्न होता है और वेदान्त से प्रबल अन्य कोई प्रमाण है नहीं, जो इसका बाध कर सके। इसलिए इस ज्ञान को काटने में कोई समर्थ नहीं है। ज्ञानी स्वयं चाहे तो भी अपने अनुभव को काट नहीं सकता। भगवान् भाष्यकार कहते हैं -

स्वीकुर्वन् व्याघ्रवेशं स्वजठरभृतये भीषयन् यश्च मुग्धान्
मत्वा व्याघ्रोऽहमित्थं स नरः पशुमुखान् बाधते किं नु सत्त्वान्।
मत्वा स्त्रीवेशधारी स्र्यहमिति कुरुते किं नटो भर्तुरिच्छां
तद्वच्छारीर आत्मा पृथगनुभवतो देहतो यः स साक्षी॥

(शतश्लोकी-७)

किसी राजा ने नट से पूछा, 'बाघ बनकर दिखा सकते हो?' उसने कुछ दिन अभ्यास किया, फिर बाघ का वेश बनाकर दहाड़कर सभा में आया। जो नहीं जानते थे, वे अपनी जान लेकर भागे। वह बाघ के समान दीखता है और दहाड़ता भी है पर बाघ में जो हिंसावृत्ति है वह उसमें नहीं हो सकती क्योंकि मैं पुरुष हूँ - इस ज्ञान को वह बाधित नहीं कर सकता है। दूसरा दृष्टान्त दिया, एक नट ने स्त्री का पार्ट किया। स्त्रीवेश में सजकर अपने हावभाव कटाक्ष से उसने सारी सभा को मुग्ध कर दिया। वह मन-बुद्धि से अपने पार्ट में सावधान है कि कहीं पुल्लिङ्ग शब्द न निकल जाए। पर यह करते हुए भी उसको पति की

इच्छा नहीं हो सकती। उसके अन्दर जो अपने पुरुषत्व का ज्ञान है, उसे का
में वह असमर्थ है। इसी प्रकार साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान आपका अनुभव है,
बाधित नहीं हो सकता। इसलिए कहा जाता है कि एक बार अपरोक्ष ज्ञान
पर फिर उसे सम्भालना नहीं पड़ता है।

जिज्ञासा :- विचार करने से जाग्रदादि अवस्थाओं से तो मैं अ
हो जाता है पर शरीरादि में सीमित रह जाता है, सर्वव्यापी नहीं होता। ऐसा
होता है?

समाधान :- मुश्किल तो है पर घबराने की बात नहीं। जब मैं शरीर
को जाननेवाला है तो इनसे पृथक् होगा ही। पहले मैं और यह - दो कि
करो। जाननेवाले में स्थिति प्राप्त करो। क्षेत्र (शरीर) में जो क्षेत्रज्ञ (मैं)
भावना बनी है इसको विचार से तोड़ो। आगे का पथ भगवान् अपने आप दि
देगा। यह धैर्य का मार्ग है, एक दिन में नहीं होता। साधना का पथ कठि
'शलभ बन अग्नि शिखा में भस्म होना तो सरल है, स्वयं को तिल-
जलाकर दीप बनना ही कठिन है।' एक तो देश-काल अभी साधना के अनु
नहीं है, संस्कार भी अनुकूल नहीं हैं। भगवान् को जोर से पकड़े रहें और
रहें, मनुष्य शरीर साधन है इसमें हार मानने के लिए कोई स्थान नहीं है।

जिज्ञासा :- द्रष्टा-दृश्य-दर्शन का प्रकाशक तुरीय को कैसे कहा
शास्त्रों में कहा है सारा दृश्य द्रष्टा का ही स्वरूप है। यह कैसे सम्भव है?

समाधान :- देखनेवाले का नाम है - द्रष्टा, जिससे देखते हैं
करण का नाम है - दर्शन और जो देखा जाता है वह है - दृश्य। इन्द्रिय
द्वारा हमें जितना भी ज्ञान हो रहा है उसमें यह त्रिपुटी रहती है। जैसे आपने
को देखा तो घट दृश्य हो गया, आप द्रष्टा हो गए और नेत्र दर्शन हो गया।
से भिन्न कुछ भी देखेंगे, सुनेंगे सबमें यह त्रिपुटी रहेगी। पर एक ज्ञान दूसरे
का भी होता है। जब आपको सुख का अनुभव होता है, तो वहाँ मन ही
बन जाता है। अन्यत्र मन दर्शन बनता है, पर यहाँ तो सुखाकार वृत्ति ही
बन जाती है। इस ज्ञान को वेदान्त में साक्षिभास्य कहते हैं, यहाँ भी त्रिपुटी

आपके अन्दर एक ऐसा प्रकाश है जिसमें द्रष्टा-दर्शन-दृश्य तीनों
प्रकाशित हो रहे हैं, सभी त्रिपुटियाँ उसी प्रकाश में भासित होती हैं। वह प्रकाश
विशिष्ट नहीं है क्योंकि विशिष्ट होते ही उसकी द्रष्टा संज्ञा हो जाएगी। द्रष्टा भाव
में बुद्धि का एक अंश करण (दर्शन) हो जाता है और दूसरा अंश जो अहंकार
से सम्बन्धित होता है वह द्रष्टा हो जाता है। जिस प्रकाश में त्रिपुटी भी भासती
है वह किसी का विषय तो बन नहीं सकता। द्रष्टा के प्रकाशक को द्रष्टा कैसे
जानेगा! उसको जानने का प्रयास करने से तो साधक कभी नहीं जान सकता,
पर उसे लक्षित करना चाहिए। उसी को तुरीय कहते हैं।

अब जो आपने पूछा कि क्या द्रष्टा ही दृश्य के रूप में दीखता है? यह
बात थोड़ी समझने की है। स्वप्न में जो दृश्य दीखता है वह आपसे पृथक् प्रतीत
होता है पर ऐसा है नहीं। उसके एक कल्पित अंश में हमारी अहंता जुड़ जाने
से वह अलग प्रतीत होता है। यह प्रतीति निद्रा-दोष से सभी को होती है। घोर
अन्धकार में आप शान्त बैठे हैं, इतने में आपके मन में एक संकल्प हुआ वह
आप में ही हुआ, आपके स्वरूप से वह झट से प्रकाशित हो जाता है। आप
द्रष्टा हो गए वह दृश्य हो गया। एक ही में द्रष्टा और दृश्य दो अलग-अलग भाव
हो गये। इसलिए द्रष्टा ही दृश्य के रूप में प्रतीत होता है। जैसे पर्दा ही चित्र के
रूप में प्रतीत होता है, मिट्टी ही घड़े के रूप में दीखती है।

रामायण में वर्णन आता है जब भरतजी सेनासहित भारद्वाज-आश्रम
पहुँचे तो भारद्वाजजी ने उन्हें आतिथ्य स्वीकार करने के लिए कहा। जब भरतजी
ने आतिथ्य स्वीकार कर लिया तो भारद्वाजजी के एक संकल्प से ही सब
व्यवस्था हो गई। सबका सत्कार हुआ। जब प्रभात हुआ और भरतजी चले गए
तो वहाँ कुछ भी नहीं रहा। देखो, भारद्वाज का एक संकल्प ही दृश्यमान होकर
प्रतीत हुआ। इसलिए सारा दृश्य, द्रष्टा का ही स्वरूप है उससे भिन्न कुछ भी
नहीं।

जिज्ञासा :- आगमशास्त्र के अनुसार जीव जब चाहे मुक्त होने में
स्वतन्त्र है, फिर भी जीव मुक्त नहीं हो रहे हैं। तो क्या कोई मुक्त होना नहीं

चाहता?

समाधान :- गोस्वामीजी ने इस विषय में कहा है - 'सो माया भयउ गोसाईं।' सो गोसाईं (चेतन) माया बस भयउ (हो गया)। क्या चेतना माया चेतन को कभी बाँध सकती है? इसका मतलब चेतन स्वयं ही बन्ध की कल्पना कर लेता है। यह कैसे सम्भव है? ऐसी शंका होने पर गोस्वामी ने दृष्टान्त दिया - 'बँध्यो कीर मरकट की नाई'। (मानस, उत्तर, ११६.२) तोता पकड़नेवाले एक चरखी लटका देते हैं, तोता उसपर बैठ जाता है तो वह चरखी उलट जाती है। तोता चरखी को कसकर पकड़ लेता है कि कब मैं गिर न जाऊँ और फिर सोचता है कि चरखी ने पकड़ लिया मुझे! देखो, की (तोता) बँधा नहीं है, अभी भी उसमें उड़ने की शक्ति है, पर वह अपनी सामर्थ्य भूल गया। यदि चरखी छोड़ दे तो क्या वह गिर जाएगा? इसी प्रकार आप यदि इस शरीर से अहंता छोड़ दें, तो क्या आपका नाश हो जाएगा।

ऐसे ही बन्धन चने के लोभ से घड़े में हाथ डालकर मुट्ठी बाँध लेता है और जब हाथ निकलता नहीं तो सोचता है कि मुझे घड़े ने बाँध लिया है। मुट्ठी छोड़ने का अपना सामर्थ्य वह भूल गया, नहीं तो वह मुक्त ही है। भूलने में हेतु है चने का लोभ। इसी प्रकार जीव ने शरीर में जो तादात्म्य किया है उसे छोड़ने में वह समर्थ है। इसीलिए आगम कहता है कि जीव जब चाहे मुक्त हो सकेगा, परन्तु इसकी स्थूल, सूक्ष्म शरीर में जो आसक्ति है, उसे छोड़ना नहीं चाहता। अतः इसे बन्धन का अनुभव होता रहता है। यह बन्धन तुम्हारा ही बनाया हुआ है, अर्थात् तुमने ही अपने मन से मान लिया है। वस्तुतः तुम मुक्त होना चाहते ही नहीं। बन्धन तुम्हारा माना हुआ है, इसलिए उसे छोड़ने में तुम ही समर्थ हो। तुम न चाहो तो ब्रह्मा-विष्णु भी नहीं छोड़ सकते। छोड़ने में कुछ करना नहीं पड़ता है, इसी दृष्टि से आगम कहता है कि जीव जब चाहे मुक्त होने में समर्थ है।

जिज्ञासा :- भगवान् भाष्यकार ने कहा है कि ज्ञान-प्राप्ति में तोता की अपेक्षा है, परन्तु उत्पन्न हुआ ज्ञान किसी सहकारी साधन की अपेक्षा रखता, ऐसा क्यों?

समाधान :- बिल्कुल ठीक ही कहा है। विचार करो दीपक जलाने में कर्म की उपयोगिता है कि नहीं? बत्ती चाहिए, तेल चाहिए, फिर माचिस जलाओ तभी दीपक जलेगा। पर जब दीपक जल जाता है तो अन्धकार निवृत्ति में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता है।

इसी प्रकार ज्ञान उत्पन्न करने के लिए नहीं, अपितु उसके प्रकट होने में जो प्रतिबन्ध हैं उन्हें दूर करने के लिए कर्म की अपेक्षा होती है। ज्ञान तो एक प्रकाश के समान है, वह प्रकट होने के बाद अज्ञान को दूर करने के लिए अन्य किसी सहकारी की अपेक्षा नहीं रखता है।

जिज्ञासा :- क्या अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होने के बाद भी फलप्राप्ति में कोई व्यवधान रहता है?

समाधान :- अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होने के बाद मुक्तिरूपी फल में तो कोई व्यवधान नहीं रहता है, पर यदि साधक के बाह्य संस्कार कुछ ज्यादा हैं तो उसके जीवनमुक्ति के आनन्द में कुछ व्यवधान पड़ सकता है। उसके लिए आत्माभ्यास की अपेक्षा होती है। जैसे, चित्त की चतुर्थ भूमिका में जब साधक पहुँच जाता है तो उसकी मुक्ति निश्चित ही है। परन्तु पञ्चम भूमिका में चित्त की जैसी सहज अवस्था रहती है, वैसी उस साधक के चित्त की नहीं होगी। ऐसा होने पर भी उसकी मुक्ति में कोई व्यवधान नहीं है।

जिज्ञासा :- शास्त्र के विचार द्वारा कार्य-करण संघात से मैं को हटाने का पूर्ण प्रयास करने पर भी मैं बोलते ही शरीर ही पकड़ में आता है। शरीर से अहंकार को पूर्णतया हटाने के लिए विचार को बढ़ाएँ या कुछ और उपाय है?

समाधान :- पहले तो विचार को पचाने का बल बढ़ाना चाहिए। विचार करने से जान तो जाता है पर उस ज्ञान को पचा नहीं पाता। जैसे एक बालक को पता है कि मन पढ़ने में लगना चाहिए, खेलने में नहीं, पर लगता है खेलने में। उसमें अभी कमजोरी है क्योंकि जो जानता है उसे मान नहीं पाता है। इसी प्रकार विचार से जिस तत्त्व का निर्धारण करते हैं उसे जीवन में पचाने के लिए, अनुभव में लाने के लिए बल चाहिए। इसी बल-प्राप्ति के लिए

ईश्वराश्रय, मन्त्रजप, उपासना आदि साधन हैं। साथ ही इन्द्रिय-निग्रह, मनोनिग्रह और तितिक्षा का भी अभ्यास करना होगा। इन साधनों से शक्ति प्राप्त करके जब आप विचार करेंगे तो देहाभिमान को नष्ट करके अपरोक्षानुभूति तक पहुँच जाएँगे।

जिज्ञासा :- कबीर कहते हैं -

मुआ मुआ सब कोई कहे मुआ न जाने कोई।

एक बार ऐसा मुआ फिर से मुआ न होई॥

यहाँ पर कहा है - एक बार ऐसा मरो जिससे दुबारा मरना न पड़े, वह मरना किस प्रकार का है?

समाधान:- कबीर कहते हैं - शरीर बदलने को जो मरना कहते हैं वे लोग मरा का अर्थ नहीं जानते। अपने अहंकार को मारोगे तो मुक्त हो जाओगे तब जन्म ही नहीं होगा तो फिर दुबारा मरना भी नहीं पड़ेगा। जैसे कबीर ने अन्य स्थान पर कहा है -

अष्टदल का चरखा बनाया पाँच तत्व की पूनी।

नौ दस मास बुनन को लागो मूरख मैली कीन्ही॥

इस शरीररूपी चादर को बहुत लोगों ने पहना, पर ठीक से पहना किसी ने नहीं जाना, इसे मैला कर दिया और फिर-फिर जन्म-मरण के चक्र में पड़ते रहे। परन्तु,

ध्रुव प्रह्लाद सुदामा ने ओढ़ी शुकदेव निर्मल कीन्ही।

दास कबीरा जुगत से ओढ़ी ज्यों-की-त्यों धर दीन्ही॥

इसमें युक्ति यही है कि हमेशा सावधान रहना। स्थूल-सूक्ष्म शरीरों का उपयोग हैं, मैं इनसे भिन्न हूँ। कबीर निरन्तर साक्षी भाव में रहा तो मृत्यु के समय में इस शरीर को असङ्गता से छोड़ दिया और अगले शरीर में अभिमान नहीं किया। कोई व्यक्ति इसी प्रकार सावधान होकर साक्षीभाव में रहकर व्यवहार करे तो वह मृत्यु को प्राप्त नहीं होगा क्योंकि मुक्त हो जाएगा। जब साक्षीभाव में न रहकर व्यवहार करते हैं तो शरीर से मिल जाते हैं। फिर जन्म-मरण का चक्र होता है, यही कबीरजी अभिप्राय है।

जिज्ञासा :- सुना है कि हम जो सुनते हैं वह शब्द का वास्तविक स्वरूप नहीं है। फिर वास्तविक स्वरूप क्या है?

समाधान :- शब्द के स्वरूप के विषय में आगम में काफी विचार किया गया है, उसी का कुछ कथन हम यहाँ करेंगे। जैसे बीज में दो दल रहते हैं, पर उनकी पृथक् अभिव्यक्ति नहीं होती। जब वह अंकुरित होगा तो उससे पहले उसमें कुछ उच्छ्वनता आएगी (कुछ फूल जाएगा), अर्थात् उसके अन्दर आकाश का प्राकट्य होगा। अब अंकुर के लिए अवकाश मिल जाता है। इसी प्रकार आगम के अनुसार शब्द का मूल तत्त्व आपका स्वरूप ही है। उसे शिव कहिए, प्रकाश कहिए या सत्ता कह दीजिए। आपका स्वरूप जड़-प्रकाश के समान नहीं है, अन्यथा प्रकाश होने पर भी दूसरे किसी जाननेवाले की अपेक्षा रहेगी। उस प्रकाश में विमर्शशक्ति (ज्ञानोद्भव) है और यह शक्ति शक्तिमान से भिन्न नहीं है।

सिसृक्षा (सर्जन की इच्छा) में पहले एक अहं आता है। अहं में अ यह प्रकाश है और ह यह विमर्शशक्ति है। विमर्शशक्ति सर्वप्रथम स्व (मूलप्रकाश) में प्रतिष्ठित होती है। अतः प्रकाशानुविद्ध (प्रकाशसंयुक्त) विमर्शशक्ति ही शब्द का मूल है। इस प्रकार हम जितने भी शब्दों तथा अर्थों का अनुभव करते हैं, सभी अ और ह वर्णों के मध्य हैं, अर्थात् अहं के मध्य है। इस प्रकार शब्द का प्रथम स्वरूप है - नाद। उसी को कहा - शब्दब्रह्म नादरूपम्। नाद की अभिव्यक्ति मूलधार में होती है। यहाँ नाद है और आकाश है। यहाँ पर शब्द की जो स्थिति है उसका नाम परावाक् है।

मणिपूर में प्राण संचार रहता है। जब नाद यहाँ पहुँचता है तो प्राण के साथ उसका योग होता है। प्राणशक्ति से संयोग होने के पूर्व शब्द की बीजावस्था मानी जाती है। अब यहाँ प्राण शक्ति के संयोग से शब्द का नाम हो जाता है - पश्यन्तिवाक्। अनाहत चक्र में पहुँचकर शब्द का जब मन से संयोग होता है तो उसकी मध्यमावाक् संज्ञा हो जाती है। मध्यमा में शब्द का स्वरूप ज्ञानात्मक है, वृत्तिरूप है और वहाँ शब्द और अर्थ में कोई भेद नहीं है। स्वप्न भी मध्यमावाक् का ही रूप है। इसलिए स्वप्न में ज्ञानात्मक वृत्ति जैसी-जैसी दौड़ती जाती है वैसा ही आपको अर्थ का भान होता जाता है। इसी को लेकर सम्पूर्ण वेदरूपी ज्ञान राशि को मनोमय कोश में रखा गया है।

विशुद्धि चक्र में पहुँचकर शब्द का जब कण्ठ से सम्बन्ध होता है तो क्रियाशक्ति आ जाती है। क्रियाशक्ति के माध्यम से तालु आदि विभिन्न स्थानों पर प्राणवायु का संचालन होने से अलग-अलग वर्ण उद्भूत होते हैं। अनाहत स्वर में जो मध्यमावाक् थी, वही वर्णों द्वारा वैखरीवाक् के रूप में हमारे सम्मुख आती है। इसी वैखरीवाक् को हम श्रोत्र द्वारा गृहीत करते हैं। इस प्रकार आपका स्वरूप या आत्मा ही वास्तव में शब्द का मूलस्थान है। अतः आगम में कहा है - महाहृदानुसन्धानाद् मन्त्रवीर्यानुभवः। (शिवसूत्र १.२२) इसी दृष्टि से भाष्यकार भगवान् ने तैत्तिरीयभाष्य में मनोमय कोश के प्रसंग में ऋगादि मन्त्रों का मूलस्वरूप अनादिनिधन चैतन्य अर्थात् आत्मा ही बताया है।

जिज्ञासा :- रमण महर्षि कहते थे कि शास्त्र पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं, मैं का अनुसन्धान करो। क्या इस प्रक्रिया से ज्ञान हो सकता है?

समाधान :- रमण महर्षि को पूर्वजन्म का संस्कार था, उन्हें परोक्ष ज्ञान पूर्वजन्म में ही हो गया था। किसी प्रतिबन्ध के कारण वह अपरोक्ष नहीं हो पाया था। इस जन्म में उसी ज्ञान को लेकर मैं के अनुसन्धान में लग गये तो वह अपरोक्ष हो गया। इसलिए उन्होंने सबको उपदेश किया कि भाई! बहुत पढ़ा क्यों हो? मैं का अनुसन्धान करो। उनकी बात गलत भी नहीं है क्योंकि शास्त्र भी तो मैं के स्वरूप का ही कथन करता है, परन्तु उनकी बात ठीक होने पर सबको उस प्रकार से ज्ञान नहीं हो सकता है। यदि व्यक्ति को आत्मविषयक परोक्ष ज्ञान नहीं है तो पहले गुरुमुख से शास्त्र-श्रवण भी करना पड़ेगा, उसमें अनेक प्रकार के संशय होने पर युक्तियों से मनन भी करना पड़ेगा। इसलिए सभी लोगों की सीधे मैं के अनुसन्धान (निदिध्यासन) में नहीं लग सकते, इस बात को ध्यान से समझना चाहिए।

जिज्ञासा :- इस्लाम या ईसाई आदि वेद-बाह्य सम्प्रदायों में शुद्धान्तःकरण साधक हैं, क्या उनके लिए मोक्ष प्राप्ति सम्भव है?

समाधान :- उनके मत में जिस प्रकार के मोक्ष का प्रतिपादन है, वे मोक्ष वे प्राप्त करेंगे। इस्लाम में ही सूफी परम्परावाले एकात्मवादी हैं जो प्रेम

आधार मानकर साधना करते हैं। उनकी प्रेम-साधना कमजोर नहीं है, वे पूर्ण भाव से ईश्वर को अर्पित हैं। अतः परमेश्वर की ओर से उनकी सम्भाल होती है। वे लोग परमेश्वर (आराध्य) को यार कहते हैं जैसे अपने यहाँ सख्यभाव से उपासना होती है। एक सूफी सन्त ने अपनी अनुभूति को शब्दों में इस प्रकार बयान किया है -

जिस तरफ हूँ देखता नज़र आता है जलवा यार का।

तो एक मगरिब की तरफ सर को झुकावें क्या जरूर।।

मैं जिधर देखता हूँ उधर एक परमात्मा ही दीखता है, उसी का वैभव सब जगह दीखता है। इसलिए पश्चिम की तरफ मुँह करके नमाज़ पढ़ने की जरूरत ही हमें नहीं रही।

खुद-ब-खुद हो रही है बन्दगी तो दम-दम के बीच।

तो माला और तशरी पकड़कर फिर-फिर फिराएँ क्या जरूर।।

वह देखता है कि प्रत्येक श्वास के साथ सोऽहं मन्त्र चल रहा है, नाद की अभिव्यक्ति हो रही है, स्वतः उपासना हो रही है। जब इसमें ही दृष्टि केन्द्रित हो गई तब माला जपने की जरूरत ही नहीं रही।

एक ही नुक्ते में सब इल्मों का मतलब पा लिया।

तो पुस्तकों का भार अब सर पर उठाएँ क्या जरूर।।

प्रणव में जो बिन्दु है वही नुक्ता है उसी में सारा ज्ञान हमको मिल गया तो दुनिया भर की किताबें क्यों पढ़ें?

हम आजादी के चमन में सैर करते हैं सदा।

तो मजहबों के तंगखाने बीच जाएँ क्या जरूर।।

उसकी बुद्धि मजहब आदि से ऊपर चली गई, एक तत्त्व में ही स्थित हो गई। ऐसी साधनाएँ भी इन धर्मों में देखी जाती हैं। यदि इस प्रकार की साधना कोई व्यक्ति करे तो उसे मोक्ष प्राप्त हो ही जाएगा चाहे वह किसी भी धर्म का हो।

जिज्ञासा :- प्रत्यक्ष सबसे बलवान प्रमाण है, इससे अन्य प्रत्यक्ष ज्ञान को परोक्ष ज्ञान कैसे मिटा सकता है?

समाधान :- बहुत जगह देखा जाता है कि किसी व्यक्ति का किसी एक व्यक्ति या वस्तु के प्रति बहुत ममत्व है, पर कभी कोई ऐसी घटना घट जाती है कि वह ममत्व एकाएक टूट जाता है। बाद में कोई कितना भी प्रयास करे पर जुड़ता नहीं है। गोस्वामीजी कहते हैं - प्रीति विलक्षण होती है, जैसे पानी और दूध की प्रीति। जब पानी को दूध में मिला देते हैं तो वह दूध के भाव बिक जाता है। परन्तु 'कपट खटाई परत ही' - खटाई पड़ते ही दूध और पानी अलग हो जाते हैं। सामान्य नियम यही है कि परोक्ष ज्ञान की अपेक्षा प्रत्यक्ष ज्ञान प्रबल होता है।

यहाँ प्रश्नकर्ता का आशय यह है कि वेदान्त-श्रवण से उत्पन्न परोक्ष ज्ञान तो अद्वितीय ब्रह्म को बताता है, परन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान से जगत् सत्य दीखता है। इस जगत्-सत्यत्व का परोक्ष ज्ञान से बाध कैसे होगा? यहाँ उपासना की भूमिका आती है। उपासना से मायिक जगत् का सत्यत्व शिथिल हो जाता है। इसका स्वरूप बिल्कुल बदल जाता है। अभी यह जिस रूप में प्रत्यक्ष हो रहा है, उस रूप में फिर नहीं दिखाई देता। भावशक्ति से ही यह मिथ्या जगत् सत्य प्रतीत हो रहा है। यदि भावशक्ति इसे छोड़ दे तो यह एकदम मिथ्या प्रतीत होने लगेगा। ऐसे ही भगवत्कृपा में ऐसी सामर्थ्य होती है कि जहाँ भक्त को सभी परिस्थितियों में कृपा दिखाई देती है वहाँ प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण उसके बाधक नहीं हो पाते हैं। कहने का तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष प्रमाण प्रबल होने पर भी सभी जगह यह नियम नहीं है।

जिज्ञासा :- हमने परम्परा से सुना है कि श्रवण से ही ज्ञान होता है। परन्तु दक्षिणामूर्ति भगवान् ने सनकादि को मौन रहकर ही उपदेश कर दिया, यह कैसे सम्भव हुआ?

समाधान :- आप भी यदि सनकादि के समान हो जाएँ तो आपके लिए भी मौन ही उपदेश है। जैसे वसिष्ठजी भी रामजी को उपदेश देते-देते अन्त में चुप होकर बैठ गए। कुछ काल उपरान्त बोले कि तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है - मौन। ऐसी योग्यतावाले साधक हों तो मौन भी उपदेश हो सकता है। उपदेश से सेवा होती है, जगत् का कल्याण होता है, परन्तु जीवन से जो कल्याण होगा वह वास्तविक कल्याण होगा।

मौनव्याख्यान का अर्थ है कि शिष्य की जिज्ञासा सुनकर गुरु अपने स्वरूप में समाधिस्थ हो गये, जिस तत्त्व को शिष्य जानना चाहता है उसी तत्त्व में स्थित हो गये। उस स्वरूपावस्थिति से निकलनेवाली जो ऊर्जा है, जो तरंगें हैं, वे योग्य शिष्य को समाधिस्थ कर देती हैं, तत्त्वनिष्ठ कर देती हैं। वहाँ उपदेश की कोई अपेक्षा नहीं है। यही शक्तिसंचार है, यही शक्तिपात है। वह केवल गुरु के संकल्प से हो जाता है, पर हाँ, शिष्य में सामर्थ्य होनी चाहिए।

जिज्ञासा :- गीता में कहा गया है - शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः। (५.१८) कुत्ते और चाण्डाल में भी परमात्म-दर्शन कैसे सम्भव है?

समाधान :- यह तो व्यक्ति की स्थिति पर ही निर्भर है। सामान्य लोगों की दृष्टि शरीर में ही टिकी रहती है, अतः उनके लिए ऐसा दर्शन बहुत मुश्किल है। परन्तु जो ज्ञानी महापुरुष होते हैं उनकी दृष्टि सर्वत्र व्यापक परमात्मा में ही टिकी रहती है, अतः चाहे पण्डित हो, कुत्ता हो या चाण्डाल, सबके अन्दर उन्हें परमात्मा के दर्शन होते हैं।

एक बार नामदेवजी हरिद्वार से काँवड़ लेकर रामेश्वर जा रहे थे। उन्होंने रास्ते में देखा कि एक गधा प्यास से मर रहा है। नामदेव से उसका कष्ट देखा न गया। उन्होंने जय महादेव कहा और जल गंधे को पिला दिया। अब बताओ जिसे सर्वत्र परमात्मा का दर्शन न हो उसे छोड़कर रामेश्वर के लिए लाया गया जल गंधे को कौन पिला सकता है! महादेव तो व्यापक हैं, वे उसी समय उनके सामने प्रकट हो गए। उन्हें वहीं महादेव का साक्षात् दर्शन हो गया।

जिज्ञासा :- क्या अहं की अनुभूति ही अपरोक्ष ज्ञान है? यह अनुभूति अहंतया होती है या अन्य प्रकार से?

समाधान :- हाँ, अहम् की अनुभूति अपरोक्ष ज्ञान है। यह अनुभूति अहंतया नहीं है, स्व की अनुभूति है। लोक में जो ज्ञान होता है, वह अनुभूति अहंकारपूर्वक होती है। लेकिन अहम् की अनुभूति अहंतया कैसे होगी? अहम् की अनुभूति, आत्मस्वरूप की अनुभूति, आत्मानुभूति, ब्रह्मानुभूति - इन

सबका एक ही अर्थ है और इसी अनुभूति से अज्ञान बाधित होता है। इसमें कोई संशय नहीं है।

श्रुति कहती है कि अपने को जानने मात्र से मुक्ति नहीं होगी, अपितु अपने को ब्रह्म जानने से मुक्ति होगी। इसका अर्थ क्या है? आप ब्रह्म ही हैं। आप जो अपने को दूसरा जान रहे हैं, जो यह जान रहे हैं कि मैं शरीर हूँ, मैं मन हूँ, मैं बुद्धि हूँ - इस ज्ञान को हटाना है। **अहं ब्रह्मास्मि** यह साक्षात् अनुभूति है। **तत्त्वमसि** - इस महावाक्य की अनुभूति क्या होगी? **अहं ब्रह्मास्मि** ही होगी। श्रुति के द्वारा हम बुद्धि से जो निश्चय करते हैं वह परोक्ष ज्ञान होता है। जब उसकी अनुभूति हो जाती है तो उसे अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं।

जिज्ञासा :- आत्मा यदि मन-बुद्धि-इन्द्रिय से परे है तो इनके शान्त होने पर ही आत्मस्वरूप की प्राप्ति होगी। पर हमारे पास ज्ञान के साधन तो मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ ही हैं, फिर इनके बिना आत्मा का ज्ञान कैसे होगा?

समाधान :- मूर्च्छा या सुषुप्ति में मन-बुद्धि शान्त रहते हैं, क्लोरोफॉर्म तथा विष के प्रयोग से बेहोशी आने पर भी मन-बुद्धि शान्त हो जाते हैं। फिर भी इन अवस्थाओं में आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। हमारे पास ज्ञान के साधन तो मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ ही हैं। यदि हमको रूप और रूपवान वस्तु को जानना है तो चक्षु इन्द्रिय और मन चाहिए। चक्षु इन्द्रिय और मन के संयोग से हम वस्तु के रंग आदि को जान सकते हैं। शब्द को श्रोत्रेन्द्रिय और मन के द्वारा सुना जा सकता है। इसी प्रकार तत्त्व-इन्द्रिय और मन के संयोग से तत्त्व विषयों को जान सकते हैं। सुख-दुःख को हम मन से जान लेते हैं। आत्मा तो मन और वाणी से भी परे है। हमारे पास जो भी ज्ञान के साधन उपलब्ध हैं, आत्मा उनका विषय ही नहीं है। फिर उसे हम कैसे जानें? यह जटिल समस्या है।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मनः
(कठ. उप.-२.१.१.) परमात्मा ने हमको जो इन्द्रियरूपी साधन दिया है वह 'स्व' से भिन्न वस्तु को जानने के लिए दिया है। ऐसा करके मानो इनको अपमानित कर दिया है। जैसे किसी घर का कोई आदमी हमेशा बाहर की

सुध ले, अपने घर को देखे तक नहीं, तब घरवाले उसे कहते हैं कि तुम बाहर ही रहो, यहाँ मत रहो। उसको घर से निकालकर अपमानित कर देते हैं।

ऐसे ही परमात्मा ने इन्द्रियादि को बहिर्मुख बना दिया है क्योंकि जीव की प्रीति बाह्य विषयों में ही है। इसीलिए बाहर ही देखता है। बहिर्मुख इन्द्रियों से तो बाहर का ही विषय दिखाई देगा, स्वरूप दिखाई नहीं देगा। फिर **स्वरूप** को कैसे देखें? तब श्रुति ने कहा - **कश्चिद्धीरः**, स्वरूप को देखने के लिए बहुत धैर्य की जरूरत होती है। जब साधक में स्वरूप को जानने की तीव्र इच्छा जागृत हो जाएगी अर्थात् **स्व** के अतिरिक्त वह कुछ जानना ही नहीं चाहेगा, तब वह '**आवृत्तचक्षुः**' हो जाएगा। उसकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाएँगी। पर यह तभी होगा जब - **अमृतत्वमिच्छन्**, वह केवल मोक्षार्थी ही होगा, अन्यथा नहीं। अमृतत्व की इच्छा करेगा तब आवृत्तचक्षुः होगा, बहिर्मुखता दूर हो जाएगी।

यह मैं जो मैं घुस गया है, यही खोटा है। इसी के लिए पञ्चकोश का विवेक है। यह से मैं को हटाओ। जहाँ-जहाँ अनात्मा में आत्मबुद्धि हुई है, पहले अपनी बुद्धि को वहाँ केन्द्रित करके फिर वहाँ से अलग कर दीजिए कि यह आत्मा नहीं है - **नेति नेति**। पञ्चकोशों से आवृत्त होने के कारण आत्मा का दर्शन नहीं हो रहा है। इनको हटाने की प्रक्रिया ही मुख्य साधन है। यह साधन अन्नमय कोश से शुरू होगा क्योंकि व्यक्ति का मैं पहले यहीं आकर टिकता है। इसी कारण से मैं परिच्छिन्न हो जाता है। परमात्म-प्राप्ति के लिए सबसे महत्वपूर्ण बात है - **अमृतत्वमिच्छन्**। जो केवल मोक्ष चाहेगा, जगत् नहीं चाहेगा, तो जगत् को ग्रहण करने के साधन उसके लिए महत्वहीन हो जाएँगे, तब वह **आवृत्तचक्षुः** हो जाएगा।

इसी बात को श्रुति दूसरे शब्दों में कहती है -

**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥**

(मुण्डक उप.-३.२.३)

शास्त्र का प्रवचन करना, शास्त्रों को धारण करने की विलक्षण मेधा

प्राप्त करना या बहुत शास्त्र सुनना, ये सब आत्मज्ञान के प्रति गारंटी के साधन नहीं हैं क्योंकि प्रवचन का उद्देश्य क्या है, मेधाशक्ति का उपयोग कहाँ हो रहा है, ये सब जटिल एवं महत्वपूर्ण बातें हैं। यदि इनका उद्देश्य जगत् हो गया तो उसका अहंकार बढ़ जाएगा। हाँ, शिवप्राप्ति (आत्मज्ञान) का एक गारंटी का साधन है - **बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी। (मानस, बाल.-८०.३)**

इसी प्रकार 'एष साधकः यं आत्मानं एव वृणुते', आत्मसाक्षात्कार को छोड़कर हमको कुछ भी नहीं चाहिए, यही गारंटी का साधन है। अतः मन-इन्द्रियादि की आवश्यकता आत्मज्ञान में नहीं रहती है। इनसे और इनके विषयों से पूर्ण वैराग्य होना ही ज्ञान में मुख्य हेतु है।

जिज्ञासा :- परमात्मा से जीवात्मा का विभाजन सबसे प्रथम कब और किस प्रकार होता है?

समाधान :- कोई समुद्र ऐसा है जो सदा बना रहता है तो उसमें पहली लहर कब उत्पन्न हुई, यह आप कैसे जानोगे? जब से समुद्र है तब से उसमें लहरें हैं। एक लहर ने अपना अलग अस्तित्व मान लिया कि मैं समुद्र से भिन्न हूँ, बस यही लहरभाव हो गया और लहर यह समझ ले कि मैं समुद्र ही हूँ, यही उसका मोक्ष है। वह समुद्र तो है ही क्योंकि समुद्र ही लहररूप में दीखता है।

इसी प्रकार समुद्ररूपी परमात्मा सदा रहनेवाला है। उसमें अन्तःकरण को लेकर जीवरूपी लहर उठ जाए और वह अपना पृथक् अस्तित्व मानने लगे तो जीवभाव को प्राप्त हो जाता है। यदि वह अपने को पृथक् न माने तो परमात्मा ही है। इस विषय में क्या कहा जाए कि परमात्मा से जीव पृथक् कब और किस प्रकार हुआ!

वेदान्त

जिज्ञासा :- शास्त्र में प्रसिद्ध है कि जैसे भृंगी की आवाज सुन-सुनकर कीट भृंगी बन जाता है, उसी प्रकार साधक अहं ब्रह्मास्मि का जप करते-करते ब्रह्म बन जाता है? यह कैसे सम्भव है?

समाधान :- अहं ब्रह्मास्मि एक शब्द है। साधक के अन्दर उसका अर्थ क्या बैठा है इस बात पर उसका फल निर्भर करेगा, मात्र शब्द जपने से फल नहीं हो सकता। अहं ब्रह्मास्मि शब्द का तात्पर्य गुरु-परम्परा से गृहीत करके उसके चिन्तन में लगा रहे तो अपरोक्ष ज्ञान हो सकता है, इसमें कोई संशय नहीं है।

जिज्ञासा :- माण्डूक्य उपनिषद् में स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविचिक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः (२.२) - ऐसा कहा है। सूक्ष्म शरीर में सप्ताङ्ग का कथन कैसे घटेगा?

समाधान :- यह तो बहुत सीधी बात है। आपके स्थूल शरीर का जो आकार है, वही आकार सूक्ष्म शरीर का होगा। तैत्तिरीय उपनिषद् के पञ्चकोश प्रकरण में अन्नमय कोश इत्यादि में पूर्व-पूर्व कोश उत्तरवाले कोश का शरीर हो जाता है। जैसे घड़े में जल भरने पर घड़े का जैसा आकार होता है वैसा ही जल का आकार हो जाता है। इसलिए सूक्ष्म शरीर में सप्ताङ्ग कहा है तो कोई विसंगति नहीं है।

जिज्ञासा :- भगवन्! गीता के त्रयोदश अध्याय में भगवान् ने जो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ सम्बन्धी उपदेश किया है उसका तात्पर्य हम ठीक से नहीं समझ पाए। इसे स्पष्ट करने की कृपा करें।

समाधान :- संसार में जो भी यह करके जाना जा रहा है उसका नाम क्षेत्र है। वह शरीर से बाहर भी है और शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त भी है। जो भी जाना जाएगा, उसको जाननेवाला उससे अलग होगा। उसी जाननेवाले

का नाम क्षेत्रज्ञ है। वह जाननेवाले आप ही हैं। शरीर से बाहर के विषयों को तो आप जानते ही हैं, पर शरीर से लेकर अहंकारपर्यन्त सारा कार्यकरण-संघात भी आपके द्वारा ही जाना जा रहा है।

जाननेवाले का नाम क्षेत्रज्ञ है, यही मैं शब्द का अर्थ हुआ। जो भी जाना जा रहा है वह मैं का अर्थ नहीं हो सकता। यदि वह मैं का अर्थ हो जाएगा तो उसको जानेगा कौन? जो भी जाना जा रहा है उसको यह अथवा क्षेत्र कह सकते हैं। विचार करने पर मालूम होता है कि शरीर भी जाना जा रहा है, इन्द्रियाँ भी जानी जा रही हैं, इसलिए ये सब मैं का अर्थ नहीं हो सकते। इन्द्रियाँ करण हैं, जैसे कलम लिखने में करण है, वैसे ही पाँच विषयों को ग्रहण करने में इन्द्रियाँ करण हैं।

मन भी जाना जा रहा है तभी तो लोग कहते हैं, आज मेरा मन नहीं लग रहा है। बिना जाने कैसे कहेंगे? अर्थात् मन भी करण हुआ। इसी प्रकार बुद्धि भी करण है क्योंकि वह भी जानी जा रही है। तभी तो लोग कहते हैं आज मेरी बुद्धि विचलित हो गई। विचलित होनेवाली बुद्धि को जो जानता है, उस जाननेवाले का नाम मैं हुआ। मैं और यह इन दोनों के ये अर्थ जब पक्के हो जाएँ तब आगे की बात समझ में आती है। अभी तो मैं कहने से शरीर का ही ग्रहण होता है।

मैं का शरीर, यह अर्थ व्यवहार के लिए भले ही हो सकता है, वस्तुतः नहीं। जैसे किसी ने ट्रेन में रिजर्वेशन करवा लिया और कहता है - यह मेरी बर्थ है। ऐसा व्यवहार थोड़ी देर के लिए हो सकता है पर वास्तव में बर्थ उसकी नहीं है। किसी एक स्टेशन से उसके गन्तव्य स्टेशन तक ही उसकी है। इसी प्रकार इस कार्यकरण-संघात से होनेवाले व्यवहार और इसकी सम्पत्ति को यदि कोई 'पार्ट'(अभिनय) जानेगा, तब पहली कक्षा उत्तीर्ण हो जाएगी, अर्थात् त्वं-पदार्थ शोधन पूरा हो जाएगा।

अब दूसरा विचार आएगा कि मैं सभी शरीरों में अलग-अलग है या एक ही मैं शरीर-भेद से भिन्न-भिन्न मालूम हो रहा है। इसके साथ ही मैं और यह दो विभाग हुए तो ईश्वर को कहाँ रखना है? इस प्रकार का विचार आएगा। इसका समाधान, क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। (गीता-१३.२)

सभी क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ, इस भगवद्‌वचन में मिल जाता है। देखो, अब आपका मैं कितना बड़ा हो गया। एक ही मैं उपाधिभेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत हो रहा है, परन्तु वास्तव में वह एक व्यापक तत्त्व है। जिस मैं का उच्चारण सभी अपने अस्तित्व के लिए करते हैं वही मैं ईश्वररूप है। उसको कार्यकरण-संघात के साथ जोड़ दिया तो भिन्न-भिन्न मालूम होने लगा - मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं गरीब हूँ, मैं धनी हूँ। इस प्रकार उपाधि के साथ जुड़ने से मैं परिच्छिन्न मालूम होता है, पर वास्तव में वैसा नहीं है। जब इस प्रकार का निश्चय हो जाता है तो दूसरी कक्षा उत्तीर्ण हो जाती है।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि मैं और यह दोनों स्वतन्त्र हैं अथवा एक की सत्ता में दूसरा कल्पित है। स्वप्न में भी दो सत्ताओं की प्रतीति होती है। एक देखनेवाला और एक दीखनेवाला। उसमें क्या दोनों सत्ताएँ पृथक् अस्तित्व रखती हैं? नहीं। एक जाननेवाले का ही अस्तित्व है, सारा दृश्य-प्रपञ्च जो जाना जा रहा है, उसी अस्तित्व पर खड़ा हुआ है। इसलिए मैं की सिद्धि के बिना यह की सिद्धि नहीं हो सकती। जैसा स्वप्न में है, वैसा ही जागृत में है।

मैं के विषय में विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि वह व्यापक है, चैतन्य है और जाननेवाला है एवं यह (जो जाना जा रहा है) को सत्ता मैं से ही मिल रही है। उसकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है। अतः मैं में यह कल्पित है। यह बात ध्यान देने की है कि कल्पित वस्तु का अधिष्ठान से न तो किसी प्रकार का सम्बन्ध होता है और न कोई विरोध। ऐसा जब निश्चय हो जाता है तब मैं का जो विरोधी यह मालूम हो रहा है, वह बाधित हो जाता है। इसी को कहा - क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम, एक ऐसा प्रकाश सामान्य है जिसमें क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विभाग प्रतीत हो रहा है। वही क्षेत्रज्ञ का स्वरूप है और वही क्षेत्र का भी।

क्षेत्र जब बाधित हो गया तो क्षेत्रज्ञ संज्ञा भी नहीं रहती। जैसे घटाकाश को लेकर महाकाश कहते हैं, घटाकाश ही नहीं रहा तो महाकाश संज्ञा भी समाप्त हो जाती है। एक शुद्ध आकाश ही शेष रहता है। इसी प्रकार एक चैतन्य प्रकाश में पूरा विश्व दीख रहा है, वही स्वरूप है, उसी को साक्षी कहते हैं, उसी

को ब्रह्म कहते हैं, उसी में सारा जगत् कल्पित है।

जिज्ञासा :- आत्मज्ञान के लिए वेदान्त के साथ-साथ, व्याकरण-न्याय आदि पढ़ना क्या आवश्यक है?

समाधान :- आत्मज्ञान के लिए मनन-निदिध्यासन आवश्यक है और इनके लिए वेदान्त-श्रवण आवश्यक है। यदि व्याकरण आदि का सामान्य ज्ञान नहीं है तो वेदान्त समझना कठिन हो जाता है। इसे समझने के लिए पद-पदार्थ का ज्ञान होना चाहिए। ब्रह्मसूत्रादि युक्तिप्रधान ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिए न्याय, मीमांसा आदि का ज्ञान भी आवश्यक है। अतः व्याकरण-न्याय आदि का सामान्य ज्ञान तो होना ही चाहिए।

पर एक बात विचारणीय है कि क्या आप यह सब पढ़कर मोक्ष ही चाहते हैं? यदि आपके अन्दर वैराग्य और मुमुक्षा ही नहीं है तो उपनिषद् से प्राप्त ज्ञान को कैसे पचाएँगे? इसलिए विद्वत्ता की योग्यता अलग है और मोक्ष की अलग। वस्तुतः तो व्याकरण आदि के ज्ञान की अपेक्षा मुमुक्षु को वैराग्य की ज्यादा आवश्यकता है अन्यथा व्यक्ति शास्त्र पढ़कर भी उसका विनियोग सांसारिक विषयों में ही करेगा।

जिज्ञासा :- अविद्यालेश क्या है? ज्ञान होने पर अविद्यालेश रहता है या नहीं? भाष्यकार भगवान् इस विषय में क्या कहते हैं?

समाधान :- ज्ञान होने के बाद भी ज्ञानी का शरीर दीखता है, भले ही ज्ञानी की दृष्टि में वह शरीर नहीं है। ज्ञानी के अज्ञान का एवं क्रियमाण और सञ्चित कर्मों का ज्ञान से नाश हो जाता है। पर प्रारब्ध वेग से उत्पन्न हुए शरीर का नाश नहीं होता है। हाँ, प्रारब्ध कर्म से भी ज्ञानी का सम्बन्ध तो समाप्त हो जाता है क्योंकि ज्ञानी को शरीर में अहंता-ममता नहीं है, पर शरीर मृत्यु पर्यन्त देखा जाता है। कारण (अज्ञान) के बिना कार्य (शरीर) कैसे है? इसके समाधान के लिए अविद्यालेश को स्वीकार किया गया है।

जैसे किसी ने गाय को मृग समझकर उस पर बाण छोड़ दिया और फिर दूसरा बाण तैयार किया। इतने में उसको ज्ञान हो गया कि यह तो गाय है।

तब जो बाण हाथ में है वह तो नहीं छूटेगा। पर जो बाण धनुष से छूट गया है वह तो अपने वेग पर्यन्त जाएगा ही। इसी प्रकार अज्ञान दशा में प्रारब्ध कर्मों द्वारा शरीररूपी बाण छूट गया है। वर्तमान शरीर में यदि ज्ञान हो गया तो सञ्चित और क्रियमाण कर्मरूपी बाण तो नहीं छूटेंगे, परन्तु प्रारब्ध के द्वारा जो शरीररूपी बाण छूट गया है वह तो वेग पर्यन्त जाएगा ही। इसके समाधान के लिए आचार्यों ने अविद्यालेश की कल्पना की है। जैसे डिब्बे में हींग भर दी जाए और कुछ समय बाद निकाल ली जाए। अब उसमें हींग नहीं है पर उसकी गन्ध है। इसी प्रकार अविद्या न होने पर भी अज्ञानियों की दृष्टि से ज्ञानी में अविद्या जैसी प्रतीति होती है, इसलिए उसको अविद्यालेश कह देते हैं। प्रकरण ग्रन्थों में इस विषय में ऐसा कहा गया है। परन्तु भाष्य में कहीं अविद्यालेश की बात नहीं है।

जिज्ञासा :- उपनिषदों में एक ही आत्मतत्त्व को इतनी अलग-अलग प्रकार से क्यों समझाया गया है?

समाधान :- वास्तव में वह तत्त्व इतना सूक्ष्म और गहन है कि उसको समझाने के लिए श्रुति के सामने बड़ी समस्या है। मान लीजिए, कोई ऐसा बच्चा है जिसने कभी सिनेमा नहीं देखा, पर सुना है कि सिनेमा में एक पर्दा होता है और सारे चित्र उसी की करामात हैं। उसके अन्दर पर्दे को जानने की बड़ी जिज्ञासा हो गई और एक दिन वह अपने पिता के साथ सिनेमाघर पहुँचता है, जिस समय खेल चल रहा है। पहुँचते ही वह पूछता है, 'पिताजी! इसमें पर्दा कौन-सा है?' पिता को पर्दा ज्ञात है, पर उसको बताएँ कैसे? जिधर वह अँगुली से इशारा करेगा उधर ही कोई-न-कोई चित्र है। तब बच्चा चित्र को ही पर्दा समझ लेगा। यदि वह कहे कि सभी पर्दा है तो बच्चा सभी चित्रों को मिलाकर पर्दा समझ लेगा और यदि कहे सभी चित्र गायब हो जाएँ तब जो बचे वह पर्दा है तो वह शून्य को ही पर्दा समझ लेगा। आखिर उसको समझाएँ कैसे?

जैसे व्यवहार में यह समस्या है, इसी प्रकार से श्रुति के सामने भी कठिन स्थिति है। समझाना जाग्रत अवस्था में है पर इसमें दृश्य हैं। जिज्ञासा

आत्मतत्त्व की है पर जिधर देखो उधर दृश्य ही दीखता है। इसलिए श्रुति के पास नेति नेति छोड़कर दूसरा कोई उपाय बचता ही नहीं। अतः श्रुति उस आत्मतत्त्व के विषय में एक प्रकार से कहती है, दूसरे प्रकार से कहती है, फिर अन्य प्रकार से भी कहती है। यदि एक बार वही बच्चा चित्ररहित और अन्धकाररहित दशा में पढ़ें का साक्षात्कार कर ले तो सभी अवस्थाओं में उसे पर्दा ही दीखेगा। इसी प्रकार किसी को समाधि दशा में एक बार तत्त्व का साक्षात्कार हो जाए तो फिर जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति सभी अवस्थाओं में उसको वही दीखेगा। पर जब तक दृष्टि दृश्य में टिकी है, तब तक उसको समझना कठिन है, तो श्रुति को भी उसे कई युक्तियों से समझाना पड़ता है।

जिज्ञासा :- ब्रह्म के विषय में श्रुति एक ओर तो कहती है कि वह अवाङ्मनसगोचर (मन वाणी का अविषय) है, साथ ही उसे साक्षात् अपरोक्ष भी कहती है। इसे कैसे समझें?

समाधान :- ब्रह्म को हम मन, वाणी, बुद्धि इत्यादि किसी भी करण से जान नहीं सकते हैं। परन्तु आत्मरूप से तो उसका अनुभव होता ही है। इसलिए श्रुति कहती है कि वह साक्षात् अपरोक्ष है। उसका साक्षात्कार कैसे होता है इसे इस दृष्टान्त से समझने का प्रयास कीजिए।

जैसे, सूर्य का प्रकाश गृहीत करके चन्द्रमा पृथ्वी को प्रकाशित करता है। रात के समय सूर्य नहीं दीखता परन्तु उसका प्रकाश चन्द्रमा से परावर्तित होकर पृथ्वी पर दिखाई देता है। अमावस्या को जब सूर्य और चन्द्रमा दोनों एक राशि पर हो जाते हैं, उस समय सूर्य का जो प्रकाश चन्द्रमा पर गिरता है उसका मुख परावर्तन होने के पश्चात् पृथ्वी की ओर न होकर सूर्य की ओर हो जाता है। चन्द्रमा का यह परावर्तित प्रकाश सूर्य को प्रकाशित तो नहीं कर सकता, लेकिन एक यह चमत्कार होता है कि वह प्रकाश सूर्य के प्रकाश से एकीभूत हो जाता है, उसमें अपनी सूर्यरूपता की अनुभूति अपने आप उत्पन्न हो जाती है। यह अनुभूति चन्द्रमा के प्रयास के बिना ही होती है।

ठीक इसी प्रकार मनरूपी चन्द्रमा आत्मारूपी सूर्य से प्रकाश को लेकर जगत् को प्रकाशित कर रहा है। मन में स्वयं का कोई प्रकाश नहीं है। यही एक

प्रकाश ईश्वर में सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता लाता है और जीव में अल्पज्ञता, अल्पशक्तिमत्ता। जब हमारे जीवन में अमापर्व आया अर्थात् मन अन्तर्मुख (आत्माभिमुख) होगा, तब उस परावर्तित प्रकाश का मुख आत्मा की ओर हो जाएगा। उस प्रकाश से आत्मा प्रकाशित तो नहीं होगा, परन्तु उस समय वह प्रकाश आत्मप्रकाश से एकीभूत हो जाएगा। यही स्थिति साक्षात् अपरोक्ष है। यहाँ आत्मा मन का विषय नहीं बनता है, पर मन के साथ जो परिच्छिन्न अहंता थी वह बाधित हो जाती है। अब यदि वह अहं फिर उदित होगा तो बाधित होकर ही होगा। उससे ज्ञानी को आगे कोई समस्या नहीं रहेगी।

जिज्ञासा :- गीता में भगवान् कहते हैं - सम्पूर्ण प्राणी मुझमें ही स्थित हैं लेकिन मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। क्या ऐसा होने पर भगवान् की व्यापकता का खण्डन नहीं होगा?

समाधान :- भगवान् ने पहले कहा - 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' सब प्राणी मुझमें हैं और आगे कहते हैं - 'न चाहं तेष्ववस्थितः' (गीता - ९.४) मैं किसी में नहीं हूँ। यह बात समझने की है, सभी चित्र दर्पण में हैं, पर क्या दर्पण किसी चित्र में है! कपड़े में सूत व्याप्त है, पर वस्तुतः कपड़े में सूत है क्या! यदि कोई कहे है, तो सूत का कपड़े में प्रवेश कब होगा? पहले कपड़ा बनेगा तभी सूत उसमें जाएगा। पहले मकान बनेगा तभी उसमें आपका प्रवेश हो सकता है। चतुःश्लोकी भागवत में कहा है -

यथा महान्ति भूतानि भूतेष्व्वावचेष्ट्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥

(श्रीमद्भागवत- २.९.३४)

जैसे सूक्ष्म पञ्चमहाभूत, अपने कार्य शरीरादि स्थूलभूतों में प्रविष्ट हैं, पर वास्तव में नहीं भी प्रविष्ट हैं क्योंकि सूक्ष्मभूत ही स्थूलभूतों के रूप में दीख रहे हैं। तब स्थूलभूतों की उत्पत्ति ही कहाँ हुई जिनमें सूक्ष्मभूत प्रवेश करें? सूत ही कपड़ा रूप में दीख रहा है, तो कपड़े की उत्पत्ति ही कहाँ हुई जिसमें सूत प्रवेश कर सके। इसी प्रकार परमात्मा ही सर्वभूतों के रूप में दीख रहा है तो भूतों की उत्पत्ति ही कहाँ हुई जिनमें परमात्मा प्रवेश करके स्थित हो। जब सब

कुछ परमात्मा ही हुआ, भूत उत्पन्न ही नहीं हुए, तो परमात्मा की व्यापकता के खण्डन का प्रसंग ही नहीं आता। ऐसे स्थलों पर शब्दों में न उलझकर उनके अभिप्राय को समझना चाहिए।

जिज्ञासा :- 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।' (बृह. उप.-१.४.५) यहाँ कहे हुए आत्मा के दर्शन का श्रवण आदि से क्या सम्बन्ध है?

समाधान :- प्रत्येक प्राणी एक ऐसा सुख चाहता है जो कभी भी नष्ट न हो अर्थात् परमानन्द चाहता है। इससे दो बातें निर्धारित होती हैं - पहली यह कि प्रत्येक प्राणी का मूल वही है, तभी वहाँ जाना चाहता है और दूसरी हमारे जीवन का लक्ष्य वही है। यह कैसे निर्धारित होता है? जैसे आकाश में ढेला फेंको तो वह पृथ्वी की ओर ही आता है। ऊपर की ओर क्यों नहीं जाता? इस विषय पर विज्ञान कहता है पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण बल है इसलिए वह पृथ्वी की ओर ही आता है। पर शास्त्र कहता है ढेला पृथ्वी का अंश है, इसलिए वह पृथ्वी से पृथक् नहीं रह सकता, पृथ्वीरूप होने का प्रयास करता है।

समुद्र से बादल बनकर जल चलता है और हिमालय में बूँदरूप में बरसता है, फिर वह समुद्र की ओर ही क्यों जाता है? इसलिए कि समुद्र ही उसका मूल है, वही उसका लक्ष्य है। अतः यह स्वाभाविक प्रयास है कि प्रत्येक प्राणी अपने मूल में, अपने वास्तविक स्वरूप में पहुँचना चाहता है। इसलिए मानव-जीवन में जो मैं का वास्तविक अर्थ या स्वरूप है और जो हम सबका मूल है, वही द्रष्टव्य अर्थात् जानने योग्य है। यहाँ द्रष्टव्य पद से हमारे जीवन के उद्देश्य को बताया। उस उद्देश्य की प्राप्ति कैसे होगी? तब कहा - श्रवण, मनन, निदिध्यासन से उसका ज्ञान होगा। साधनचतुष्टय-सम्पन्न होकर श्रवण करना, मनन करना, निदिध्यासन करना यही साधन है।

जिज्ञासा :- तत्त्वमसि इस वाक्य से अद्वितीय ब्रह्म का बोध कैसे होता है?

समाधान :- यह सामवेद का महावाक्य है जो छान्दोग्योपनिषद् में

आता है। महावाक्य में एक शब्द जीवपरक होता है और एक अपरब्रह्मपरक (ईश्वरपरक)। तत्त्वमसि में तत् पद का अर्थ है - मायोपाधिक ब्रह्म (ईश्वर) और त्वम् पद का अर्थ है - अन्तःकरणोपाधिक जीव। उपाधि-निरसन के द्वारा दोनों का एकत्व होता है। ईश्वर की उपाधि माया और जीव की उपाधि अन्तःकरण (अविद्या) का निरसन होने के बाद एक ही शुद्ध चेतन तत्त्व बचेगा। इसी प्रकार प्रज्ञानं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म, इन सभी महावाक्यों में बोध की यही पद्धति है। प्रत्येक महावाक्य में इसी प्रक्रिया से जीव-ब्रह्म की एकता बताई जाती है।

जिज्ञासा :- प्रक्रियापूर्वक वेदान्त-श्रवण से क्या तात्पर्य है? क्या इस प्रकार का श्रवण ही अनुभवपर्यवसायी होता है?

समाधान :- प्रक्रिया एक व्यवस्था है जिसमें पहले वेदान्त-सिद्धान्त सम्बन्धी सामान्य ज्ञान कराया जाता है, वेदान्त के पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान करा दिया जाता है। आत्मा क्या है? अनात्मा क्या है? अन्नमयादि कोश क्या हैं, माया क्या है? ये सब प्रक्रिया-ग्रन्थों द्वारा एक क्रम से बता दिये जाते हैं। उपनिषदों में तो तत्त्व का ही निरूपण है। उसको कहीं क्रम से कहा गया है तो कहीं अक्रम से भी। इसलिए उसे समझने में समस्या हो सकती है। जब प्रक्रिया से वेदान्त की मूल बातें बुद्धि में बैठ जाती हैं तो उपनिषद्-श्रवण करके उन्हें समझने में आसानी होती है अन्यथा समझ में कभी भ्रम हो जाता है। अनुभव के लिए तो श्रवण के बाद मनन, निदिध्यासन करना पड़ेगा। मात्र श्रवण से ही कार्य पूर्ण नहीं होता।

जिज्ञासा :- वेदान्त-ग्रन्थों में माया शब्द पर बहुत जोर दिया जाता है और वहीं यह भी कहा जाता है कि जो है ही नहीं, वही माया है। जब माया है ही नहीं तो उसको लेकर इतना विचार, उसको छोड़ने का उपदेश कहाँ तक तर्कसंगत है?

समाधान :- हाँ भाई, माया वास्तव में तो नहीं है, पर न होते हुए भी आपके अन्दर बैठ गई है तो उसे निकालना भी पड़ेगा। भूत नहीं है पर आपके

अन्दर घुस गया है तो निकालना ही पड़ेगा। बिना निकाले तो आपको चैन मिलेगा नहीं। स्वप्न का कष्ट सत्य नहीं है पर उसको लेकर आप दुःखी हो रहे हैं तो उसे छोड़ना ही पड़ेगा। एक व्यक्ति रस्सी में सर्प देखकर भयभीत हो रहा है। सर्प न होने पर भी उसका भय दूर करने के लिए उसे उपदेश करना ही पड़ेगा कि जो तुम्हें सर्प दिखाई दे रहा है वह रस्सी है। लेकिन जिसे रस्सी दिखाई दे रही है उसके लिए उपदेश करने की कोई जरूरत नहीं। इसी प्रकार जिसकी दृष्टि में माया है ही नहीं उसके लिए छोड़ने का उपदेश भी नहीं बनता और जब तक माया से समस्या हो रही है तब तक तो छोड़ने का उपदेश करना ही पड़ेगा चाहे वह झूठी हो।

जिज्ञासा :- वेदान्तमतानुसार आत्मा द्रष्टा है, निर्लेप है, वह न जन्मता है, न मरता है, न उसमें सुख-दुःख हैं। तब जन्म-मृत्यु और सुख-दुःख का अनुभव किसे और क्यों होता है? इससे बचने का क्या उपाय है?

समाधान :- स्वप्न में कोई समस्या न होने पर भी उसकी अनुभूति तो होती है, वहाँ पर अनुभव करनेवाला कौन है? बन्धन में कौन है? जाग्रत में आकर वही कहता है कि मैं बन्धन में नहीं था, पर बन्धन की भ्रान्ति हो गई थी। इस विषय में आगम दो सूत्रों पर ध्यान दिलाता है। एक तो यह कि तुम्हारे मन में संकल्प हो कि हाथ उठ जाए, बुद्धि भी हाथ उठाने का निश्चय कर ले, पर तुम न उठाओ तो क्या उठेगा? तुम्हारे अनुमोदन के बिना हाथ उठ नहीं सकता। इस अनुभव और शास्त्र कथन से यह समझना चाहिए कि मैं (आत्मा) मन-बुद्धि से परे है - मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः। (गीता-३.४२) अर्थात् मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से परे वह आत्मा है। ये सब मेरी शक्ति से काम कर रहे हैं, ऐसा समझकर व्यक्ति अपने में केन्द्रित हो सकता है।

दूसरी बात समझने की है कि जब हम बोलते हैं - जानामि (मैं जानता हूँ) तो इस कथन में एक अहं और एक इदं है। जिसको जान रहे हैं वह विषय तो इदं है और जाननेवाला अहं है। यहाँ दोष यह है कि जानामि कहते ही हम अहं में केन्द्रित न होकर इदं में केन्द्रित हो जाते हैं। वास्तव में ज्ञान

का केन्द्र तो अहं है। यह जो प्रत्येक ज्ञान के समय इदं में केन्द्रित होने का अध्यास है, इसे छोड़कर साधक को अहं में केन्द्रित होना पड़ेगा। जब इन दो सूत्रों को लेकर विचार करते हैं तो यही लगता है कि जब तक मन-बुद्धि से अलग करके आत्मा को नहीं जाना और दृष्टि विषयों में केन्द्रित है तब तक बन्धन आदि की प्रतीति है। वास्तव में स्वप्न के समान ही बन्धन का अनुभव होते हुए भी बन्धन नहीं है, पर भ्रान्ति तो है ही। जब मन-बुद्धि से परे आत्मा को जान लेंगे तब अनुभूति यही होगी कि आत्मा में बन्धन कभी था ही नहीं।

जिज्ञासा :- विकार द्वैत में है या अद्वैत में?

समाधान :- कार्य का ही नाम विकार है। जो भी उत्पन्न होता है उसमें छः विकार रहते हैं। जैसे शरीर है तो पहले जायते - उत्पन्न हुआ, अस्ति - व्यवहार का विषय बन गया, फिर वर्धते - बढ़ता है, विपरिणम्यते - दाढ़ी-मूँछ आ गई, बदलाव हो गया, कुछ दिन बाद अपक्षीयते - क्षीण होता है, बुढ़ापा आ जाता है और अन्त में विनश्यति - नाश को प्राप्त हो जाता है। सारा जगत् उत्पन्न हुआ है, अतः यह विकारी है। अद्वैत में तो विकार का कोई प्रश्न ही नहीं है क्योंकि कल्पित वस्तु में होनेवाले विकार से अधिष्ठान में कोई विकार नहीं आता और अद्वैत ही सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठान है। इसलिए सारा विकार द्वैत में ही है, अद्वैत में नहीं।

जिज्ञासा :- चिज्जड़ ग्रन्थि क्या है?

समाधान :- मन्द अन्धकार में जैसे व्यक्ति भ्रमित होता है ऐसे ही चिज्जड़ ग्रन्थि ही जीव के भ्रम में हेतु बनती है। 'मैं' का अर्थ चेतन ही है पर जब उसको करण के साथ जोड़ देते हैं तो -

जड़-चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनाई॥ (मानस, उत्तर-११६.२) चेतन अलग है, जड़ अलग है, परन्तु जड़ के साथ मिलाकर चेतन को बोलते हैं - यही चिज्जड़ ग्रन्थि है। यह ग्रन्थि होने पर विषय विपरीत दिखने लगते हैं। यद्यपि यह मिथ्या है, फिर भी इसका छूटना बड़ा ही कठिन है। द्रष्टा एक ही है दो नहीं, वही सबको प्रकाशित करता है। आत्मनस्तत्प्रकाशत्वं

यत्पदार्थावभासनम्। (अपरोक्षानुभूति-२२) आत्मा का प्रकाश अग्नि आदि के प्रकाश के समान जड़ नहीं है। जो कुछ भी भाव-अभाव आपको दीख रहा है, सारा ज्ञान हो रहा है यह सब आत्मा के प्रकाश से ही हो रहा है। जो भी सामने आए उसको जान लेना यही आत्मा का प्रकाशत्व है।

आत्मप्रकाश का किसी भी काल में लोप नहीं होता है। वही प्रकाश सबका स्वरूप है और मैं का वास्तविक अर्थ है। जब हम उसे किसी उपाधि से युक्त समझ लेते हैं तो वही चिज्जड़ ग्रन्थि बन जाती है और उस प्रकाश का स्वरूप विशिष्ट बन जाता है। इस ग्रन्थि को लेकर ही हमारे सारे व्यवहार होते हैं।

जिज्ञासा :- अहं ब्रह्मास्मि, सोऽहं, तत्त्वमसि आदि वेदान्त के महावाक्यों को रटते रहने से व्यावहारिक जीवन में नीरसता, कठोरता तो नहीं आ जाती है?

समाधान :- तत्त्वमसि आदि महावाक्य व्यक्ति को निष्ठुर नहीं बनाते। जहाँ आत्मा से अतिरिक्त कोई रहता ही नहीं, वहाँ निष्ठुरता का प्रसंग ही कहाँ है? सर्वात्मभाव ही तो ज्ञान है। अभी एक शरीर में सिर से पैर तक आपका आत्मभाव है तो उस शरीर में कहाँ भी चोट लगे आप झट दवा कराते हैं। यदि आपका सर्वात्मभाव हो जाए तो निष्ठुरता कहाँ रह जाएगी! हाँ, व्यक्ति वेदान्त को ठीक से समझ न पाए तो भले ही शुष्क और निष्ठुर हो जाए, नासमझी में तो कुछ भी हो सकता है। एक शरीर में आत्मबुद्धि होने पर तो अन्यो के प्रति निष्ठुरता हो सकती है, पर जहाँ स्व के अतिरिक्त अन्य है ही नहीं, वहाँ निष्ठुरता कहाँ से आएगी!

शास्त्रदृष्टि से भी ज्ञान नीरस नहीं है - रसो वै सः (तैत्ति.उप.-२.७) परमात्मा रसस्वरूप है तो उसका ज्ञान नीरस कैसे होगा? तैत्तिरीय उपनिषद् के आनन्द-मीमांसा प्रकरण में बताया - एक व्यक्ति जो पृथ्वी का सार्वभौम सम्राट् है, युवा है, शास्त्रज्ञ है, शास्त्रीय चेष्टा करता है, उसका आनन्द मनुष्यलोक का उत्कृष्टतम आनन्द है। इससे सौ गुना गन्धर्वलोक का आनन्द है क्योंकि वहाँ शरीर में कोई रोग नहीं रहता, अन्तर्धान होने की शक्ति रहती है, अन्य

विशेष शक्तियाँ होती हैं। उससे सौ गुना अधिक देवता का आनन्द है। पर उसी प्रकरण में कहा गया है कि यदि किसी व्यक्ति के मन से सम्राट् के आनन्द की कामना की दूर हो जाए तो उसके अन्दर कामरहित आनन्द की जो अनुभूति होगी वह सम्राट् के आनन्दानुभव से भी अधिक होगी। ब्रह्मलोकपर्यन्त की सम्पूर्ण कामनाओं के त्यागपूर्वक ही ज्ञान उत्पन्न होता है, अतः ज्ञानी में सर्वकामरहित स्वभाविक है। ऐसे ज्ञानी में जो सर्वात्मभाव होगा, वहाँ आनन्द ही आनन्द रहेगा, नीरसता अथवा निष्ठुरता का प्रश्न ही नहीं रहेगा।

जिज्ञासा :- जीव, माया और अज्ञान, ये सब कब उत्पन्न हुए और कब तक रहेंगे?

समाधान :- ये सब अनादि हैं, उत्पन्न नहीं होते, परन्तु अनन्त नहीं हैं, सान्त हैं। ज्ञान होने पर इनका अन्त हो जाएगा। जब माया और अज्ञान नष्ट हो जाएँगे तब जीवभाव भी समाप्त हो जाएगा। एक ब्रह्म ही शेष रहेगा, अन्य सभी ब्रह्म में लीन हो जाएँगे।

जिज्ञासा :- संवादी और विसंवादी भ्रम क्या है?

समाधान :- जहाँ भ्रम से पकड़कर भी आप वास्तविकता को, फल को प्राप्त कर लेते हैं, ऐसा भ्रम संवादी भ्रम कहलाता है और जहाँ भ्रम होने पर आप वास्तविकता को या फल को नहीं प्राप्त करते वह विसंवादी भ्रम कहलाता है। जैसे मणि की प्रभा में मणि भ्रान्ति हो जाए तो उसके पास पहुँचने पर आपको मणि प्राप्त हो जाएगी। यह संवादी भ्रम का उदाहरण है। यदि कहीं आपको दीप-प्रभा में मणिभ्रान्ति हो जाए तो उसके पास जाने पर भी आपको मणि प्राप्त नहीं होगी। ऐसा भ्रम विसंवादी भ्रम कहलाता है।

उपासना एक प्रकार का संवादी भ्रम है। उपासना में हमेशा आरोप होता है, जो वस्तु ब्रह्म नहीं है उसमें ब्रह्मता का आरोप करते हैं। विचार-प्रधान साधन में आरोप नहीं होता, वहाँ निश्चय होता है। तत्त्वमसि आदि वाक्यों के आधार पर आप त्वं तथा तत् पदार्थ का शोधन करेंगे और शुद्ध चैतन्य में पहुँचेंगे, तब वास्तविक एकत्व हो जाएगा। उपासना में आप प्रणव को आधार बनाकर 'मैं ब्रह्म हूँ' - ऐसा आरोप करेंगे। जिस समय आप आरोप कर रहे हैं,

वह भ्रम है वास्तविक नहीं। परन्तु ऐसा करते-करते आप ज्ञान प्राप्त कर लेंगे।

जिज्ञासा :- वेदान्त यदि स्वतःप्रमाण है तो अपना स्वरूप ब्रह्म जो साक्षात् अपरोक्ष है उसके विषय में हमें वेदान्तवाक्य सुनते ही ज्ञान उत्पन्न क्यों नहीं होता?

समाधान :- वेदान्त स्वतःप्रमाण है, यह बात ठीक है। परन्तु ज्ञान को अपने सहकारी साधनों की अपेक्षा होती है, उनके बिना ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। दूसरी बात, यदि कोई प्रतिबन्धक है तो भी प्रमा उत्पन्न नहीं होगी। वेदान्त-वाक्य बोलते भी रहेंगे, पर यदि कल्मष दूर होकर अन्तःकरण शुद्ध नहीं होगा, तो तत्-त्वं-पदार्थ का शोधन ही ठीक से नहीं हो पाएगा। फिर ज्ञान कैसे उत्पन्न होगा? वेदान्त स्वतःप्रमाण है, इसका अर्थ भी यही है कि वेदान्त-वाक्यों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अपने फल की सिद्धि के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। जैसे मनसहित नेत्र रूप-दर्शन में प्रमाण है, परन्तु अन्धकार हो तो रूप-दर्शन नहीं होगा। इसी प्रकार प्रतिबन्ध होने पर वेदान्त-प्रमाण अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर पाता।

प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयासक्तिरेव च।

प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः॥ (पञ्चदशी -९.४३)

इन सब प्रतिबन्धों के कारण ही वेदान्त-प्रमाण से प्रमाज्ञान उत्पन्न नहीं हो पाता है।

जिज्ञासा :- महावाक्यों में त्वं-पदार्थ का शोधन तो समझ में आता है, तत्-पदार्थ के शोधन का क्या तात्पर्य है?

समाधान :- तत्-पदार्थ की उपाधि माया का कल्पित अंश ही त्वं-पदार्थ की उपाधि अन्तःकरण (अविद्या) है। इसलिए तत्-पदार्थ के शोधन की भी अपेक्षा होती है। तत्-पदार्थ का प्रथम शरीर हिरण्यगर्भात्मक है जो कि सूक्ष्म है। उसी का स्थूल-शरीर विराट् है। समष्टि स्थूलभूतों का अभिमानी विराट् है और समष्टि सूक्ष्मभूतों का अभिमानी हिरण्यगर्भ है।

जैसे आप अपने स्थूल-सूक्ष्म-शरीर से अपने मैं को पृथक् करते हैं,

उसी प्रकार पहले आप स्थूल-पञ्चमहाभूत से ईश्वर को पृथक् करेंगे। अब स्थूल पञ्चमहाभूत कार्य होने से अपने कारण सूक्ष्म पञ्चमहाभूत में लीन हो गये। यहाँ विराट् शब्द खत्म हो जाता है क्योंकि स्थूल पञ्चमहाभूत रहे ही नहीं। इसके बाद विचार करेंगे कि सूक्ष्म पञ्चमहाभूत भी माया का कार्य होने से उससे भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार सूक्ष्म पञ्चमहाभूतों के माया में लीन होने पर हिरण्यगर्भ संज्ञा भी नहीं रहती। अब माया उपाधि ही शेष रहती है। इसका अभिमानी ईश्वर है और व्यष्टि में सुषुप्ति और अविद्या का अभिमानी प्राज्ञ है। उसकी उपाधि अविद्या माया की कल्पितांश है। इन दोनों उपाधियाँ का जब निरसन करेंगे तो ईश्वर और प्राज्ञ अलग-अलग नहीं रहेंगे, एक ही हो जाएँगे। अद्वितीय चिन्मात्र तत्त्व जो परोक्ष था, वह अपरोक्ष हो जाएगा। तत्पदार्थ-शोधन के बिना अपनी अद्वितीयता का बोध नहीं हो सकता।

जिज्ञासा :-

त्वंपदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम्।

श्रुत्या विधीयते यस्मात् तत्त्यागी पतितो भवेत्॥

(यतिधर्मसंग्रह-पृ. १५६)

इस श्लोक के अनुसार श्रुति त्वं-पदार्थ-विवेक के लिए संन्यास का विधान करती है। यहाँ तत्-पदार्थ-विवेक की उपेक्षा क्यों की गयी है?

समाधान :- यहाँ तत्-पदार्थ-विवेक की उपेक्षा में तात्पर्य नहीं है, त्वं-पदार्थ-विवेक पहले करना है, यह बताने में तात्पर्य है। त्वं-पदार्थ का विवेक पुष्ट होने पर ही तत्-पदार्थ का विवेक करना सम्भव होता है। त्वं-पदार्थ-विवेक के बिना तत्-पदार्थ का ठीक विवेक करना सम्भव नहीं होता और यदि कोई करे भी तो उससे जीवन में लाभ नहीं मिलता है। आपने भले ही जान लिया कि तत्-पदार्थ अर्थात् परमात्मा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है, इतने से आपको क्या लाभ होगा? जब तक मैं शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव हूँ - यह अनुभव न हो तब तक कोई लाभ नहीं होगा। कोई दूसरा राजा हो जाए तो उससे हमें क्या लाभ मिलेगा!

गीता में भी भगवान् ने यही प्रक्रिया बताई, पहले निर्धारित करो कि

तुम कौन हो? जाननेवाले का नाम मैं है और जो कुछ जाना जा रहा है, वह सब यह है। यहाँ से त्वंपदार्थविवेक शुरू होता है। जब यह विवेक पक्का हो जाए तब तत्-पदार्थ के विषय में विचार होता है। यदि कहो कि त्वं-पदार्थ-शोधन मात्र से शुद्ध साक्षी में स्थिति होकर मुक्ति मिल जाएगी तो यह विचार ठीक नहीं क्योंकि त्वं-पदार्थ की उपाधि माया की अंशभूता है, अतः परिच्छिन्न है। इसलिए जिस साक्षी में तुम्हारी स्थिति होगी उसमें भी परिच्छिन्नता का आरोप हो जाएगा, वह व्यापक नहीं हो पाएगा। जब तत्-पदार्थ का भी शोधन करके ऐक्य करेंगे, तभी अपनी व्यापकता और अद्वितीयता का भान हो सकता है।

जिज्ञासा :- मुण्डकोपनिषद् में जो परा और अपरा विद्या का वर्णन आता है, कृपया उसका तात्पर्य समझाइये।

समाधान :- वहाँ अपराविद्या का अर्थ है - शब्दराशि। सम्पूर्ण वेदरूपी शब्दराशि अपराविद्या है और इसे पराविद्या की उत्पत्ति में हेतु बताया गया है। पराविद्या का अर्थ शब्दराशि नहीं है, अपितु शब्दराशिरूपी अपराविद्या गुरु-परम्परा से प्राप्त होकर अधिकारी में जो बोध उत्पन्न करेगी, वही पराविद्या है। इस पराविद्या का लक्षण बताया - अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। (मुण्डक उप.-१.१.५) अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार जिस विद्या से हो, वही पराविद्या है।

गुरु-परम्परा से प्राप्त होना इसलिए आवश्यक है कि जिस गुरु के हृदय में शब्दों से अनुभव उत्पन्न हुआ है वही आपको बोध करा सकता है। यदि शब्दराशि सुनकर भी आपके अन्दर बोध उत्पन्न नहीं होता तो कहीं-न-कहीं गुरु के कहने में कमी है, उसके अन्दर अनुभव नहीं है अथवा आपकी ग्राहक-शक्ति में कमी है। उपनिषद् जो कहना चाहते हैं, वह परम्परागम्य बोध गुरु में है और उसी बोध को वह उन शब्दों (अपराविद्या) के द्वारा आपमें उत्पन्न करता है। जब आपमें वह बोध उत्पन्न होगा तो वही पराविद्या हो जाएगी।

जिज्ञासा :- जिस साधक ने इस जन्म में अथवा पूर्वजन्म में तत्-त्वं-पदार्थ-शोधन नहीं किया है, क्या वह केवल पातञ्जलयोग द्वारा अथवा भक्तियोग द्वारा वेदान्त-प्रतिपादित तत्त्व को प्राप्त कर पाएगा? यदि नहीं, तो

उसकी क्या गति होगी?

समाधान :- वह साधक जिस दर्शन के अनुसार साधना करेगा, उस दर्शन में जैसी मोक्ष की परिभाषा है, वैसा मोक्ष वह प्राप्त कर लेगा। जैसे योगदर्शन में पुरुष अनेक हैं, प्रकृति स्वतन्त्र है, पुरुष-प्रकृति-विवेक ही वहाँ का लक्ष्य है। जो व्यक्ति इस दर्शन के अनुसार साधना करेगा वह अपने को प्रकृति से असंग जान लेगा, प्रकृति से मुक्त हो जाएगा। परन्तु प्रकृति से ऊपर जो लोक हैं वहाँ उसका जन्म होगा। दूसरी बात, जगत् उसके लिए सत्य बना रहेगा, उसे बाधित करने की कोई प्रक्रिया उस दर्शन में नहीं है। अतः अद्वितीय आत्मतत्त्व का बोध उसे कभी नहीं हो सकता। यदि कोई पूर्व-मीमांसा के अनुसार साधना करे, शास्त्रीय याग आदि का अनुष्ठान करे तो वह स्वर्ग को प्राप्त करेगा। उस दर्शन में तो स्वर्ग-प्राप्ति ही मोक्ष है। जब उसका पुण्य क्षीण होगा तो पुनः जन्म भी हो जाएगा। प्रत्येक सम्प्रदाय में अपनी-अपनी युक्ति के अनुसार मोक्ष की परिभाषा अलग-अलग है।

वेदान्त-दर्शन अपनी युक्ति से कुछ नहीं कहता, वह तो जैसा उपनिषद् कहते हैं वही बताता है। अतः उपनिषदों में जिस प्रकार के मोक्ष की चर्चा आती है वह तो वेदान्त-प्रतिपादित साधना से ही प्राप्त होता है। इस मोक्ष के लिए तत्-त्वं-पदार्थ का परोक्ष-ज्ञान अर्थात् उनका शोधन अनिवार्य है। यदि व्यक्ति भक्तिमार्ग पर चलता है और परमेश्वर को पूर्ण समर्पण कर देता है तो उसकी देखभाल परमेश्वर की ओर से होती है। यदि वह ज्ञान का इच्छुक है तो परमेश्वर उसे ज्ञान करवा सकता है।

जिज्ञासा :- वेदान्तमतानुसार पातञ्जल योगमार्ग के साधकों को वेदान्त-प्रतिपाद्य ब्रह्मात्मैक्य का संस्कार न रहने से समाधि में अखण्ड ब्रह्म का बोध नहीं होता। परन्तु पूर्व में ऐसे कई महापुरुष हुए हैं जिन्हें वेदान्त-विषयक परोक्ष ज्ञान नहीं था, फिर भी योगमार्ग से साधना करके वे सर्वत्र एक चैतन्य का साक्षात्कार करते थे, यह कैसे सम्भव हुआ?

समाधान :- जो महापुरुष सर्वत्र एक चैतन्य का साक्षात्कार करते थे उन्हें वेदान्त-विषयक परोक्ष ज्ञान नहीं था, यह प्रश्नकर्ता को कैसे ज्ञात हुआ? वह उनके जीवन के बारे में क्या जानता है? वेदान्त का संस्कार मात्र शास्त्र

पढ़ने से ही होता हो ऐसी बात नहीं है, यह तो कई जन्मों का संस्कार है। वामदेवजी को गर्भ में ही ज्ञान हो गया, वहाँ उन्हें पढ़ाने कौन गया था। रमण महर्षि ने कौन-से शास्त्र पढ़े थे? पर पढ़े बिना भी उन्होंने वेदान्तानुसार ही अनुसन्धान करके परमतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया। कहने का तात्पर्य है कि साधना एक जन्म की ही नहीं होती उसमें अनेक जन्मों के संस्कार कार्य करते हैं।

इसलिए वैष्णव या अन्य सम्प्रदायों के कई महापुरुषों में भी अद्वितीय आत्मा का बोध देखा गया है। जैसे तुलसीदासजी ने लिखा है-

सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैत-बियोगी॥
सोक मोह भय हरष दिवस-निसि देस-काल तहँ नाहीं।
तुलसिदास यही दसाहीन संसय निरमूल न जाहीं॥

(विनयपत्रिका-१६७)

यह गोस्वामीजी का अपना ज्ञानानुभव है - द्वैत के अत्यन्त वियोगपूर्वक अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार, इस अनुभव का वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नहीं है। हमने कई सम्प्रदायों के सन्तों को देखा है जिनकी निष्ठा अद्वैत-वेदान्त में हैं। वह उनके सम्प्रदाय के संस्कारों से बिल्कुल अलग हैं। उन सन्तों में साम्प्रदायिक ग्रन्थि रहती ही नहीं है। ऐसा देखकर मानना ही पड़ता है कि उनमें पूर्व जन्मों के वेदान्त-संस्कार हैं।

जिज्ञासा :- आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकात्रु सृजा इति । (ऐतरेय उप.-१.१.१) इस श्रुति में आत्मा शब्द किस अर्थ में लिया जाएगा? क्या आत्मा शब्द के कई अर्थ होते हैं?

समाधान :- ब्रह्मसूत्र में निर्णय दिया गया है कि जहाँ सविशेष को कहा जाता है उसका स्वरूप भी निर्विशेष होता है। आत्मा शब्द का वाच्यार्थ सविशेष होता है और लक्ष्यार्थ निर्विशेष होता है क्योंकि वह शब्द का वाच्य नहीं है। इस श्रुति में आत्मा शब्द का अर्थ है - जगत्कारण, अर्थात् माया से विशिष्ट सविशेष ब्रह्म (ईश्वर)। जहाँ भी सृष्टि के कर्तारूप से आत्मा का वर्णन होता है, वहाँ उसका अर्थ ईश्वर ही होता है। परन्तु उसका भी स्वरूप

से विशिष्ट सविशेष ब्रह्म (ईश्वर)। जहाँ भी सृष्टि के कर्तारूप से आत्मा का वर्णन होता है, वहाँ उसका अर्थ ईश्वर ही होता है। परन्तु उसका भी स्वरूप निर्विशेष ही होता है। इस श्रुति में भी निर्विशेष को ही लक्षित करना है। श्रुति में सृष्टि का कथन सृष्टि के प्रतिपादन के लिए नहीं है, अपितु सृष्टि का भ्रम दूर करने के लिए है। अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते। (पञ्चदशी-६.१, रामकृष्णटीका) सृष्टि कभी हुई नहीं यह समझने में, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म को समझने में तात्पर्य है।

शास्त्रों में आत्मा शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है। गीता में ही देखिये, आत्मा शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। कहीं आत्मा शब्द का अर्थ शरीर किया गया है, कहीं अन्तःकरण, कहीं जीव, कहीं ईश्वर तो कहीं ब्रह्म। ऐसे स्थलों पर प्रकरण को देखकर शब्द का अर्थ लगाना पड़ता है।

जिज्ञासा :- वेदान्त में बाध शब्द कई बार सुनते हैं, इस शब्द का क्या तात्पर्य है?

समाधान :- कई बार मन्द अन्धकार में रस्सी ही आपको सर्परूप से दीखती है। वहाँ सर्प है नहीं, परन्तु रस्सीरूप अधिष्ठान में भ्रम से भासित हो रहा है। वहाँ रस्सी में दो अंश मानते हैं - एक तो इदं अंश जो अस्तित्व का बोध कराता है और दूसरा विशेष रज्जु अंश। भ्रमकाल में इदं अंश तो आपको भासित होता है, पर जो विशेष रज्जु अंश है वह आवृत्त होकर सर्परूप में भासित होने लगता है। उस सर्प का अधिष्ठान रज्जु ही है। जब अधिष्ठान का ठीक ज्ञान हो जाएगा तो वह सर्प बाधित हो जाएगा, अर्थात् वह मिथ्या है ऐसी प्रतीति हो जाएगी। वस्तु के मिथ्यात्व का निश्चय हो जाए यही उसका बाध है।

बाध दो प्रकार के होते हैं। पहले में तो अधिष्ठान का ज्ञान होने पर आरोपित वस्तु का भान ही नहीं होता, जैसे सर्प का बाध होने पर वहाँ रस्सी ही दीखती है, सर्प नहीं दीखता। दूसरे में बाधित होने पर भी आरोपित वस्तु का भान बना रहता है। इसका उदाहरण आकाश में नीलिमा का है। जब आकाश का ठीक ज्ञान हो जाता है तो यह निश्चय होता है कि आकाश का रंग

नीला नहीं है, परन्तु तब भी नीलिमा का भान होता रहता है, पर उसे सत्य नहीं समझते। इसी प्रकार कई स्थानों पर दिग्भ्रम होता है - पूर्व को पश्चिम समझ लेते हैं। बाद में जब बुद्धि से दिशा का ठीक निश्चय हो जाता है तब भी आँख से तो पहले के समान ही मालूम पड़ता रहता है, परन्तु उसमें सत्यत्वबुद्धि नहीं रहती। अतः बाध का लक्षण ही है - अधिष्ठान के सम्यग्ज्ञान से आरोपित वस्तु का सत्यत्व निकल जाना। जैसे स्वप्नकाल में स्वप्न के पदार्थ सत्य मालूम होते हैं, जागने के बाद उनकी स्मृति तो आती है, पर आप जानते हैं कि जो दिखा वह सब माया थी।

जिज्ञासा :- जो वस्तु जिसमें कल्पित होती है उसे कल्पित का अधिष्ठान मानते हैं। शास्त्र में सुनते हैं कि जगत् मन की कल्पना है तो क्या इस पूरे जगत् का अधिष्ठान मन ही है?

समाधान :- मूल सत्ता आत्मा है, उसमें मन कल्पित है और मन में जगत् कल्पित है। योगवासिष्ठ में जगह-जगह यही बात कही गयी है। वहाँ तीन आकाशों का वर्णन है - चिदाकाश, चित्ताकाश और भूताकाश। चिदाकाश अधिष्ठान है चित्ताकाश का और चित्ताकाश अधिष्ठान है भूताकाश का। चित्ताकाश की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है क्योंकि उसका आश्रय चिदाकाश (आत्मा) है। भूताकाश का आश्रय चित्ताकाश है क्योंकि चित्त न रहे तो भूताकाश का अनुभव नहीं हो सकता। इस प्रकार भूताकाश का भी अधिष्ठान परम्परा से चिदाकाश ही है। अतः मूल में अधिष्ठान एक ही है दो नहीं।

जैसे व्यक्ति अपने स्वरूप को भूलकर जगत् को देख रहा है, उसमें सत्यत्वबुद्धि भी हो रही है। इस जगत् को भूलकर स्वप्न देखता है तो बीच में एक भूल और आ जाती है। इसी प्रकार चिदाकाश सबका अधिष्ठान है और उसमें कल्पित हो गया - चित्ताकाश (मन)। यह बीच में भूल हो गयी। अब इसी चित्ताकाश में कल्पित होकर भूताकाश (बाह्य जगत्) दीखने लगता है। इसी दृष्टि से शास्त्र में जगत् को मनःकल्पित कहा गया है, परन्तु जगत् का मूल अधिष्ठान तो चिदाकाश ही है। मनःकल्पित कहने का तात्पर्य इतना ही है कि

जिज्ञासा होने पर जगत् का भान नहीं होता। इसका अनुभव हम प्रतिदिन अनुभव करते हैं।

जिज्ञासा :- हृदय या बुद्धि में ग्रन्थि बनती है, आपके यह कहने का क्या अभिप्राय है? मन-बुद्धि तो ज्ञानेन्द्रियों के पीछे काम करते हैं और ज्ञान वस्तुतन्त्र होता है, फिर वहाँ ग्रन्थि कैसे पड़ जाती है? भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। (मुण्डक उप.-२.२.८) इस श्रुति में ग्रन्थि को संशय से अलग गिनाया गया है - इन दोनों में क्या भेद है?

समाधान :- ग्रन्थि का अर्थ है - चिज्जड़ग्रन्थि अर्थात् गलत ज्ञान। अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त सभी जड़ हैं क्योंकि ये सभी जाने जाते हैं, दृश्य हैं। शरीर, मन, इन्द्रिय सभी को हम जानते हैं और जो जाना जा रहा है वह जाननेवाले से भिन्न होगा ही। आप जाननेवाले हैं और ये जाने जा रहे हैं, इसलिए ये आपसे भिन्न हैं।

व्यवहार में सभी लोग अपने अस्तित्व के लिए एक मैं शब्द का ही प्रयोग करते हैं। इससे यह निर्धारित होता है कि सबका जो मूलस्वरूप है वह एक ही है। जब उसे शरीर के साथ जोड़ते हैं तो कहते हैं - मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ। मन के साथ जोड़कर कहते हैं - मैं सुखी या दुःखी हूँ। बुद्धि के साथ जोड़कर कहते हैं - मैं जाननेवाला हूँ। इस प्रकार शरीर से लेकर अहंकार तक जो भी इदं है उसके साथ जब अपने मैं को जोड़ते हैं तभी संसार का अनुभव होता है। इन दोनों को जोड़ने का नाम ही है - ग्रन्थि। चेतन कभी जड़ नहीं हो सकता, पर उसे जड़ के साथ मिलाकर ही समझते हैं कि मैं शरीर हूँ - यही ग्रन्थि है। इसी को अध्यास भी कहते हैं। ईश्वर ने शरीर को बनाया, परन्तु उसमें मैं करना, यह आपकी सृष्टि है। इसी का नाम माया भी है। अनात्मनि शरीरादौ आत्मबुद्धिस्तु या भवेत् सा माया। (परम्परया)

इस ग्रन्थि को छुड़ाने के लिए ही वेदान्त में सारे उपाय बताए जाते हैं। अपने महाराजजी कहा करते थे - पड़ा मुर्दार कुँए में निकाला सौ घड़ा पानी। एक कुँए में मुर्दा गिर गया, पानी में दुर्गन्ध आने लगी। किसी ने कहा - इसमें केवड़े के फूल छोड़ो, पर वह कितने दिन काम करेगा। किसी ने कहा - यह कोई देवी प्रकोप है, ग्रह-शान्ति करा लो, पर उससे भी दुर्गन्ध नहीं जाती।

किसी अन्य के कहने पर कुँए का सारा पानी निकाल दो पर यदि मुर्दा वहीं पड़ा रहे, तो नया पानी आने पर फिर दुर्गन्ध ही आएगी।

इसी प्रकार इस चित्तरूपी कुँए में शरीराध्यासरूपी मुर्दा घुस गया है तो दुर्गन्ध भी आती है। यह अहंकाररूपी मुर्दा किसी को भी नहीं छोड़ता। व्यक्ति साधु बन जाए, तो और अधिक अहंकार हो जाता है। कोई तपस्या करे, तो उसका भी अहंकार पकड़ लेता है। साधक इस अहंकाररूपी मुर्दे को नहीं निकालता, इसलिए दूसरे अनेक उपाय करने पर भी समस्या हल नहीं होती। यह अहंकाररूपी ग्रन्थि जब तक रहेगी तब तक संशय का अन्त नहीं होगा क्योंकि मूल ज्ञान ही गलत हो गया है। इसके आधार पर आगे जो कुछ तुम समझोगे वह गलत ही होगा।

शास्त्रों में इस ग्रन्थि के तीन विभाग मानते हैं। स्थूल शरीर के साथ मैं को जोड़ना - ब्रह्मग्रन्थि, सूक्ष्म शरीर के साथ मैं को जोड़ना - विष्णुग्रन्थि और कारण शरीर के साथ मैं को जोड़ना - रुद्रग्रन्थि। ये तीनों जब तक रहेंगी तब तक सभी विषयों में संशय बना रहेगा। ग्रन्थि है - कारण और उसका कार्य है - संशय। जब आपका मैं अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होगा तब शरीर के साथ बनी ग्रन्थि टूट जाएगी और आपकी परिच्छिन्नता समाप्त हो जाएगी। इन्द्रियाँ तो बाह्य विषयज्ञान के प्रति ही करण हैं, आन्तर ज्ञान तो बुद्धि या हृदय में बिना इन्द्रियों की सहायता के ही होता है। अतः ग्रन्थि वहीं पड़ती है क्योंकि ग्रन्थि का अर्थ ही है - गलत ज्ञान। जब ग्रन्थि टूट जाती है तो उसका कार्य संशय भी नष्ट हो जाता है।

जिज्ञासा :- माया ब्रह्म की शक्ति है और शक्ति शक्तिमान् से भिन्न नहीं होती, तब माया के दोष ब्रह्म में तो नहीं आ जाएँगे?

समाधान:- माया कल्पित है और ब्रह्म अधिष्ठान है। वस्तुतः कल्पित वस्तु अधिष्ठान में होती ही नहीं। जहाँ ब्रह्म है, वहीं माया दीख रही है, पर माया का स्वतः अस्तित्व नहीं है। एक ही अस्तित्व जिसको हम ब्रह्म कहते हैं, उसी

में सभी का अस्तित्व कल्पित है चाहे माया का हो या जगत् का। जैसे दर्पण में दीखनेवाले सभी चित्रों का अस्तित्व दर्पण में कल्पित है और स्वर्ण में सभी आभूषणों का अस्तित्व कल्पित है एवं मृत्तिका में सभी घड़ों का अस्तित्व कल्पित है। इसी प्रकार एक परमात्मा में, एक ब्रह्म में सभी का अस्तित्व कल्पित है। माया का पृथक् अस्तित्व नहीं है और उसका गुण-धर्म ब्रह्म में प्रवेश नहीं करता क्योंकि कल्पित का गुण-धर्म अधिष्ठान को छू भी नहीं सकता।

भले ही दर्पण को सामने रखकर लोग उसमें अपना मुख में देखकर कहें कि हम सुन्दर हैं, असुन्दर हैं, पर दर्पण से पूछो तो कहेगा कि कभी कोई भी मुख हमारे भीतर आया ही नहीं। चलचित्र के पर्दे पर धू-धूकर अग्नि देख सकते हो, पर पर्दा उससे गरम नहीं होता है। अर्थात् अधिष्ठान में कल्पित वस्तु के गुण-धर्म अधिष्ठान को छू भी नहीं सकते। इसीलिए माया का कोई भी कार्य ब्रह्म को स्पर्श तक नहीं कर सकता। ब्रह्म तो असंग है।

जिज्ञासा :- वेदान्तमतानुसार चेतन में कोई समस्या ही नहीं है और जड़ समस्या का अनुभव नहीं कर सकता, फिर यह समस्या की अनुभूति किसको होती है?

समाधान :- समस्या की अनुभूति जड़-चेतन की ग्रन्थि में होती है। जैसे, आपको भय कब होता है? जब रस्सी में साँप दिखाई देने लगता है। साँप वहाँ है नहीं, पर भय तो होता ही है। इसी प्रकार मैं को शरीर के साथ जोड़ने से ही भय होता है अन्यथा एटम बम भी क्या करेगा आपका! यह चिज्जड़-ग्रन्थि ही समस्या का मूल है। आप चेतन हैं, आपमें कोई समस्या नहीं है। इस स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर के साथ मैं को जोड़े बिना आपमें किसी प्रकार की समस्या नहीं हो सकती।

मन्त्र-विचार

जिज्ञासा :- किसी मन्त्र का पुरश्चरण करने के लिए क्या शास्त्र में कोई समय सीमा निर्धारित होती है?

समाधान :- पुरश्चरण के लिए शास्त्र में समयसीमा का कोई नियम नहीं है, परन्तु कुछ अन्य नियम इस विषय में बताए जाते हैं। किसी भी पुरश्चरण में प्रतिदिन समान संख्या में जप करना पड़ता है। एक दिन कुछ अधिक जप, एक दिन कम जप, ऐसा पुरश्चरण में नहीं चलता। दूसरी बात, पुरश्चरण में दोपहर के बाद जप किया तो जा सकता है, परन्तु पुरश्चरण के लिए निर्धारित जप-संख्या में उसकी गणना नहीं होती है। किस मन्त्र के पुरश्चरण के लिए कितनी संख्या में जप करना है, यह शास्त्र में निर्धारित है। पर एक दिन में कितना जप आप कर सकते हैं, यह हिसाब आपको लगाना पड़ेगा। कितना समय आप दे सकते हैं, कितनी देर बैठने की आपकी सामर्थ्य है, इन सब बातों का विचार आपको करना पड़ेगा।

सदा विद्याऽनुसंहतिः। (परशुरामकल्पसूत्र-१.११.१७) इसके अनुसार बाकी समय में भी मानस-जप करना पड़ता है। पुरश्चरण में उत्तम यह होता है कि दोपहर तक जप कर लिया जाए। उसके बाद प्रतिदिन का अन्य कार्य करें। जप के अनुसार दशांश होम, तर्पण, मार्जन, यह सब प्रतिदिन ही पूरा करने से पुरश्चरण में सुविधा रहती है। इन सब बातों का विचार करके ही साधक को निर्णय लेना चाहिए कि पुरश्चरण कितने दिन में पूरा करें।

जैसे, शिव-पञ्चाक्षर मन्त्र के पुरश्चरण में चौबीस लाख जपसंख्या शास्त्र में निर्धारित है। तदनुसार जप का दशांश-हवन, उसका दशांश-तर्पण, उसका दशांश-मार्जन और उसका भी दशांश ब्राह्मण-भोजन करना पड़ता है। इन सबको विचारकर ही पुरश्चरण की समयसीमा का निर्धारण करना चाहिए।

जिज्ञासा :- ॐ नमः शिवाय - इस मन्त्र का क्या माहात्म्य है?

समाधान :- शास्त्र कहता है - मन्त्राणाम् अचिन्त्यशक्तिः। जितना हम सोच भी नहीं सकते उतनी शक्ति मन्त्र में है। परन्तु मन्त्र को सिद्ध करने

पड़ता है। गुरुमन्त्रदेवतात्ममनःपवनानाम् ऐक्यनिष्फालनाद अन्तरात्मवित्तिः। (परशुरामकल्पसूत्र-१.११) जप करते-करते, गुरु, मन्त्र, देवता, मन, प्राण और जपकर्ता एक भूमिका में पहुँचने चाहिए तब मन्त्र सिद्ध होता है। इसके लिए जप में अत्यधिक तन्मयता की अपेक्षा होती है। पूर्ण तन्मयता से जपे बिना जो फल मिलता है, वह मन्त्र का पूरा फल नहीं है।

जैसे, आपके पास कोई अमूल्य रत्न है और आपने उसे बीस रुपये में बेच दिया। आपको बीस रुपये मिले, परन्तु उसका मूल्य बीस रुपये ही नहीं है। ऐसे ही मन्त्र सिद्ध नहीं होने पर भी फल देता है। पर जैसे, शरत्काल में बादल थोड़ा बरस जाता है, ऐसे ही थोड़ा फल देगा।

वैदिक परम्परा में प्रणव सभी मन्त्रों का मूल है, इसकी उपासना पूर्ण अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों प्रदान करनेवाली है। वैदिक मार्गानुसार अपरब्रह्म का और परब्रह्म का भी यही आधार है। परब्रह्म को प्राप्त करना चाहते हो तो भी इसी के आधार पर प्राप्त कर लो। अपरब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ तक विकास करना चाहते हो तो भी इसी के आधार पर कर लो। इसे आप विधिपूर्वक गुरु से प्राप्त करें तो इसीसे सब सिद्ध हो जाता है। यह सभी मन्त्रों का मूल है, इसी तत्त्व को लेकर सभी मन्त्र शरीर धारण किए हुए हैं।

परन्तु इस प्रणव को वैदिक विधि से त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) ही गृहीत कर सकते हैं। महादेव ने कृपावश इस मन्त्र को सर्वोपयोगी बनाने के लिए, इसके पाँच अवयवों (अ, उ, म, बिन्दु और नाद) से पाँच अक्षर बनाए। अर्थात् शिवपञ्चाक्षर-मन्त्र के रूप में सबके लिए उपयोगी एक ढाँचा बना दिया। इसलिए प्रणव के समान ही इसका अर्थ भी तत्त्वमसि ही है। प्रणव में जो मोक्ष देने की शक्ति है, वह इसमें भी है, इसलिए इसका नाम अघोरमन्त्र भी है। यह अभेदात्मक तथा बड़ा रहस्यात्मक मन्त्र है और सर्वविघ्नोपशमन का उपाय है। इस मन्त्र पर पद्मपादाचार्यजी का भाष्य भी है। इसका माहात्म्य तो अचिन्त्य है, पर जो जितना लाभ ले सकता है, वह उतना ले लेता है। यह सब कुछ योग्यता पर आधारित है।

जैसे, गौ के स्तन में एक कीड़ा चिपका रहता है, परन्तु स्तन से उसको कभी दूध नहीं मिलता, अपितु रक्त ही मिलता है। बछड़े में ताकत है

कि वह दूध को उतार देता है। उसे देखकर गौ में वात्सल्यभाव आता है, तब दूध स्तन में आ जाता है। सब को एक समान फल किसी कर्म से नहीं प्राप्त हो सकता क्योंकि योग्यता में बहुत अन्तर होता है, इसे समझना चाहिए।

जिज्ञासा :- एक सन्तजी की कृपा एवं आज्ञा से मैंने अग्निपुराणोक्त एकाक्षरबीजमन्त्र का पिछले चार वर्षों में लगभग तीस लाख जप किया। मुझे अभी तक मन्त्रानुभूति क्यों नहीं हो रही?

समाधान :- यदि ऐसी बात है तो कहीं-न-कहीं दोष मानना ही पड़ेगा। या तो मन्त्रानुष्ठान विधि में कोई त्रुटि है अथवा परम्परा से मन्त्र सिद्ध नहीं है। कभी-कभी साधक का व्यक्तिगत प्रतिबन्ध भी होता है।

किसी के जीवन में कितना प्रतिबन्ध है यह समझना बहुत कठिन है। जैसे, पृथ्वी के अन्दर पानी तो है, परन्तु प्रतिबन्ध कितना है - पचास फीट है, सौ फीट है या तीन सौ फीट है? कहीं पचास फीट में ही पानी निकल आता है, कहीं तीन सौ फीट खोदने पर भी नहीं निकलता। प्रतिबन्ध जितना अधिक है, उतना ही अधिक बल लगाने पर वह कटेगा। यह सब मन्त्र-जपादि जो भी साधन करते हैं, वे व्यर्थ नहीं जाते, उतना प्रतिबन्ध कटना आवश्यक है। बहुधा व्यक्ति निराश हो जाता है, परन्तु इसकी कोई जरूरत नहीं, यह तो जन्म-जन्मान्तर की साधना है। इस जन्म में जितना साधन आप कर लेंगे उतना प्रतिबन्ध काट देंगे, आगे तो वह नहीं रहेगा। इसलिए मनुष्य शरीर में हार मानने के लिए तो कोई स्थान ही नहीं है क्योंकि यही साधन है।

पशु शरीर और देवता शरीर में तो जीव पराधीन हो जाते हैं। पशु शरीर में पुरुषार्थ ही नहीं कर सकते और देवता शरीर में भोगबुद्धि रहती है, इसलिए वहाँ सामर्थ्य होने पर भी पुरुषार्थ नहीं बन पाता है। मनुष्य शरीर जब तक है, तब तक पुरुषार्थ कर सकते हैं। जिसने पिछले जन्म में जितना प्रतिबन्ध दूर कर दिया उसका काम उतनी जल्दी हो जाएगा। इसलिए आपको विचार करना पड़ेगा कि तीस लाख जप करने पर भी यदि हमको अनुभूति नहीं हो रही है तो कहीं-न-कहीं त्रुटि अवश्य है। इसलिए यदि उस मन्त्र में श्रद्धा है तो लगे रहना

चाहिए और इन विषयों में विचार कर लेना चाहिए। यही इस विषय में मार्गदर्शन हो सकता है।

जिज्ञासा :- मन्त्रजप और यन्त्रपूजन से देवता प्रसन्न होते हैं, ऐसा शास्त्र कहता है। देवताओं का इनसे क्या सम्बन्ध है?

समाधान :- वस्तुतः मन्त्र और देवता में किञ्चित् भी भेद नहीं है। जैसे, राम कहें तो राम एक नाम है और एक राम साक्षात् देवता है। इसी प्रकार जैसे प्रणव के विषय में कहा जाए, एक तो परमात्मा का नाम और दूसरा परमात्मा का प्रतीक है। वह मन्त्र तो है ही और मन्त्र होने के कारण उसमें उसका देवता प्रतिष्ठित है। इसी प्रकार यन्त्र भी देवता का विग्रह होता है। जब आप मन्त्र का उच्चारण अथवा यन्त्रपूजन करते हैं तो उनसे सम्बन्धित देवता का ध्यान स्वतः आता है। देवता (महादेव) के दो रूप हो सकते हैं - एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म। यन्त्र देवता का स्थूल शरीर होता है और मन्त्र सूक्ष्म शरीर।

जिज्ञासा :- अर्थ चिन्तन के सहित जप करने पर ही मन्त्र सिद्धिदायक होता है अथवा केवल जप से भी हो जाता है?

समाधान :- कुछ लोग मन्त्र के विषय में कहते हैं कि मन्त्र में उसका अर्थ निहित है, मन्त्रजप करते रहने से वह अर्थ स्वयं ही व्यक्त हो जाता है। परन्तु पतञ्जलिजी ने कहा है - तज्जपस्तदर्थभावनम्। (योगसूत्र-१.२८) अर्थात् मन्त्र के अर्थ की भावना करते हुए ही जप करे। ये दोनों प्रकार के पक्ष हैं। पर एक बात ध्यान में रखना चाहिए - अर्थचिन्तन के सहित जप करने से काम जल्दी हो जाता है अन्यथा मन्त्र का अपना प्रभाव तो है ही।

जिज्ञासा :- गुरुपादुकास्तोत्र में कहा गया है - ऐंकार ह्रींकार रहस्ययुक्त श्रींकारगूढार्थ महाविभूत्वा ... (२) यहाँ पर ऐं, ह्रीं, श्रीं के क्या अर्थ हैं?

समाधान :- ये सब बीज-मन्त्र हैं। ऐंकार का सम्बन्ध ज्ञानशक्ति से है, समष्टि-बुद्धि इसके अन्तर्गत है। इसकी उपासना करने से सम्पूर्ण वाग्वैभव प्राप्त हो जाता है। यह एक रहस्यात्मक बीज है। इसके छन्द, ऋषि और देवता

इत्यादि का ज्ञान रखकर इसका जपानुष्ठान किया जाता है। यह बीज व्यष्टिबुद्धि को समष्टिबुद्धि से जोड़ता है। तब साधक में समष्टि-ज्ञानशक्ति उद्भूत हो जाती है और वह सर्वज्ञ हो जाता है।

वेद में जिसको प्रणव कहते हैं, वह ॐ है। शाक्तागम ग्रन्थों में इसी प्रणव को ह्रीं शब्द से कहते हैं। यह मायाबीज है, वैदिक प्रणव और इसके अर्थ में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। जैसे वैदिक प्रणव तत्त्वज्ञान के उद्बोधन में हेतु है, वैसे यह भी है। इस मन्त्र में ह शिव है, र जीव और ई शक्ति है। बिन्दु में इन तीनों की एकता है। एक ही तत्त्व तीन रूपों में प्रतीत होता है। शक्ति, शक्तिमान् और जीव ये तीनों एक ही हैं। इसलिए इस मन्त्र में अभेद-तत्त्व भरा हुआ है। इसको आधार बनाकर साधक अभेदात्मकस्वरूप तक पहुँच सकता है। यही भुवनेश्वरी का बीजमन्त्र है।

श्रींकार लक्ष्मी का प्रसिद्ध बीजमन्त्र है। इसमें और भी बहुत-से रहस्य छिपे हुए हैं। श्री एक वैभववाचक शब्द भी है, इसलिए अपने नाम के पहले लोग श्री लगाते हैं। इसका सम्बन्ध इच्छाशक्ति से है।

जिज्ञासा :- यदि किसी व्यक्ति की अज्ञानता से दो बार दीक्षा हो जाए, तो कौन-सा मन्त्र जपना चाहिए?

समाधान :- जिस मन्त्र के प्रति श्रद्धा है उसीमें लगे रहना चाहिए। वहाँ किसी प्रकारका विकल्प न रखे तो काम हो सकता है।

जिज्ञासा :- गुरुमन्त्र का क्या महत्व है?

समाधान :- गुरु की स्थूलमूर्ति उनका शरीर है और सूक्ष्ममूर्ति मन्त्र है। मन्त्र में गुरु और ईश्वर दोनों विराजमान हैं। यदि तुम मन्त्र को सम्भालोगे तो गुरुकृपा, ईश्वरकृपा तुम्हें सम्भालेगी। गुरु का शरीर तो केवल बाह्य माध्यम है। गुरुमन्त्र हृदय में सदा गूँजता रहे, एक क्षण के लिए उसका वियोग न हो, बस, यही तुम्हारे पास रक्षा का कवच है। आजकल प्रचार के युग में लोग गुरुमन्त्र को छोड़कर बहुत-सी विद्याएँ सीखने के चक्कर में अपने लक्ष्य से भटक जाते हैं, ये सब माया है। अरे! गुरुमन्त्र तुम्हारा सर्वोपरि है। 'मन्त्राणाम्

अचिन्त्यशक्तिः' (परम्परया) जितनी कोई कल्पना नहीं कर सकता उतनी शक्ति मन्त्र में रहती है। इतनी बड़ी शक्ति तुम्हारे पास है और उसका तुम अनादर कर रहे हो!

गुरुमन्त्र तुम्हारे पास है, फिर भी दरिद्र हो क्योंकि गुरु का कहना नहीं मानते, मनमुखी हो। गुरुमन्त्र का बहुत बड़ा महत्व है, उसका आदर एवं सतत जप यही कल्याण का सीधा उपाय है।

जिज्ञासा :- गुरुमन्त्र का व्यावहारिक जीवन में कहाँ-कहाँ उपयोग कर सकते हैं?

समाधान :- गुरुमन्त्र का आप अपने जीवन में तीन प्रकार से प्रयोग कर सकते हैं - रोधक, शोधक और शक्तिग्राहक।

१) रोधक-प्रयोग : जब आपका मन किसी गलत विषय की ओर खिंच रहा हो, उस समय मन को एकाग्र करके नौ बार गुरुमन्त्र का उच्चारण करें। इस प्रयोग को आप करके देखिए। चमत्कारी ढंग से लाभ होगा।

२) शोधक-प्रयोग :- अन्न-जल के प्रत्येक ग्रास के साथ मन्त्रमयी आहुति देते हुए ऐसी भावना करें कि वैश्वानर परमात्मा अन्दर बैठा है, उसे ही अन्न अर्पित कर रहा हूँ। यदि आप ऐसा करते हैं तो समझो कि आप भोजन करते हुए भी निराहार ही हैं। इससे अन्न-जल शुद्ध हो जाता है।

३) शक्तिग्राहक -प्रयोग :- जब आप कभी खुले वातावरण में बैठे हों, उस समय प्राकृतिक सौन्दर्य में मन को एकाग्र करते हुए मन्त्र का जप करें। जैसे आकाश, चन्द्रमा, इत्यादि में मन को एकाग्र करके गुरुमन्त्र जप करते हुए शक्ति ग्रहण कर सकते हैं।

ये जो तीन प्रयोग हैं ये साधक के लिए ब्रह्मास्त्र के समान हैं। साधक इन्हीं को आधार बनाकर जगत् के विक्षेपों से बच सकता है। **मन्त्राणाम् अचिन्त्यशक्तिः। (परम्परया)** मन्त्रों में असीम शक्ति रहती है क्योंकि उनमें गुरु की कृपा भी बैठी हुई है।

गुरुमन्त्र के विषय में गोस्वामीजी ने कहा है - अब लौ नसानी अब न नसैहों..., अभी तक बहुत समय व्यर्थ गया, पर अब

नहीं जाएगा क्योंकि पायो नाम चारु चिंतामनि (विनयपत्रिका-१०५) गुरुजी ने नाम (मन्त्र) दे दिया। गोस्वामीजी बहुत सावधान हैं। चिन्तामणि से पहले चारु शब्द लगा दिया है क्योंकि लौकिक चिन्तामणि से तो खतरा हो सकता है, पर नामरूपी चिन्तामणि से कोई खतरा नहीं है। अब आगे नाश की सम्भावना नहीं रही।

जिज्ञासा :- लोग हरि ॐ - यह नाम लेते हैं। ॐ तो सर्वोपरि है फिर उसके पूर्व हरि क्यों लगाना?

समाधान :- ॐ सर्वोपरि है इसमें तो कोई संशय नहीं, पर इसके उच्चारण में बड़ा तेज है। वह तेज सबको सहन नहीं होता है। इसलिए इसके उच्चारण के समय साथ में हरि, राम आदि कुछ जोड़ने से उसका तेज कुछ कम हो जाता है, सौम्य हो जाता है तभी सामान्य लोग इसे सहन कर पाते हैं। केवल ॐ के जप का विधान तो संन्यासी के लिए ही है क्योंकि वह इसे सह सकता है।

जिज्ञासा :- क्या गुरु से लिए गए मन्त्र का भी ताड़नादि संस्कार अनिवार्य है?

समाधान :- यदि गुरु से ठीक ढंग से मन्त्र प्राप्त हुआ है और गुरु ने उसका पहले शोधन कर दिया है तो शिष्य के लिए यह अनिवार्य नहीं है। पर यदि उस मन्त्र को लेकर वह आगे नहीं बढ़ पा रहा है, उसे विक्षेप आदि समस्या हो रही है तो गुरु से राय लेनी चाहिए। यदि मन्त्र का काम्य प्रयोग करना हो तो ताड़न आदि की विशेष अपेक्षा रहती है। निष्काम साधक के लिए ये संस्कार उतने आवश्यक नहीं।

दूसरी बात समझने की यह है कि एक कर्म है और एक भाव है। जहाँ प्रबल भावशक्ति से युक्त होकर मन्त्र गृहीत किया है वहाँ संस्कारादि करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जहाँ भाव की कमजोरी है वहाँ कर्मकाण्ड ज्यादा करना पड़ता है। यदि साधन में प्रतिबन्ध आ रहा है तो मन्त्र की ताड़न, दीपन

आदि कई प्रक्रियाएँ करनी पड़ती हैं। परम्पराभंगजनित दोष को दूर करने की भी एक प्रक्रिया है। उसे शास्त्र एवं सन्तों से समझकर दोष दूर कर लेना चाहिए।

जिज्ञासा :- प्रश्नोपनिषद् के व्याख्यान में आपने कहा है कि वैदिक प्रणव का जप सभी नहीं कर सकते, लेकिन पौराणिक प्रणव का जप सभी कर सकते हैं। इन दोनों में क्या भेद है?

समाधान :- कोई भी वैदिक मन्त्र वैदिक विधि से ही प्राप्त होता है। इस विधि से प्राप्त करने के लिए साधक का यज्ञोपवीत संस्कार होना अनिवार्य है। साथ ही वह त्रैवर्णिक होना चाहिए, तभी किसी वैदिक मन्त्र को प्राप्त कर सकेगा। ऐसा साधक ही वैदिक ॐ के जप का अधिकारी है। परन्तु किसी का नाम ओमप्रकाश है तो आप क्या वह नाम नहीं लेंगे! या इसमें वैदिक नियमों का उल्लंघन हो जाएगा! इसी प्रकार गीता पढ़ने का सबको अधिकार है तो 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' पढ़ेंगे ही और ॐ का अर्थ भी समझेंगे। व्याकरण में 'अवतेः डुमसुन्', अव धातु से डुमसुन् प्रत्यय होने पर ॐ शब्द बनता है। यही पौराणिक ॐ है। इसमें वैदिक विधि की आवश्यकता नहीं है। यही दोनों में अन्तर है। यहाँ पर वैदिक प्रणव और पौराणिक प्रणव का भाव वैदिक विधि और पौराणिक विधि से ग्रहण करने में है।

जिज्ञासा :- ऐसा सुना है कि संन्यासी के अतिरिक्त अन्य आश्रमी केवल प्रणवमन्त्र का जप करे तो उसका विपरीत फल होता है। क्या यह कथन ठीक है?

समाधान :- यदि कोई व्यक्ति केवल प्रणवमन्त्र का जप करेगा तो उसका जगत् छूटेगा क्योंकि प्रणव जगत् छुड़ानेवाला मन्त्र है। यदि वह मुमुक्षु नहीं है तो जगत् छूटना उसके लिए विपरीत फल ही है। यदि वह मोक्षार्थी है तो जगत् छूटने से उसका क्या बिगड़ता है! मुमुक्षु के लिए केवल प्रणव-जप का विधान परम्परानुसार है और अन्य लोगों के लिए प्रणवयुक्त अन्य मन्त्रों के जप का विधान है। दूसरी बात, अन्य आश्रमी शिखा-सूत्र त्याग के बिना गायत्री मन्त्र कैसे छोड़ सकता है! संन्यास में तो गायत्री मन्त्र का प्रणव में लय हो

जाता है। साथ ही जैसे संन्यासी के लिए शास्त्र में प्रणव-जप की विधि है वैसे अन्य आश्रमी के लिए नहीं है। इन्हीं सब बातों पर विचार करने पर यही लगता है कि केवल प्रणव का जप संन्यासी के लिए ही उचित है।

जिज्ञासा :- कुछ लोग नमः शिवाय मन्त्र को भी वैदिक मन्त्र बताकर साधारण लोगों को जपने के लिए निषेध करते हैं। क्या यह उचित है?

समाधान :- नमः शिवाय यह मन्त्र वैदिक भी है और पौराणिक भी है। वैदिक का निषेध भले ही साधारण लोगों के लिए हो, पर पौराणिक मन्त्र का निषेध नहीं है। वैदिक मन्त्रों का निषेध इसलिए है कि उनके लिए यज्ञोपवीत होना अनिवार्य है। फिर उन मन्त्रों के स्वर भी होते हैं, जिनका परम्परा से ज्ञान आवश्यक है तभी मन्त्र का ठीक उच्चारण हो सकता है। अतः जो निषेध है वह वैदिक विधि से ग्रहण करने के लिए है, यही समझना चाहिए।

जिज्ञासा :- आजकल देखा जाता है कि कहीं-कहीं शिविर लगाकर लाउडस्पीकर के द्वारा मन्त्र-दीक्षा दी जाती है। क्या यह शास्त्रीय है?

समाधान :- यदि कोई ऐसा करता है तो उसको शास्त्रीय नहीं कहा जा सकता। मन्त्र शब्द 'मन्त्रि गुप्तपरिभाषणे' धातु से बनता है। अर्थात् जिसे गुप्त रूप से कहा जाए वही मन्त्र है। जब गुरु शिष्य को मन्त्र देते समय उसका उच्चारण करता है तो वह केवल शिष्य को ही सुनाई देना चाहिए, दूसरे को नहीं। शिष्य को भी उसका उच्चस्वर से उच्चारण करने का अधिकार नहीं है। हम किस मन्त्र का जप करते हैं यह किसी अन्य को पता नहीं लगना चाहिए। मन्त्र रहस्यात्मक वस्तु है, गुप्त रखने पर ही यह साधक के लिए फलदायक होता है। यदि कहीं लोग मन्त्र का कीर्तन कर रहे हैं और वही आपका भी गुरु-मन्त्र है तो उससे आपको कोई समस्या नहीं होनी चाहिए। आपका मन्त्र आपके पास है, कोई कितना भी उसका कीर्तन करे उससे आपका क्या सम्बन्ध है!

जिज्ञासा :- वाचिक, उपांशु और मानस-जप का भेद बताइये?

समाधान :-

स्थानेष्वभिहते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।

वैखरीवाक् प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबन्धना॥

(विजयमालिनी)

प्राणवायु के कण्ठ, तालु आदि स्थानों में धक्का (अभिघात) मारने पर बोलनेवाले के मुख से जो वर्ण निकलते हैं उसी का नाम है - वैखरीवाक्। उच्चारणकर्ता की प्राणवृत्ति इसमें कारण होती है। जो हम लोग व्यवहार में प्रायः बोलते हैं वही वैखरीवाक् है। शास्त्र में ऐसा भी कहा है - वैखरी विश्वविग्रहा। (परम्परया) ऐसा मानते हैं कि जैसे वाष्प घनीभूत होकर जल दिखाई देता है उसी प्रकार भाव और विचार का घनीभूत रूप ही शब्द है। वक्ता के मुख से निकलकर श्रोता के कान तक शब्द-तरंग बिखर जाती है, अतः इसे वैखरी कहते हैं। इसके द्वारा जो जप किया जाए वह वाचिक-जप है। वाचिक जप समीप में बैठे हुए अन्य व्यक्ति को भी सुनाई देता है।

उपगता अंशवो यत्र स उपांशुः - जिस जप में बोला गया शब्द स्वयं को ही सुनाई देता है, दूसरे को नहीं, वह उपांशु-जप है। इसमें केवल होंठ या जिह्वा ही हिलती है। उपांशु जप में सूक्ष्मता के अनेक स्तर हैं। अभ्यास करते-करते यही मानस-जप की भूमिका में पहुँच जाता है।

अन्तरेण तु प्राणवृत्त्यनुग्रहं यत्र केवलमेव बुद्धौ समाविष्टरूपो बुद्ध्युपादानो शब्दात्मा तद् मानसम्। (परम्परया) जहाँ प्राण-प्रयास के बिना केवल बुद्धिवृत्तिरूपी ही शब्द का स्वरूप अन्तःकरण में रहता है, वह मानस-जप है। जैसे मनोराज्य बिना प्राणप्रयास के होता है, वैसे ही यह जप होता है। जिस प्रकार मनोराज्य में मनोवृत्ति की ही धारा बहती है, उसी प्रकार मन्त्र भी मनोवृत्तिरूप होकर उसकी धारा बहेगी तब वह मानस-जप होगा। यहाँ प्राणवृत्ति का निरोध तो नहीं होता पर जप में उसकी कोई भूमिका भी नहीं रहती।

जिज्ञासा :- मन्त्रचैतन्य का साधारण लक्षण क्या है? इसका भान साधक को कैसे होता है? इसका उपाय क्या है?

समाधान :- साधक को जिस प्रकार सर्दी-गर्मी का भान होता है, मन के विकल्प और विकार का भान होता है उसी प्रकार मन्त्रचैतन्य का भान होता

है। मन्त्र को हम भले ही चेतन कहें पर प्रारम्भ में जब शब्दरूप से उसे गृहीत करते हैं उस समय वह जड़ जैसा ही मालूम पड़ता है, हमारी बुद्धि में उसका प्रभाव चेतन के समान नहीं पड़ता। तन्मयता से जप करते-करते पहले वह मन्त्र चित्तरूप हो जाता है, उसका स्वरूप चित्त से अलग नहीं रहता। साधना में आगे बढ़ने पर मन्त्र और देवता दोनों एकरूप ही हो जाते हैं। मन्त्र के स्मरण से ही हृदय में देवता का स्पष्ट भान होने लगता है क्योंकि मन्त्र शब्द है तो देवता उसका अर्थ।

कुछ वर्ष पहले दक्षिण भारत में सोमयाग हुआ था। अमेरिका से कुछ लोग अनुसन्धान के लिए वहाँ आए थे। वे लोग आहुति के समय धूम की फोटो लेते थे। पूर्णाहुति की फोटो खींचकर जब देखा गया तो धुएँ में नटराज की मूर्ति स्पष्ट दीख रही थी। यह एक विलक्षण विज्ञान है जिसे केवल बुद्धि से कोई नहीं समझ सकता। जब मन्त्र, देवता और चित्त से एकीभूत होकर आपके हृदय में प्रकट हो, तभी समझो कि वह चैतन्य हो गया। मन्त्र की चेतनता को जागृत करने के लिए ही पुरश्चरण आदि उपाय हैं। दूसरी बात, गुरु के द्वारा जितनी अधिक चैतन्यशक्ति मन्त्र में प्रविष्ट रहती है, साधक का काम उतना ही जल्दी होता है, साथ ही आप अपनी भावशक्ति को जितनी प्रबलता से मन्त्र में लगाकर, शुद्ध जीवन जीते हुए, शुद्ध उच्चारणपूर्वक मन्त्र-जप करेंगे, उतने ही शीघ्र आपके मन्त्र में चेतनता प्रकट होगी।

जिज्ञासा :- आजकल कुछ लोग ॐ इस आकृति का ध्यान करते हैं। क्या यह प्रक्रिया उचित है?

समाधान :- शब्द के विषय में लोगों को बड़ा भ्रम हो गया है क्योंकि आजकल सुनते कम हैं और पढ़ते ज्यादा हैं। आजकल जितना ज्ञान लोगों को होता है प्रायः अक्षरों से होता है। अतः जब मन्त्र आदि का ध्यान करते हैं, तो अक्षर ही दिखाई देता है। इसमें कारण यह भी है कि व्यक्ति का शब्द की अपेक्षा रूप के प्रति अधिक लगाव है। विचार करने से मालूम पड़ता है कि शब्द आकाश का गुण है और वह श्रोत्रेन्द्रिय से ही ग्राह्य है। जो वस्तु श्रोत्रेन्द्रियमात्रग्राह्य

है, उसका ग्रहण नेत्र से कैसे हो सकता है? परन्तु मन रूप-प्रधान है, शब्द-प्रधान नहीं। अतः शब्द का विचार करने पर उसकी वृत्ति आकृति के ध्यान में चली जाती है।

वास्तव में शब्द का स्वरूप लिपि नहीं हो सकता क्योंकि एक ही वर्ण की आकृति हिन्दी में अलग होती है तो बंगला में अलग और किसी अन्य भाषा में अलग ही होती है। अतः मन्त्र के विषय में यह बात ठीक से समझनी चाहिए कि वह शब्दरूप होने से केवल श्रोत्रग्राह्य है। वह नेत्र का विषय नहीं है। मन्त्र का ध्यान यदि करना है तो उसकी ध्वनि का ही ध्यान करना उचित है न कि आकृति का।

जिज्ञासा :- बिना दीक्षा लिये क्या किसी मन्त्र का पुरश्चरण कर सकते हैं?

समाधान :- विधिवत् दीक्षा लेकर ही किसी मन्त्र का जप, पुरश्चरण आदि करने चाहिए। यदि किसी को दीक्षा लेने में कोई समस्या है तो उसके लिए आगम शास्त्र के ग्रन्थों में मन्त्र-ग्रहण का एक प्रयोग कहा गया है। पर यह सार्वजनिक रूप से प्रकाशित करने का विषय नहीं है। जिसे विशेष जिज्ञासा हो उसे किसी जानकार व्यक्ति से मार्गदर्शन लेना चाहिए। उस प्रयोग को करने पर व्यक्ति गुरुत्व से मन्त्र-ग्रहण कर सकता है। हाँ, उसे पहले किसी अन्य मन्त्र से दीक्षित तो होना ही चाहिए।

जिज्ञासा :- हमें प्रारम्भ से कृष्ण के प्रति अनुराग है, परन्तु गुरुजी ने जो मन्त्र दिया वह शिवमन्त्र है। जब मैं जप करता हूँ तो कृष्ण का ही ध्यान आता है। मेरे मन में बड़ा द्वन्द्व है कि क्या करूँ? कृपया मार्गदर्शन दीजिए।

समाधान :- हम तो यही कहेंगे कि इसी मन्त्र का खूब जप करें और कृष्ण का ध्यान करें, इसमें कोई विरोध नहीं है। गुरुजी ने सोच-विचारकर ही दिया होगा। रामजी ने कहा है -

औरउ, एक गुप्त मत सबहि कहउँ कर जोरि।

संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥ (मानस, उत्तर.-४५)

सबको हाथ जोड़कर मैं यह गुप्त रहस्य कहता हूँ, बिना शिवजी के भजन के मेरी भक्ति नहीं हो सकती। इसलिए गुरु ने जो मन्त्र दिया वह शंकर का ही नहीं, कृष्ण का भी मन्त्र है। हम पूछते हैं कि जब गुरु के दिये मन्त्र में तुमको संशय हो गया तो दूसरे से अन्य कोई मन्त्र लेने पर संशय क्यों नहीं होगा। गुरुजी ने तो कुछ समझकर मन्त्र दिया और तुम समझते हो कि गुरुजी ने जो किया वह ठीक नहीं है। गुरुजी में बुद्धि अधिक है या तुममें? गुरु ने तो कल्याण का उपाय दे दिया, पर तुम को संशय हो गया और इधर कहते हो-

गुरुब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः । (गुरुगीता - ४६)

मानस में प्रसंग आता है - नारदजी ने शिवप्राप्ति के लिए पार्वतीजी को मन्त्र दिया। पार्वती की परीक्षा के लिए सप्तर्षि पहुँचे और कहा, 'इस मन्त्र से तो शिवजी कभी मिलेंगे नहीं। नारद जैसे गुरु का दिया मन्त्र कैसे तुम्हारा कल्याण कर सकता है। हम तुम्हें मन्त्र देते हैं।' तब पार्वतीजी ने कहा, 'तब न नारद कर उपदेसू, आपु कहहिं सत बार महेसू' - कहा, 'महाराज, मैं नारदजी को गुरु बना लिया है, उनकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करूँगी, स्वयं शिवजी कहें तो भी नहीं करूँगी।' ऋषियों ने कहा, 'तब तो तुम्हें शिव नहीं मिलेंगे।' पार्वती बोली, 'जन्म कोटि लागि रगर हमारी। बरउँ संभु न रहउँ कुआरी॥ (मानस, बाल. - ८०.३) शिव तो मिलेंगे ही चाहे मुझे करोड़ों जन्म धारण करने पड़ें। गुरुमन्त्र और इष्ट के प्रति ऐसी निष्ठा होनी चाहिए। निष्ठा से ही फल होता है।

गुरु तो एक ही है और देवता एवं मन्त्र भी एक ही है। अलग-अलग मन्त्र तो व्यवहार मात्र है। गुरु यदि शरीर हो तो वह मर जाएगा, पर गुरु तो नित्य तत्त्व है। इसलिए वास्तव में मन्त्र ही गुरु है और तुम्हारा इष्टदेवता भी मन्त्र में बैठा है। मन्त्र को तुम सम्भालोगे तो गुरु भी प्रसन्न हो जाएँगे और कृष्ण भी प्रसन्न हो जाएँगे। यह विचार करो कि जब कृष्ण ने ही सर्वरूप धारण किए हैं तो शिव क्या दूसरे हो गए! यदि कृष्ण सर्वरूपधारी नहीं है तब तो वह कमजोर हो गया। वही कृष्ण एक कार्य के लिए शिव बना, एक के लिए गणपति और किसी कार्य के लिए उमा बन गया, है तो एक ही। अपने इष्ट के अलावा किसी और का दर्शन तुम क्यों करते हो?

जो शैव है, उसकी परम्परा में आदि गुरु नारायण हैं। इसलिए संन्यासी को प्रणाम करने के लिए ॐ नमो नारायणाय कहते हैं। जिस परम्परा में इष्ट नारायण हैं वहाँ गुरु शिव हैं। गुरु और देवता में कोई भेद नहीं है। तुम यदि गुरु के दिए शिवमन्त्र को ही सम्भालोगे तो उसी मन्त्र से तुम्हारे हृदयस्थ कृष्ण प्रकट हो जाएँगे। इसलिए इस विषय में कोई संशय नहीं करना चाहिए।

जिज्ञासा :- अजपा जप क्या है? इससे क्या लाभ होता है और इसका अभ्यास कैसे करते हैं?

समाधान :- बिना प्रयास के ही जो जप होता है उसे अजपा जप कहते हैं। यह आपके प्रत्येक श्वास में स्वाभाविक ही हो रहा है। **हँसः सोऽहं** - यह जप प्रत्येक श्वास में चल रहा है -

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।

हंसोऽतिपरमं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥ (परम्परया)

जब श्वास बाहर जाता है तो हम...ध्वनि होती है और जब अन्दर आता है तो सः... ध्वनि होती है। **हँसः** - यह एक मन्त्र है, इसका उच्चारण श्वास-श्वास में हो रहा है। आपको पहले श्वास पर ध्यान देने का अभ्यास करना होगा। जब कुछ दिन में आप अभ्यस्त हो जाएँगे तब आपको श्वास उसी प्रकार स्पष्ट दीखने लगेगा जैसे सामने रखी वस्तु। अब आप मन्त्र को श्वास के साथ जोड़ दो, अन्दर मन्त्र का उच्चारण करो। जब श्वास बाहर जाए तो उसके साथ हम् का उच्चारण और अन्दर आए तो सः का उच्चारण करो। साथ ही इसका अर्थ भी समझना चाहिए। जब श्वास बाहर निकलता है तो जिस व्यापक तत्त्व में जाता है, वह तत्-पदार्थ (ईश्वर) है और जहाँ अन्दर जा रहा है, वह त्वं-पदार्थ (जीव) है, ये दोनों एक हैं। आपका श्वास व्यापक तत्त्व में जाकर, वहाँ से शक्ति लेकर अन्दर आता है। जो त्वं-पदार्थ है उसे शक्ति वहीं से मिल रही है। इस प्रकार कुछ दिन अभ्यास करने पर वह मन्त्र श्वासगत हो जाएगा तो स्वतः चलता रहेगा, यहाँ तक कि सुषुप्ति में भी चलता रहेगा।

अर्जपा जप की एक और प्रक्रिया शास्त्रों में मिलती है जिसमें विशेष

अभ्यास की आवश्यकता भी नहीं है। केवल प्रतिदिन एक नियत समय पर (प्रातःकाल) चौबीस घण्टे का जप देवताओं को समर्पित करना होता है। प्रातःकाल आसन पर बैठकर यह भावना करे कि मेरे श्वास-प्रश्वास द्वारा चौबीस घण्टे में २१,६०० अजपा जप (हँसःमन्त्र) स्वाभाविक होते हैं, मैं उनको देवताओं को समर्पित करने जा रहा हूँ। फिर संकल्प लेकर इस प्रकार से भावना करे -

१) मूलाधार चक्र में सिद्धि-बुद्धि के सहित महागणपति विराजमान हैं, उनके लिए मैं ६०० अजपा मन्त्र समर्पित करता हूँ।

२) स्वाधिष्ठान चक्र में सरस्वती सहित ब्रह्माजी स्थित हैं, उनको मैं ६,००० अजपा मन्त्र समर्पित करता हूँ।

३) नाभिस्थान में जो मणिपूर चक्र है उस पर लक्ष्मी सहित विष्णुजी बैठे हैं, उनको मैं ६,००० अजपा मन्त्र समर्पित करता हूँ।

४) हृदयस्थान में अनाहत चक्र है, उसपर पार्वती सहित परमशिव विराजमान हैं, उनको मैं ६,००० अजपा मन्त्र समर्पित करता हूँ।

५) कण्ठस्थान में विशुद्धि चक्र है, वहाँ प्राणशक्ति सहित जीवात्मा विराजमान है, उनको मैं १,००० अजपा मन्त्र समर्पित करता हूँ।

६) भ्रुकुटी के मध्य में आज्ञा चक्र है, वहाँ ज्ञानशक्ति सहित गुण विराजमान हैं, उनके लिए मैं १,००० अजपा मन्त्र समर्पित करता हूँ।

७) ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रार चक्र है। उसके ऊपर चित् शक्ति सहित परमात्मा विराजमान हैं, उनको मैं १,००० अजपा मन्त्र समर्पित करता हूँ।

इस प्रकार अजपा मन्त्र समर्पित करके कुछ समय तक आँख बन्द करके बैठें और चिन्तन करें कि मेरा श्वास जब बाहर जाता है तो हम् का उच्चारण होता है और जब अन्दर आता है तो सः का उच्चारण होता है। इस प्रकार प्रतिदिन नियमित रूप से आप इस अजपा जप का समर्पण करते रहेंगे तो आपको प्रतिदिन २१,६०० मन्त्र-जप का फल प्राप्त हो जाएगा।

जिज्ञासा :- कई बार व्यक्ति देवता-दर्शन या मन्त्रानुभूति के लिए शास्त्रीय विधि से अनुष्ठान करता है, परन्तु सबकुछ ठीक होते हुए और बहुत

संख्या में जप करने पर भी सफल नहीं होता, इसमें क्या हेतु है?

समाधान :- साधन ठीक से करने पर भी मन्त्रानुभूति नहीं होती, तो कहीं-न-कहीं प्रतिबन्ध अवश्य है। कभी-कभी ये विषय बहुत जटिल होते हैं। पञ्चदशीकार विद्यारण्य स्वामीजी का पूर्वाश्रम का नाम माधवाचार्य था। वे वेदों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। जब गृहस्थाश्रम स्वीकार करने का समय आया तो उन्होंने विचार किया कि गृहस्थ में यज्ञादि कर्म तथा अन्य व्यवहारों के लिए धन होना आवश्यक है। उन्होंने निश्चय किया कि अपनी देवता तो गायत्री है, उसे प्रसन्न करके धन प्राप्त कर लेंगे। उन्होंने पूरे विधि-विधान से गायत्री मन्त्र का पुरश्चरण किया, परन्तु देवी प्रकट नहीं हुई।

उन्होंने हताश हुए बिना फिर दूसरा, तीसरा - इस प्रकार गायत्रीमन्त्र के ११ पुरश्चरण किए, परन्तु देवी का दर्शन नहीं हुआ। अन्त में उन्होंने सोचा कि हमारे प्रारब्ध में धन है ही नहीं, अतः अब संन्यास लेना ही उचित है। संन्यास का संकल्प कर लेने के कुछ समय उपरान्त ही जब वे ध्यान में बैठे थे तो देवी प्रकट हो गई। उन्होंने कहा, 'जब मुझे आवश्यकता थी, तब तो नहीं आई। अब मैंने संन्यास का संकल्प ले लिया है, अब क्यों आई हो?' देवी मुस्कराई और कहा, 'तुम्हारे जीवन में ११ ब्रह्महत्याओं का प्रतिबन्ध था। ब्राह्मण की हत्या करने मात्र से ही ब्रह्महत्या नहीं होती, किसी महापुरुष का अपमान करने से भी हो जाती है। ११ पुरश्चरण से ११ ब्रह्महत्याओं का प्रतिबन्ध तुमने काट दिया। यदि तुम एक और पुरश्चरण कर लेते, तब भी मुझे प्रकट होना ही था। तुमने जो एषणाओं का त्यागकर संन्यास का संकल्प लिया, उससे ही बचा हुआ प्रतिबन्ध कट गया, इसलिए मैंने दर्शन दिया है।'

इसलिए सबकुछ ठीक लगने पर भी मेरा प्रतिबन्ध कितना है, इसको तो साधक नहीं जानता है। ऐसी परिस्थिति में समाधान यही है कि शास्त्र और गुरुवाक्य पर विश्वास करके साधना में लगा रहे। यह धैर्य का मार्ग है, मानव-जीवन में हार मानने के लिए कोई स्थान नहीं है। साधक धैर्य रखेगा तो सफलता अवश्य मिलेगी।

जिज्ञासा :- मन्त्र-जाप के विभिन्न स्तरों में किन-किन कोशों की भूमिका रहती है? मन्त्र का अवसान कहाँ होता है?

समाधान :- वाचिक जप करते समय मन्त्र जप में प्राणमय कोश की भूमिका रहती है। उपांशु जप भी इसी कोश में होता है। मानस जप करते समय मन्त्र मनोमय कोश में दिखलाई देता है। जब हम मन्त्र के विषय में विचार करते हैं कि इसका अर्थ क्या है? ऋषि कौन हैं? देवता कौन है? छन्द कौन-सा है और इस मन्त्र में क्या भावना करनी चाहिए? तो ये सब विज्ञानमय कोश का काम है। बुद्धि विज्ञानमय कोश में है, इसीलिए जब हम मन्त्र के विषय में बुद्धि से विचार करेंगे तो वह विज्ञानमय कोश में ही होगा।

मन्त्र जप करते-करते जब हमारा तादात्म्य मन्त्र के साथ होजाएगा, गुरुमन्त्रदेवतात्ममनःपवनानामैक्यनिष्फलनाद् अन्तरात्मवित्तिः। (परशुरामकल्पसूत्र-१.११) गुरु, मन्त्र, देवता, जपकर्ता, मन और प्राण इन सभी का ऐक्य निष्पादन हो जाएगा, तब हमारी प्रतिष्ठा एक आनन्द में हो जाएगी और मन्त्र आनन्दमय कोश में चला जाएगा। वास्तव में ये सभी कोश जिसके आश्रय में रहते हैं, वह आत्मा है, ब्रह्म है, तो अन्त में मन्त्र भी ब्रह्मरूप हो जाएगा। अर्थात् मन्त्र का अवसान ब्रह्म में ही होता है।

जिज्ञासा :- मैं कई वर्षों से गायत्री-मन्त्र जप इसी भाव से कर रहा हूँ कि मुझे भक्ति प्राप्त हो, फिर भी मुझे कुछ विशेष अनुभूति क्यों नहीं हो रही है?

समाधान :- गायत्री मन्त्र के विषय में हम बार-बार कहते हैं कि यह मन्त्र अपने अधिकार का विचार करते हुए परम्परा से प्राप्त हुए बिना कोई सहायता नहीं कर सकता। इससे अच्छा तो तुम राम-राम, कृष्ण-कृष्ण जपा

करो। भगवान् के कई नाम हैं, कोई एक नाम लेकर भाव से उन्हें पुकारो। नाम-जप में अधिकार, परम्परा, विधि-विधान आदि का महत्व नहीं रहता, केवल भाव का महत्व रहता है।

यदि तुम समझते हो कि गायत्री-मन्त्र भगवान् का नाम है, तो उसे जपो, पर भगवान् को ठीक से पकड़ो। नियमित रूप से साधन करो। देखो, घड़ा पत्थर पर पटको तो वह फूट जाता है, पर एक जगह लगातार घड़े को रखते रहो तो पत्थर पर भी निशान बन जाता है। कुँए की रहट पर रस्सी की नियमित रगड़ से लोहा कट जाता है।

साधक का जीवन बहुत नियमित होना चाहिए, उसे एक-एक मिनट का हिसाब रखना चाहिए। रोज एक प्रकार से ही साधना करनी चाहिए, सतत सावधानी ही साधना है। भगवान् के भजन में कई वर्ष से लगा है, केवल भक्ति चाहता है और वह नहीं मिली - इसका अर्थ है उसके भाव में कुछ दोष है। ऐसा लगता है वह कुछ और भी चाहता है। यदि सम्पूर्ण जगत् की इच्छा छोड़कर मन भगवान् को पकड़ ले तो वे एक दिन में प्रसन्न हो जाते हैं। भाव ने जहाँ-जहाँ से जगत् को पकड़ा है, वहाँ-वहाँ से उसे छोड़ाओ - 'सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥ (मानस, सुन्दर.- ४७.३) जहाँ भी तुम्हारे मन का ममतारूपी तागा फैला है, उस तागे को धीरे-धीरे बटोरकर रस्सी बनाओ और उससे अपने मन को भगवान् के चरणों में बाँध दो, अनुभूति की बात उनपर ही छोड़ दो।

जिज्ञासा :- गायत्री-मन्त्र के जपकाल में किस वस्तु का आसन और कौन-सी माला ज्यादा फायदा करती है?

समाधान :- पहले तो मन्त्रजप और पूजा-पाठ के विषय में लाभ की चिन्ता छोड़ दो, कर्तव्य में लाभ की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। यदि किसी लाभ के लिए करोगे तो फिर बहुत-से प्रश्न आएँगे कि तुमने गुरु-परम्परा से शास्त्रानुसार

गायत्री-मन्त्र प्राप्त किया है अथवा नहीं? जिसके शिखा-यज्ञोपवीत नहीं है, उसको गायत्रीमन्त्र जपने का कोई अधिकार नहीं है। सकाम होने पर इस प्रकार का बहुत विचार करना पड़ेगा, केवल आसन और माला का विचार करने से काम नहीं चलता है। यदि तुम यह समझो कि हम कर्तव्यबुद्धि से भगवान् का नाम ले रहे हैं, तो बहुत चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं, जो आसन मिले उसी पर बैठकर जप कर लो। वैसे आसन के विषय में विचार करना हो तो सबसे नीचे कुशा का आसन, उसके ऊपर कम्बल और उसके ऊपर पतला कपड़ा रखना चाहिए, यह सामान्य नियम है। जो माला तुम्हारे पास है, उसी से जप करो, फायदे की बात छोड़ दो।

यदि गायत्री-मन्त्र से विशेष लाभ चाहिए तब तो पहले परम्परा से मन्त्र प्राप्त होना चाहिए, ऋषि, छन्द, न्यास आदि का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। इसके पश्चात् उसका विधिवत अनुष्ठान (पुनश्चरण) करना पड़ता है जिससे बहुत-से नियम रहते हैं, जिनका आजकल पालन करना बहुत कठिन है।

साधक-चर्या

जिज्ञासा :- साधक में अपने को सर्वभूतान्तरात्मा समझने की शक्ति कब आती है?

समाधान :- साधक को हमेशा सचाई स्वीकार करना चाहिए। जाननेवाले का नाम क्षेत्रज्ञ है और जो जाना जा रहा है वह क्षेत्र है। मैं तो जाननेवाला अर्थात् क्षेत्रज्ञ हूँ। विचार करो कि क्या मैं का अर्थ शरीर, इन्द्रिय या अन्य कुछ है? यदि मैं का अर्थ शरीरादि लेते हैं तो शरीर जाना रहा है, मन जाना जा रहा है और इन्द्रियाँ भी जानी जा रही हैं। इसलिए ये क्षेत्रज्ञ नहीं हो सकते। इस बात को बुद्धि से तो समझ लिया पर आपका अनुभव क्या है? मैं से ये सब शरीरादि उपाधियाँ स्पष्ट रूप से अलग हो जानी चाहिए, तब आप क्षेत्रज्ञ (व्यापक) हो जाएँगे।

जैसे, हजार घड़े पानी से भरके रख दिए जाएँ तो उनमें हजार सूर्य-प्रतिबिम्ब दीखने लगेंगे। उनमें से जो एक-एक घड़े का सूर्य है, उसको जब तक जल और घड़े का मोह रहेगा, तब तक वह उनको छोड़ना नहीं चाहेगा। यदि वह इस मोह को छोड़कर अपनी सूर्यरूपता को जान ले तो उसे यह बोध हो जाएगा कि सभी घड़ों में मैं ही हूँ, उसे अपनी व्यापकता का बोध हो जाएगा।

इसी प्रकार स्थूल शरीर घड़े के समान है, सूक्ष्म शरीर जल के समान है और इसमें जो आत्म-प्रतिफलन हो रहा है, यह सूर्य-प्रतिबिम्ब के समान है। उस आत्म-प्रतिफलन को जब तक स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर में मोह रहेगा, तब तक उसको व्यापकता का बोध उत्पन्न नहीं हो सकता। पहले इनका मोह छूटे तब विचार होगा कि मैं कौन हूँ? विचार करने पर जब उसे अपनी आत्मरूपता का बोध हो जाएगा तब उसे यही अनुभव होगा कि सभी भूतों में आत्मरूप से मैं ही स्थित हूँ। वह समझ जाएगा कि मैं सर्वभूतान्तरात्मा हूँ।

जिज्ञासा :- साधक को कैसे पता चले कि वह तत्त्व-चिन्तन का अधिकारी हो गया है?

समाधान :- यदि उसका मन तत्त्व-चिन्तन में लग रहा है तो वह

अधिकारी हो गया है। मैं कौन हूँ, और शास्त्र तत्त्व किसे बताता है, जब अन्दर से यह जिज्ञासा, यह तड़पन उत्पन्न हो जाए, तब समझ लेना चाहिए कि तत्त्व-चिन्तन की योग्यता उत्पन्न हो गई। अपनी योग्यता का पता स्वयं को ही लगेगा, दूसरे को नहीं। जैसे, कोई बालक अपनी माता को कहे कि ध्यान रखना मुझे जब शौच लगे तो बता देना। उसको बताने की क्या जरूरत है, अपने आप पता लग जाएगा। इसी प्रकार चिन्तन का अधिकारी है यह स्वयं ही पता लग जाता है।

जिज्ञासा :- ध्यान के समय आलस्य उभरकर आता है। इसकी निवृत्ति के लिए क्या करें?

समाधान :- जब तक तमोगुण प्रबल रहता है तब तक साधक ध्यानादि सात्त्विक साधना नहीं कर सकता है। ऐसा साधक सात्त्विक साधना आरम्भ करेगा तो उसे आलस्य आना या तन्द्रा में जाना स्वाभाविक ही है। इस विषय में साधक को स्वयं समझना पड़ता है कि जब तक उसकी वृत्ति तमःप्रधान है तब तक उसको ऐसी राजसी साधना करनी चाहिए जिसका मुख सत्त्व की तरफ हो।

साधक फलाकांक्षा से रहित होकर भगवान् की सेवा की दृष्टि से यदि झाड़ू भी लगाएगा तो आलस्य नहीं आएगा। अथवा कीर्तन आदि करे तो भी आलस्य से बचा रहेगा। पर वह ध्यान में बैठेगा तो आलस्य आएगा ही क्योंकि तमोगुण का नाश रजोगुण से होता है, सत्त्वगुण से नहीं। साधक यदि राजसी साधना शुरू करेगा तो उससे आलस्य में कमी होगी और धीरे-धीरे वह समाप्त हो जाएगा। इसके बाद रजोगुण का भी नाश करने के लिए सत्त्वगुण को बढ़ाना पड़ेगा और साथ में ध्यान का अभ्यास करना पड़ेगा। यह सब एक दिन में अथवा एकाएक नहीं होगा क्योंकि चित्त में अनन्त जन्मों के संस्कार रहते हैं, यह धैर्य का मार्ग है, धीरे-धीरे अभ्यास करना पड़ता है।

मैंने अनुभव किया है कि जब मैं भ्रमण करता था तब शरीर में कभी आलस्य आता ही न था। मैं लगातार चार घण्टे बैठा रहता था तो भी आलस्य नहीं आता था। एक जगह रहने से, खाने-पीने में व्यतिक्रम होने से आलस्य हो

सकता है। ऐसी स्थिति में उपरोक्त उपाय का सहारा लेना पड़ेगा। एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि इस समय सृष्टि में रजोगुण, तमोगुण का भोग चल रहा है, वातावरण आपको सहयोग देनेवाला नहीं है। आप परमेश्वर को आधार बनाए बिना साधना में आगे कैसे बढ़ेंगे? एक वातावरण ऐसा होता है, जिसमें व्यक्ति पहुँचे तो अपने-आप वृत्ति सात्त्विक हो जाती है, पर आज ऐसा वातावरण आपके पास नहीं है क्योंकि सब जगह रजोगुण और तमोगुण की प्रबलता है। आजकल भोजन आदि कोई भी वस्तु शुद्ध नहीं है। शास्त्र बताता है और लोक-प्रसिद्धि भी है - **जैसा खाये अन्न वैसा बने मन**। अतः व्यक्ति का मन ठीक नहीं रहता है।

इसलिए मैं बार-बार कहता हूँ कि प्रत्येक ग्रास में, प्रत्येक घूँट में आप मन्त्र का प्रयोग करिए। अपने भोजन को, जल पीने को यज्ञ बना लीजिए। भोजन को शुद्ध करने का आपके पास यही एकमात्र उपाय है। साधक ऐसा प्रयोग नहीं कर पाते हैं, इसलिए साधना में अड़चन ज्यादा रहती है। आज अन्य किसी उपाय से आप अन्न को शुद्ध कर नहीं सकते। आपके पास अन्न कहाँ से आ रहा है, कैसे आ रहा है, किस दृष्टि से आ रहा है, यह कोई मामूली बात नहीं है, बहुत विचारणीय है।

जिज्ञासा :- पहले के महात्मा साधन-भजन कैसे करते थे? आप तो उनके साथ रहे हैं, उनके विषय में अपना अनुभव बताइए।

समाधान :- पहले के महात्माओं में त्याग, वैराग्य, तितिक्षा आज के महात्माओं की अपेक्षा विशेष तौर पर अधिक देखी जाती थी। वे हृदय से बहुत सरल होते थे। शास्त्रपंक्ति लगाने में अधिक जोर नहीं देते थे, परन्तु जितना जाना उसको धारण करने का अभ्यास करते थे।

हमने उत्तरकाशी में देखा कि महात्मा लोग दिन भर अपने-अपने कमरे में भजन-ध्यान में बैठे रहते थे। दोपहर के भोजन के बाद परस्पर शास्त्रचर्चा करते थे, जिसको ज्ञानगुदड़ी कहते थे। उनमें जो विद्वान् महात्मा होता था वह बोलता था। जैसा उसने चिन्तन करके शास्त्रों का अर्थ निर्धारित किया होता, उसको वह बताता था। यदि उसमें कोई कमी रहती तो दूसरा महात्मा पूरी करता।

इस प्रकार हमने देखा कि तत्त्व के निर्धारण के लिए ही उनमें वाद होता था, फालतू बातें हमने कभी महात्माओं के बीच में नहीं सुनीं। सभी महात्मा एकान्तशील होते थे। उनमें दिखावा नाम की कोई चीज नहीं थी। ऐसा अनुभव स्वयं हमने पहले के महात्माओं के बीच में रहकर किया है।

जिज्ञासा :- मुमुक्षु साधक को किस प्रकार विचार करना चाहिए?

समाधान :- मुमुक्षा का अर्थ है - मुक्त होने की इच्छा। जिसमें मुमुक्षा है, उसे मुमुक्षु कहते हैं। अतः मुमुक्षु का अर्थ हुआ संसार से छूटने की इच्छावाला। यदि संसार से मुक्त होना चाहते हैं तो आपको संसार में कहीं से भी रस नहीं लेना चाहिए। जब तक संसार में कहीं भी सुख-बुद्धि है तो इसका मतलब यही है कि आप संसार से मुक्त नहीं होना चाहते हैं। संसार से मुक्त होने के लिए तीव्र वैराग्य की आवश्यकता है और वह संसार की वस्तुओं में दोष-दर्शन के बिना नहीं आ सकता है। हमारी ममतास्पद कोई वस्तु हमारे सामने जल रही हो और उसको देखकर हमारे मन में दुःख हो तो समझो मुमुक्षा अभी कच्ची है।

जिज्ञासा :- साधक के सामने जब विघ्न आता है तब उसे उसका दृढ़तापूर्वक तिरस्कार करना चाहिए अथवा सज्जनतापूर्वक उससे बचना चाहिए?

समाधान :- कामिनी, कांचन और कीर्ति इन तीनों को लेकर ही साधक के साधन-मार्ग में प्रायः विघ्न आता है। जो साधक आत्माभ्यास में लगा है, माया उसे अनात्माभिमुख करने की चेष्टा करती है। उस समय साधक को दृढ़तापूर्वक उसका तिरस्कार करना चाहिए। सज्जनता का वहाँ कोई काम नहीं है। यदि वह सज्जनतापूर्वक उससे बचने का प्रयास करेगा तो अवश्य ही फँसेगा। शिवजी की समाधि में विघ्न करने के लिए जब कामदेव आया तो उन्होंने उसे भस्म कर दिया। नीति भी यही कहती है कि शत्रु और अग्नि को छोटा समझकर छोड़ना नहीं चाहिए।

जिज्ञासा :- कहीं एकान्त में रहने का अवसर प्राप्त हो तो साधक को अपनी दिनचर्या कैसी बनानी चाहिए?

समाधान :- एकान्त में रहनेवाले साधक को बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। प्रायः साधक एकान्त में भजन करने के लिए जाते हैं परन्तु कई बार स्वतन्त्रता का दुरुपयोग हो जाता है। एकान्त में रहने से साधक के अन्दर छिपे हुए विकार बाहर आने लगते हैं, उनसे बहुत सावधान रहना पड़ता है। इसलिए साधक को चौबीस घण्टे अपनी साधना में व्यस्त रहना चाहिए, जिससे निठल्ले मन को मनोराज्य करने का मौका ही न मिले। कितने बजे उठना है, कितने बजे भजन के लिए बैठना है, कितने घण्टे भजन करना है इत्यादि सब निर्धारित करके प्रतिदिन की दिनचर्या बनाकर रखनी चाहिए और उसके अनुसार ही अपना सारा कार्य करना चाहिए।

ऐसे गाँव के पास रहना चाहिए जहाँ मधुकरी (भिक्षा) सुविधा से मिल जाए। यदि साधक को भगवान् पर पूरा भरोसा है तो उसको भोजन कहीं भी मिल सकता है। भोजन के बारे में अधिक नहीं सोचना चाहिए। आजकल देखा जाता है कि जड़ी-बूटियाँ खाकर काम नहीं चलता। दो-चार दिन चल सकता है, पर उसके बाद पेट में वायु इत्यादि की परेशानियाँ होने लगती हैं। कोई सोच लेता है कि हम चने खाकर रह लेंगे, परन्तु उससे भी बहुत दिनों तक काम नहीं चल सकता है। साधक के लिए भिक्षा करना ही उचित मालूम पड़ता है। एक निर्धारित समय पर गाँव में जाकर भिक्षा ले आए, भजन में बैठने के समय भिक्षा की चिन्ता नहीं होनी चाहिए।

साधना-काल में जो भी नियम बनाए अपने शरीर की क्षमता देखकर ही बनाए। एक महात्मा को हमने देखा - नियम ऐसा बना लिया कि दिन में बीस घण्टे भजन करेंगे। पहले दिन तो ठीक चला, दूसरे दिन से निद्रा सताने लगी। इसलिए इस विषय में सब विचार कर लेना चाहिए।

ऐसा भी सुना है कि एकान्त में वासना अधिक सताती है। इससे बचने के लिए साधक को दृढ़व्रती होना आवश्यक है। यदि शरीर से कभी अपराध हो जाए तो चौबीस घण्टे का उपवास रखे। वाणी से अपराध हो जाए तो मौन रहकर प्रायश्चित्त करे और मन से अपराध हो जाए तो प्राणायाम करके प्रायश्चित्त

करे। यदि कहीं एकान्त में रहना ही पड़े तो साधक को दिखावे और लोगों के साथ सम्पर्क से बचना चाहिए। इस प्रकार की सावधानियाँ एकान्तवासी साधक के लिए विशेष तौर से आवश्यक हैं।

जिज्ञासा :- आचार्य कोटि का सन्त बनना चाहिए या अवधूत कोटि का?

समाधान :- न अवधूत बनने का प्रयास करना चाहिए और न ही आचार्य बनने का। अवधूत या आचार्य बनना यह तो बाद की बात है जैसा संस्कार होगा वैसा हो जाएगा। साधक को अपना लक्ष्य प्राप्त करने का ही प्रयास करना चाहिए। यदि कुछ बनने की कोशिश करेंगे तो ढोंग हो जाएगा। अन्दर की स्थिति अवधूत बनने की नहीं है और बाहर से अवधूत बनने का स्वाँग कर रहे हैं तो ढोंग ही कहा जाएगा।

कपड़े के विषय में, रहने के विषय में, अधिक चिन्ता नहीं करनी चाहिए। जैसा मिल जाता है वही ठीक है। ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयास करना चाहिए और शास्त्र के अनुसार विचार करना चाहिए।

जिज्ञासा :- साधक को क्या सुनना चाहिए?

समाधान :- साधक को अपने काम की बात ही सुननी चाहिए, जो साधना के लिए सहायक हो उन्हीं बातों को सुनना चाहिए। इसके अतिरिक्त बातों से साधक को क्या लेना-देना है। किसी ने गाली दे दी या स्तुति कर दी उससे साधक को मतलब नहीं रहना चाहिए।

जिज्ञासा :- साधु को भ्रमण करने से क्या लाभ होता है?

समाधान :- भ्रमण करने से साधु को कुछ ऐसे अनुभव होते हैं जो शास्त्र पढ़ने से भी नहीं होते। भ्रमण करने से ईश्वर के प्रति निर्भरता बढ़ती है क्योंकि उसने अनुभव किया है कि मैं अपरिचित जगहों में भी भ्रमण करता हूँ फिर भी ईश्वर ने कभी मुझे भूखा नहीं रखा। दूसरी बात यह है कि वह यदि किसी स्थान में रहेगा तो कभी भी आगन्तुक साधु की उपेक्षा नहीं करेगा क्योंकि उसने अनुभव किया है कि आगन्तुक साधु की समस्या क्या होती है। इसलिये

वह किसी साधु के आते ही पहले पूछेगा कि भोजन किया या नहीं? तीसरी बात, उसे स्थान के प्रति कोई आसक्ति नहीं होगी। वह जब चाहे कमण्डलु उठाकर वहाँ से चल पड़ेगा। उसमें गर्मी-सर्दी सहने की क्षमता आ जाती है क्योंकि उसने सहन किया है।

पहले साधुओं में एक परम्परा थी, गुरु किसी को शिष्य बनाते तो उसे एक अचला (वस्त्र) और लंगोटी दे देते थे। फिर कहते थे, 'जाओ, भ्रमण करके आओ। गुरुमन्त्र का जप करना और किसी परिचित जगह में नहीं जाना। यदि परिचित जगह में ही जाना है तो पूर्वपरिचित को क्यों छोड़ा? पत्र-व्यवहार भी नहीं करना। रास्ते में जहाँ तीर्थ हो वहाँ स्नान एवं दर्शन करना। तीन रात्रि से अधिक एक स्थान पर ठहरना नहीं।' इस प्रकार जब शिष्य भ्रमण करके आता था तो उसमें वह योग्यता आ जाती थी जो शास्त्र पढ़ने वालों में भी नहीं होती। तब गुरुजी उसको उस स्थान का महन्त बना देते थे और स्वयं वह स्थान छोड़कर चले जाते थे। कहने का मतलब यह है कि भ्रमण करने से साधु के अन्दर एक ऐसी परिपक्वता आती है जो एक स्थान पर रहने से नहीं आ सकती।

जिज्ञासा :- प्रायः ऐसा देखा जाता है कि साधक जब घर से चलता है तो उसमें बहुत वैराग्य होता है, पर वह धीरे-धीरे क्षीण होता हुआ अन्त में समाप्ति की ओर चला जाता है। इससे बचने का क्या उपाय है?

समाधान :- साधक जब जगत् को छोड़कर परमेश्वर की ओर चलता है तो माया घबरा जाती है क्योंकि सभी जीव माया के पशु हैं। अपना पशु छूट जाए ऐसा कौन चाहता है! तब माया अपने पशु को पकड़ने का प्रयास करती है। पहले भिन्न-भिन्न प्रकार के भय उत्पन्न करती है जिससे वह घबरा जाता है। उसके मन में यह आता है कि इससे तो पहले ही भजन ठीक हो रहा था। उसका मन उधर से मोड़ देती है।

यदि वह भय से वश में नहीं हुआ तो कुछ चारा फेंक देती है अर्थात् सिद्धि दे देती है। सिद्धि से प्रसिद्धि हो जाती है। लोग उसको भगवान् मानने लगते हैं और साधक भी यह मान लेता है। प्रसिद्धि हो जाती है तो दुनिया इकट्ठी होने लगती है। तब रिद्धि आ जाती है। अब तो भारी समस्या हो जाती है। आश्रम

बनाओ, पाठशाला बनाओ, हॉस्पिटल बनाओ, इन सब में ही वह लग जाता है। अब माया सोचती है कि पशु मेरे घरे में आ गया।

यद्यपि आश्रम इत्यादि शुभ कर्म हैं, इनकी हम कोई आलोचना नहीं करते हैं, पर लक्ष्य की दृष्टि से तो बाँध ही गए क्योंकि हमारा लक्ष्य तो **त्यज धर्ममधर्म च उभे सत्यानृते त्यज।** धर्म और अधर्म, सत्य और मिथ्या दोनों को ही त्यागना है। इतना ही नहीं उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज। (महाभारत, शान्ति.-३२९.४०) सत्य और मिथ्या दोनों को त्यागकर जिस अहंकार से इनका त्याग किया है उसका भी त्याग करना चाहिए।

इसलिए साधक को इन बातों से बहुत सावधान रहना चाहिए। घराने की कोई बात नहीं है। बस, परमेश्वर को आश्रय बनाए। अपना हर हिसाब परमेश्वर के चरणों में समर्पित करे। यम-नियम में प्रतिष्ठा के बिना योगसाधना नहीं हो सकती और आजकल के लोगों में यम-नियम आदि का अभाव है। आज का व्यक्ति साधन-चतुष्टय से रहित होनेके कारण वेदान्त को पचा नहीं सकता और कामाधिक्य के कारण धर्म पर आरुढ़ हो नहीं सकता। इसलिए साधक भगवान् के चरणों को दृढ़तापूर्वक पकड़ने से ही बच सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

जिज्ञासा :- गुरुकृपा और ईश्वरकृपा से ही भगवत्प्राप्ति होती है तो क्या साधक के प्रयास की आवश्यकता नहीं रहती?

समाधान :- गुरुकृपा और ईश्वरकृपा भगवत्प्राप्ति में अवश्य ही हेतु हैं, पर साधक का प्रयास अत्यन्त आवश्यक है। यदि साधक का प्रयास शिथिल है तो गुरुकृपा या ईश्वरकृपा भी कुछ नहीं कर सकती। जैसे, कोई कमजोर पशु बैठा हुआ है, यदि वह उठने का प्रयास करे, तो लोग उसको पकड़कर उठा देते हैं। परन्तु यदि वह अपना बल न लगावे तो उसे कोई भी नहीं उठा सकता है। इसलिए साधक को अपनी मुमुक्षा कमजोर नहीं करनी चाहिए। यदि साधक अपना पूरा प्रयास करेगा तो गुरुकृपा और ईश्वरकृपा मिलकर उसको उठा लेंगी। इसलिए प्रयास तो साधक को ही करना पड़ेगा।

जिज्ञासा :- कोई साधक आत्मानुसन्धान के प्रयास में साधना काल में देखता है कि आश्रम की सेवा (व्यवहार) करने के कारण राग-द्वेष उसकी साधना में प्रतिबन्धक बनते हैं। अभ्यास के द्वारा कुछ समय तक साक्षी भाव का बोध तो होता है, लेकिन यह सदा नहीं बना रहता है। राग और द्वेष आ ही जाते हैं। सदा के लिए आत्म-स्वभाव में जागृति कैसे हो?

समाधान :- सेवा करनेवालों को दो बातें विशेषकर ध्यान में रखनी चाहिए। पहली बात तो यह कि साधक को अपना लक्ष्य भूलना नहीं चाहिए। दूसरी, अपनी मुमुक्षा को कमजोर नहीं होने देना चाहिए। व्यक्ति सेवा में लगता तो शुद्ध भाव से ही है, परन्तु सेवा के साथ-साथ एक ऐसा वातावरण बनता है जिसमें साधक को रस आने लगता है, यही आसंग-दोष है। इससे बचना चाहिए। इसके लिए सावधानी आवश्यक है। आपकी सेवा प्रत्येक क्षण ईश्वर में समर्पित होनी चाहिए। शुरू में ही साक्षी भाव नहीं आएगा, बहुत काल लगेगा। इसलिए जो भी हमारी सेवा है उसका सम्बन्ध ईश्वर-तत्त्व से अवश्य रखना चाहिए। यदि साधक को सेवा में कहीं रस या विपरीत अनुभव हो रहा है, तो उसे प्रतिदिन २४ घण्टे की अपनी क्रिया का अनुसन्धान करके ईश्वर के चरणों में समर्पित करना चाहिए।

दूसरी बात, ध्यान देना चाहिए कि आप बाजार में जाते हैं और अपने काम की वस्तु को लेकर चले आते हैं। वहाँ क्या-क्या वस्तुएँ बिकती हैं, इस झगड़े में आप कभी नहीं पड़ते क्योंकि बाजार में ये ही चीजें बिकने आएँ, ये न आएँ, इसका निराकरण आप नहीं कर सकते। वहाँ आपको उदासीनता धारण करनी ही पड़ती है। कौन क्या किस दृष्टि से करता है? हम कैसे समझें, हम सर्वज्ञ तो नहीं हैं। जगत् का व्यवहार बहुत कठिन है। इसलिए साधक को उतने ही व्यवहार का ध्यान रखना चाहिए जितने से उसका काम चल सके।

आजकल तो भक्त लोग ही महात्माओं को सिद्ध घोषित कर देते हैं। जैसे वोट देकर सरकार बनाते हैं, वैसे ही महात्माओं को भी भगवान् या सिद्ध घोषित कर देते हैं और स्वार्थ पूरा नहीं हुआ तो असिद्ध भी घोषित कर देते हैं, कभी-कभी गिरा भी देते हैं। साधक को इनसे सर्टिफिकेट लेने का भी प्रयास नहीं करना चाहिए। इनके सर्टिफिकेट से तुम कभी सिद्ध नहीं होनेवाले हो।

इसलिए इनके सम्बन्ध से मन में जो आसंग बनता है, उससे साधक को सावधान रहना चाहिए। इस प्रकार यह व्यावहारिक सावधानी रखकर आश्रम की सेवा के साथ-साथ साधना करते हुए धीरे-धीरे साक्षी भाव में प्रतिष्ठित होने का बल आ जाता है।

जिज्ञासा :- साधक को भ्रमण किस प्रकार करना चाहिए?

समाधान :- साधक को कुछ नियम लेकर भ्रमण करना चाहिए।

- १) उसको किसी प्रकार का पैसे आदि का परिग्रह नहीं रखना चाहिए। यात्रा के मध्य पैसे मिलने पर भी नहीं लेने चाहिए।
- २) परमेश्वर के आश्रित रहना चाहिए।
- ३) किसी से व्यर्थ बातें नहीं करनी चाहिए।
- ४) किसी से सम्बन्ध नहीं बनाना चाहिए, समय पर भिक्षा ले ले इतना मात्र सम्बन्ध रखे।
- ५) किसी स्थान में जाकर वहाँ से विशेष सुविधा की इच्छा न करे। समय पड़ने पर पेड़ के नीचे ही रात बिता दे।
- ६) सतत अपने स्वरूप के अनुसन्धान में लगा रहे।

इन नियमों के पालन के लिए साधक में आन्तरिक ताकत होनी चाहिए। परिभ्रमण के विषय में बहुत पहले एक महात्मा ने हमें बताया था - 'तीर्थ-भ्रमण करना हो तो १) पैसा नहीं रखना, २) किसी सम्बन्धी से पत्र या फोन का व्यवहार नहीं करना, ३) किसी परिचित के यहाँ जाना नहीं, ४) ट्रेन आदि में बिना टिकट नहीं चलना।' उनकी बातों को मानकर हमने काफी परिभ्रमण किया। हमें यह अनुभव हुआ कि महात्मा की बताई बातें पालन करने में भले ही कठिन हों, पर उनका पालन करने से हमें बहुत बड़ा आधार मिला। हमने अनुभव किया कि इस प्रकार के भ्रमण से साधक के जीवन ईश्वर-निर्भरता बहुत बढ़ जाती है, उसके भीतर का भय निकल ही जाता है। वह कहीं भी यात्रा में जब चाहे चल देता है, उसके मन में विकल्प नहीं होता कि कैसे जाएँ, क्या होगा?

जिज्ञासा :- यदि किसी ब्रह्मचारी को गुरुस्थान में विक्षेप हो रहा है तो उसे क्या करना चाहिए? क्या ब्रह्मचारी को भ्रमण करना चाहिए?

समाधान :- वह सहन कर ले तो अच्छा है। सहन करना सबसे बड़ा तप है, तप सहने-व्याकरण में तप धातु सहन करने के अर्थ में है। यदि वह सहन नहीं कर पाता है तो कुछ समय के लिए अन्यत्र चला जाए और उस विक्षेप को दूर करके फिर आ जाए।

ब्रह्मचारी का जीवन सेवा और विद्यार्जन प्रधान होता है क्योंकि यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो आगे किसके आधार पर घूमेगा या रहेगा। यदि सेवा आदि नहीं कर पा रहा है तो कुछ दिनों के लिए उसे परिभ्रमण कर लेना चाहिए।

जिज्ञासा :- न शब्दशास्त्रेऽभिरतस्य मोक्षो ...। यहाँ पर शास्त्रों में अभिरत रहनेवाले का मोक्ष नहीं होगा ऐसा क्यों कहा जबकि अन्य स्थानों पर शास्त्र को ज्ञान का मुख्य हेतु बताया है? मोक्षार्थी का ठीक-ठीक लक्षण क्या है?

समाधान :- शास्त्र के शब्दों में ही कोई लगा रहे पर उनका तात्पर्य समझने का प्रयास न करे तो क्या होगा? गीता, उपनिषद् आदि याद करके पण्डित हो जाए, लोग सम्मान करें, पर शास्त्र के तात्पर्य को समझने का प्रयास न करे तो उसका मोक्ष नहीं होगा। काशी में एक अध्यापक बड़े विद्वान् थे। शास्त्रों को बहुत अच्छी तरह पढ़ाते भी थे, पर कहते थे मैं भौतिकवादी हूँ। मेरा विश्वास विषयों में है शास्त्र में नहीं। मैंने केवल शब्दशास्त्र का ही ज्ञान प्राप्त किया है, इनका तात्पर्य मेरा लक्ष्य नहीं है। वे कहते थे, 'देखो, रामकृष्ण परमहंस कौन-सा शास्त्र पढ़े थे? पर शास्त्र जो लक्ष्य बताता है वही उनके जीवन का लक्ष्य था।' कहने का तात्पर्य यह है कि शास्त्रों के शब्दों में ही उलझे रहें उनके तात्पर्य को न समझें और न उसे अपने जीवन का लक्ष्य बनाएँ तो ऐसे शास्त्रज्ञान से मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती। इस पर आपस्तम्ब स्मृति में कहा है -

न शब्दशास्त्रेऽभिरतस्य मोक्षो न चैवम्यावसथप्रियस्य।

न भोजनाच्छादनतत्परस्य न लोकचित्तग्रहणेरतस्य॥

कोई व्यक्ति खाने-पीने-रहने की सुविधा में ही लगा हो, जगत् में प्रीति

बढ़ाता जाए और वहाँ से रस लेता रहे तो वह उसके मोक्ष में प्रतिबन्ध ही है। फिर मोक्ष किसका होगा? इसके लिए वहाँ कहा -

एकान्तशीलस्य दृढव्रतस्य मोक्षो भवेत् प्रीतिनिवर्तकस्य।
अध्यात्मयोगे निरतस्य नित्यं मोक्षो भवेद् नित्यमहिंसकस्य॥

एकान्तवास के स्वभाववाला और दृढव्रती ही मोक्ष का भागी होता है। मोक्षार्थी के लिए दृढव्रती होना अनिवार्य है। यह कमजोरों का मार्ग नहीं है। मोक्षार्थी को नित्य अध्यात्मयोग में ही रत रहना चाहिए, जगत् की चर्चा करनेवाले का यह मार्ग नहीं है। मोक्ष चाहनेवाले को सदा पूर्णरूप से अहिंसा धर्म का पालन करना पड़ेगा। यह जो आसङ्ग है कि लोग कैसे हमारी तरफ आकर्षित हों, ऐसी जो अन्दर वासना है, वह बड़ा रस देती है। इस वासना की उपेक्षा हो जानी चाहिए, यही है प्रीतिनिवर्तकस्य का तात्पर्य। उपरोक्त लक्षण यदि किसी में घटते हैं तो समझना चाहिए कि वह मोक्षार्थी है।

जिज्ञासा :- साधक की परमार्थ-मार्ग में प्रगति कैसे हो?

समाधान :- एक बात समझकर रखो कि ईश्वर के सामने दिखावे से काम नहीं चल सकता क्योंकि वह अल्पज्ञ नहीं है। वह तुम्हारे मन की हर वृत्ति को जानता है। इसलिए उसके सामने भाव और सचाई से ही काम चलेगा, झुठलाई से नहीं। परमार्थ मार्ग में किसी को बढ़ना हो तो यह सचाई स्वीकार करनी होगी कि यह शरीर ईश्वर ने दिया है, उसने ही हमारे कल्याण के लिए शास्त्र बनाया है। शास्त्र उसकी आज्ञा है हमें अपने मन को महत्व न देकर उसकी आज्ञा को ही महत्व देना चाहिए। साधक जब शास्त्र को मानेगा तो उसका जीवन धर्म और ईश्वर के आधार पर खड़ा होगा। वह जब तक धर्म और ईश्वर का आधार नहीं लेता तब तक उसका परमार्थ बनने की कोई गुंजाइश नहीं है क्योंकि मन जहाँ चाहेगा वहीं व्यक्ति को ले जाएगा।

साधक इस बात को समझे कि जो हमारा श्वास चला रहा है, इतना विलक्षण शरीर जिसने बनाकर दिया और बुद्धि दी, उससे बड़ा हमारा सम्बन्धी और हितैषी अन्य कोई नहीं है। जब व्यक्ति मन के आधार पर रहता है तो वासना-प्रधान होता है और धर्म के आधार पर रहता है तो कर्तव्य-प्रधान होता

जाता है। जब जीवन का आधार ईश्वर बनेगा तो भगवन्नाम, मन्त्र और गुरु का महत्व बढ़ जाएगा। यदि वह ईश्वर और गुरु का आश्रय लेकर जीवन-युद्ध लड़ेगा तो अन्त में उसकी विजय होगी। साथ ही राग-द्वेष और निन्दा-स्तुति की जो आदत पड़ी हुई है, उसे सुधारना पड़ेगा। इसके लिए सन्तों का सत्संग सुनना आवश्यक है। ग्राम्य-कथा का विघात तो सत्संग में ही होगा। ईश्वर का नाम और प्रार्थना ये जीवन में धारित हो जाएँ तो निश्चित ही वह परमार्थ मार्ग में आगे बढ़ेगा।

जिज्ञासा :- साधक जब घर छोड़ता है तो क्या उसे एकान्त में रहना चाहिए?

समाधान :- राजा भर्तृहरि का भांजा गोपीचन्द जब वैराग्य से घर छोड़कर जा रहा था तब उसकी माता ने उपदेश दिया था - 'बेटा, किले में रहना, मखमल के गद्दे पर सोना और हमेशा अमृत का भोजन करना।' गोपीचन्द ने पूछा, 'माता, वहाँ किले में कैसे रहूँगा?' उसने कहा, 'किला है साधु-समाज, उसके बीच में रहोगे तो सुरक्षित रहोगे, मन में कुछ गलत आया भी तो तुम्हारे साथ एक घेरा रहेगा जिससे गलत कार्यों से बचे रहोगे।' फिर पूछा, 'माता, गद्दा कैसे मिलेगा?' तो जवाब दिया, 'तुम सोने की चिन्ता ही मत करना। अपने साधन में पूर्ण प्रयत्न से लगे रहना। जब थककर लेटोगे तो चाहे मिट्टी में लेटो या पत्थर पर ऐसी निद्रा आएगी मानो मखमल के गद्दे पर सोए हो।'।

गोपीचन्द ने फिर पूछा, 'माता, भिक्षा में तो सूखी रोटी मिलेगी। वहाँ अमृत कहाँ मिलेगा?' जवाब मिला, 'जब खूब भूख लगे, तभी भोजन करना, उस समय सूखी रोटी भी अमृत के समान ही लगेगी।' हमारा कहना है कि नया साधक यदि अभी कमजोर है, तो साधुओं के बीच में रहे, परिपक्व होने पर एकान्त में रह सकता है। परन्तु वहाँ इतना ध्यान रखे कि समय का ठीक-ठीक सदुपयोग हो सके।

*एक और बात है कि कई चीजें दूर से अच्छी मालूम होती हैं, परन्तु वस्तुस्थिति भिन्न होती है। वनवास काल में रामजी, सीताजी और लक्ष्मणजी

के साथ चित्रकूट में ठहरे हुए थे। कन्द-मूल, फल, लकड़ी आदि लक्ष्मणजी जंगल से ले आते थे। सीताजी कुटी के बाहर लीपना, भोजन बनाना आदि सब काम कर लेती थीं। रामजी बैठकर ऋषियों से सत्संग करते थे। कुछ तपस्वियों के मन में आया कि हम लोग अकेले रहते हैं। कन्द-मूल लाना, चूल्हा जलाना, झाड़ू लगाना यह सब काम करने में हमारा बहुत समय बीत जाता है। इससे तो रामजी का गृहस्थाश्रम ही अच्छा है। पत्नी सब काम कर लेती है और स्वयं बैठकर सत्संग करते हैं। पर अब यदि विवाह करना चाहें भी तो हम तपस्वियों को कौन अपनी कन्या देगा? तो किसी ने कहा - सुना है रामजी के चरणस्पर्श से एक पत्थर स्त्री (अहिल्या) बन गया, हम लोग भी एक-एक पत्थर लेंगे और मौका देखकर इनका चरणस्पर्श करा देंगे। वे सब स्त्री बन जाएँगे तो हमारा भी काम बन जाएगा।

यह योजना बनी ही थी कि कुछ दिन में सीताहरण हो गया तो रामजी अज्ञानियों के समान रोने लगे। जब ऋषियों ने उनसे रोने का कारण पूछा तो बोले जो गृहस्थ होगा उसे तो रोना ही पड़ेगा। अब सभी तपस्वियों ने अपना-अपना पत्थर फेंक दिया। इसी प्रकार दूर से मालूम पड़ता है कि एकान्त में बहुत सुविधा होगी, पर वास्तविकता कई बार इससे भिन्न भी होती है। यह सब विचार एकान्त में रहने से पहले करना चाहिए। यदि भगवान् पर दृढ़ भरोसा और तितिक्षा है, तो साधक एकान्त में रह सकता है।

जिज्ञासा :- शुरु में साधक घर से भगवत्प्राप्ति की दृष्टि से ही निकलता है। पर जब वह आश्रम में पहुँचता है तो देखता है कि जो साधु भागवत-वेदान्तादि की कथा करते हैं उन्हीं का ही सम्मान और महत्व है तो उसके मन में भी कथा करने और आश्रम बनाने की वासना जाग जाती है। पहले का वैराग्य शिथिल पड़ जाता है। आज के युग में इस समस्या से साधक कैसे बचे?

समाधान :- यदि ऐसी वासना मन में आ रही है, तो इसका अर्थ है कि जब साधक घर से निकला तब भी यह वासना उसके मन में थी, परन्तु प्रकट

नहीं थी। आश्रम में उसके अनुकूल वातावरण मिलने से प्रकट हो गयी। अच्छा ही हुआ जो आपने अन्दर बैठे हुए चोर को जान लिया, अन्यथा वह आगे चलकर आपके मार्ग में बाधक बनता। यदि भागवत, उपनिषद् आदि पढ़ने से यह वासना दूर होती है तो पढ़ने में कोई दोष नहीं।

हम जब साधु बने थे तो विचार था पढ़कर क्या करना है, हम तो तपस्या और भजन करेंगे। तब पुराने महात्मा समझाते थे, 'अभी तो तुम वैराग्य के जोश में ऐसा बोल रहे हो, पर यदि बीस वर्ष बाद मन में आए कि संस्कृत पढ़ा होता तो थोड़ा भागवत, उपनिषद् का स्वाध्याय कर लेता, तब क्या करोगे? यदि अभी पढ़ लोगे तो बाद में ऐसा विकल्प नहीं आएगा।' मन की वासना पकड़ में आ गई, अच्छा ही हुआ। उसकी निवृत्ति के लिए पढ़ना ठीक है पर यह ध्यान में रहे कि पढ़ने का सम्बन्ध जगत् से नहीं बनाना। भागवत में भी अनेक श्लोक वैराग्य और ज्ञानपरक हैं उनके ठीक चिन्तन से वासना दूर हो सकती है।

साधक को यह समझना चाहिए कि दुनिया के सर्टिफिकेट से तुम योग्य नहीं बनोगे। भगवान् की दृष्टि में ठीक हो तभी योग्य बनोगे। दुनिया के वोट से सरकार भले ही बन जाती है, परन्तु परमार्थ में दुनिया के वोट से काम होनेवाला नहीं है। अतः साधक को दुनिया से मिलनेवाले मान-सम्मान में थोड़ी भी महत्वबुद्धि नहीं रखनी चाहिए।

एक बात और ध्यान देने की है कि बाजार में बहुत चीजें होने पर भी आपके काम की वस्तु पर ही आप दृष्टि रखते हैं, यह सब क्यों बिक रहा है- इस विषय में झगड़ा नहीं करते। इसी प्रकार आश्रम में जो कुछ हो रहा है सबके ग्राहक आप नहीं हैं। वहाँ कुछ नौकर पैसे के सम्बन्ध से जुड़े हैं, कुछ भक्त अपनी समस्याओं के समाधान के लिए जुड़े हैं, तो कुछ लोग किसी अन्य स्वार्थ से। आपको देखना है कि आपके लक्ष्य में सहायक सामग्री आश्रम में मिलती है या नहीं? यदि मिलती है तो आपको उसी पर केन्द्रित होना चाहिए। वहाँ उपलब्ध साधन का अधिकाधिक सदुपयोग करना चाहिए और जब लगे कि हमारे लक्ष्य की प्राप्ति के अनुकूल वातावरण नहीं है तो वहाँ से चल देना चाहिए।

जिज्ञासा :- एक साधक गुरुस्थान में रहकर सेवा करता है। यदि उसे लगे कि स्थान के प्रति या किसी व्यक्ति अथवा वस्तु-विशेष के प्रति उसका राग बढ़ रहा है तो वह क्या करे? क्या वह स्थान छोड़कर चला जाए?

समाधान :- पहले उसको यह विचार करना चाहिए कि कहीं हमारा मन धोखा तो नहीं दे रहा है। साधक गुरुस्थान से जाएगा तो कहीं परिचित जगह जाएगा या किसी अपरिचित क्षेत्र में। परिचित क्षेत्र में उसका सम्बन्ध होता है, वहाँ कुछ व्यवहार करेगा तो राग फिर हो सकता है। यदि ऐसा है तो उसको थोड़ा धैर्य धारण करके आश्रम में ही रहना चाहिए और ऐसा विचार करना चाहिए कि हमारा सम्बन्ध सिर्फ गुरु से है, किसी वस्तु या व्यक्ति-विशेष से नहीं है। फिर भी यदि वहाँ राग अधिक हो रहा है और विचार करने पर भी नहीं कटता तो उसे कुछ समय के लिए वहाँ से अन्यत्र किसी अपरिचित स्थान में चले जाना चाहिए।

हम भी कई बार गुरुस्थान छोड़कर बाहर गये हैं। जब देखते थे कि यहाँ हमारे समय का सदुपयोग नहीं हो रहा है तो चुपचाप किसी अपरिचित क्षेत्र में चले जाते थे। वहाँ पर गुरुस्थान तथा बाहर की परिस्थितियों का तुलनात्मक विचार करके अनुकूलता देखने पर फिर बाद में गुरुस्थान पर आकर सेवा करते थे।

गुरु के प्रति राग होना तो ठीक है, परन्तु अन्यो के प्रति राग होना उचित नहीं। यदि राग की समस्या है, समय का सदुपयोग नहीं हो पा रहा है, अध्यात्म में ऊपर नहीं उठ पा रहा है तो उस व्यक्ति को किसी अपरिचित क्षेत्र में जाना चाहिए जहाँ वह ठीक से विचार कर सके और चाहे तो फिर आ जाए। मेरा तो यही कहना है कि विक्षेप करके आश्रम से नहीं जाना चाहिए अन्यथा बाहर भी विक्षेप होगा।

एक पुरुष की पत्नी को सबसे बातें करने की आदत थी, मिलनसार थी, सबसे व्यवहार बनाकर रहती थी। इस बात से पति को बड़ा विक्षेप होता था। अन्त में उसने कहा कि हम यह शहर ही छोड़ देंगे, तब पत्नी ने पति से पूछा, 'आप अकेले जाएँगे या मुझे भी साथ ले जाएँगे?' पति ने कहा, 'तुम्हारे ही कारण तो जा रहा हूँ, अकेले क्यों जाऊँगा?' पत्नी बोली, 'मेरा स्वभाव तो तब भी वही रहेगा, वहाँ फिर यही समस्या हो जाएगी। इसलिए जो कुछ कहना है मुझे

यहीं कहो। मैं अपने में जितना सुधार कर सकती हूँ उतना करूँगी।' इसी प्रकार साधु विक्षेप से कहीं जाएगा तो उसका मन तो वही रहेगा, जहाँ जाएगा वहीं विक्षेप करेगा। सुधारना मन को ही है, यदि वह नहीं सुधरा तो जहाँ जाएगा वहीं समस्या पैदा करेगा। इन सब बातों का विचार करके ही व्यक्ति को निर्णय करना चाहिए।

हाँ, जाना है तो विचार और विवेक से जाओ। किसी दूसरी जगह भजन ठीक से होता है तो अवश्य जाओ। साधु का व्यवहार परमार्थ के लिए है, जगत् के लिए नहीं। दूसरी बात, मैं परमेश्वर की, गुरु की सेवा कर रहा हूँ, इतना ही मन में रखे और गुरु-मन्त्र का चिन्तन सेवाकाल में करता रहे तो व्यक्ति राग से बच सकता है। यदि कहीं और रस लेने लगे तब तो मुश्किल होगी ही।

जिज्ञासा :- मैंने इतने वर्षों से जीवन की नीरसता और व्यर्थता को अन्दर और बाहर से महसूस किया है। अब एक साधक का जीवन व्यतीत करना चाहती हूँ। मन में एक भय है कि संसार की शक्तियाँ मुझे दूसरी ओर खींच लेंगी? भयमुक्त होकर साधक जीवन कैसे व्यतीत करूँ?

समाधान :- यदि ऐसा भय है तो अभय जो परमात्मा है उनके चरण जोर से पकड़ो, प्रार्थना तत्त्व और नाम-स्मरण को पकड़ो, मन्त्र-स्मरण को बढ़ा दो और हमेशा भगवान् को सच्चे मन से पुकारते रहो। भगवान् तो सक्षम है, उसीको पकड़ लो तो साधक-जीवन व्यतीत करने में समर्थ हो जाओगी।

जिज्ञासा :- क्या साधक को दूसरों के कष्ट-निवारण करने के लिए प्रयास करना चाहिए?

समाधान :- साधक को ऐसे चक्कर में कभी नहीं पड़ना चाहिए। जब हम एक लक्ष्य की ओर चल रहे हैं और बीच में दूसरों पर दयावश उनके ही काम करने लगें तो हमारा लक्ष्य ही छूट जाएगा। इसीलिए संन्यास अपेक्षित होता है, वहाँ आपका लक्ष्यप्राप्ति के अलावा अन्य कोई कर्तव्य नहीं है। दूसरी बात, अन्य के कष्ट निवारण के लिए आप प्रयास करेंगे तो सफलता तभी मिलेगी, जब जितना बड़ा उसका प्रतिबन्ध है उतना पुरुषार्थ आप कर लें। यदि उसका प्रतिबन्ध बहुत बड़ा है तो आपको निराश भी होना पड़ सकता है और

कहीं उसी के लिए जीवन झोंक देंगे तो आपका लक्ष्य ही छूट जाएगा।

इसलिए साधक को इस चक्र में न पड़कर अपनी साधना में निष्ठा लगे रहना चाहिए। इसी में सारी समस्याओं का समाधान है। यदि साधना आपमें शक्ति आ गई तो आपके अन्दर किसी के प्रति थोड़ा भी संकल्प हो जा तो अपने आप उसका कार्य सिद्ध हो जाएगा। आपको उसके लिए जप-आदि कोई प्रयास नहीं करना पड़ेगा। मेरा कहना यही है कि ये सब विचार साधन में विघ्न हैं। आपको अपने लक्ष्य के प्रति ही अभिमुख होना चाहिए। आपके संकल्प के बिना भी आपसे बहुत लोग लाभ ले सकते हैं। नर्मदा का जल निरन्तर समुद्र की ओर बढ़ रहा है उसे दूसरी ओर देखने की जरा भी फुर्सत नहीं है। उसने लोग अपने-अपने ढंग से लाभ भी ले रहे हैं। ऐसे ही जो परमार्थ मार्ग का साधन है उसके जीवन से दूसरों को स्वतः ही लाभ हो जाता है, उसे अलग से संकल्प करने की अपेक्षा नहीं है।

जिज्ञासा :- उदासीन की तरह कैसे रहें?

समाधान :- उत् माने ऊपर, आसीन माने बैठ जाना। अतः उदासीन शब्द का अर्थ हुआ - जैसे ऊपर बैठा जाता है, वैसे बैठ जाना। अर्थात् आप गुणों से ऊपर उठ जाएँ। सत्त्व, रज और तम इन गुणों से और उनके कार्यों से आप चलायमान या विचलित न हों। जैसे कोई दूर बैठकर खेल देखता है, वैसे ही आप भी साक्षी की तरह जगत् का खेल देखते रहो। यही उदासीन की तरह रहना है।

जिज्ञासा :- एक अवस्था में जो साधक के अनुकूल होता है, कभी अन्य अवस्था में प्रतिकूल क्यों बन जाता है? प्रायः साधक का साधन के प्रति ही राग बढ़ जाता है जिससे साधना में आगे नहीं बढ़ पाता, ऐसे में वह क्या करे?

समाधान :- एक ही वस्तु कभी अनुकूल तो कभी प्रतिकूल, यह जगत् का नियम है, इसमें कोई विशेष बात नहीं है। वर्तमान में मेरे लिए अनुकूल है, इसका निर्णय साधक को ही करना पड़ेगा। जैसे, सर्दी में अनुकूल लगती है और गर्मी में प्रतिकूल हो जाती है। भूख लगने पर

अनुकूल मालूम पड़ता है, पर यदि बुखार हो तो वही प्रतिकूल प्रतीत होता है। घर में छोटा बच्चा माँ को परेशान करता है तो वह कहती है - थोड़ा बच्चों के साथ खेल आ। परन्तु जब उसका नाम स्कूल में लिखवा दिया तब वही माँ उसे डाँटती है कि तू खेलता ही रहेगा या पढ़ेगा भी। खेलने का पहले विधान किया, बाद में उसी का निषेध करती है।

जब बच्चा बड़ा हो जाए और पढ़ता ही रहे तो कहेगी कि तुम पढ़ते ही रहोगे या कुछ कमाओगे भी? एक समय पढ़ने का विधान होता है, फिर उसी का निषेध भी हो जाता है। वही व्यक्ति जब वृद्ध हो जाता है तो उसके लड़के कहते हैं, 'अब क्यों काम में लगे हो? हम तो सब सम्भाल ही रहे हैं, आपको तो भजन करना चाहिए।' सरकार भी बुढ़े को रिटायर कर देती है।

इसी प्रकार कोई साधक माला लेकर जप करने बैठता है, पर यदि उसका मन इधर-उधर भागता रहे तो उसे सेवा अथवा शास्त्रीय धर्मानुष्ठान में लगना चाहिए। यह भी ध्यान रखे कि कर्म का किसी रस से सम्बन्ध न बने। कर्म करते-करते जब ध्यान या जप में बैठने की योग्यता आ जाए, तब कर्म को छोड़ना पड़ेगा, कर्मासक्ति भी नहीं होनी चाहिए। **कर्ममार्ग में तीन बन्धन हैं - फलाभिसन्धि (फलेच्छा), अहंकार और कर्मासक्ति।** साधन के द्वारा प्रायः किसी भी फल की इच्छा नहीं होनी चाहिए, साथ ही साधन करने का अहंकार भी नहीं होना चाहिए। समझना चाहिए कि परमेश्वर ही करवा रहा है, मुझमें क्या शक्ति है? साधन के प्रति आसक्ति भी नहीं रहनी चाहिए। नौका से नदी पार कर ली और नौका से उतरना ही न चाहो तो उस पार कैसे पहुँचोगे? साधक इन तीन बन्धनों से बचकर कर्म करे तो वही कर्मयोग हो जाएगा।

जब साधक लक्ष्य को भूल जाता है तभी प्रमाद होता है। साधन में ही रस लेने लगता है, बीच के पड़ाव की सुविधाओं में फँस जाता है। यदि साधक लक्ष्य को हमेशा ध्यान में रखे तो सुविधाओं में नहीं फँसेगा। उसे विचार करना चाहिए कि हमने घर सुविधाओं के लिए छोड़ा है अथवा ईश्वर-प्राप्ति के लिए? मनुष्य-शरीर का लक्ष्य भोग है या मोक्ष?

एक बार नारदजी पृथ्वी पर विचर रहे थे, सपों ने उनसे कहा कि हम बहुत दुःखी हैं। मनुष्य हमें शत्रु मानता है, दिन में आहार की खोज में निकलते

हैं तो हमको देखते ही मार देता है और रात में आहार खोजना बड़ा मुश्किल है। यह सुनकर नारदजी सीधे शेषनागजी के पास चले गये। उनसे बोले, 'पृथ्वी पर तुम्हारे जातिवाले सर्प घोर कष्ट में हैं और तुम यहाँ आराम से बैठे हो।' शेषनाग ने पूछा कि हम क्या करें? तो नारदजी बोले, 'तुम भगवान् से उन लोगों की विपत्ति दूर करने का उपाय पूछ लेना।' शेषनाग ने जाकर भगवान् से कहा, 'भगवन्! पृथ्वी पर हमारी जातिवालों का बड़ा अपमान हो रहा है, उसे दूर करने का कोई उपाय आप बताइए।'

भगवान् ने उन्हें एक मणि दी और कहा, 'नारद से कहना यह मणि सर्पों को दे दो। इसके अन्दर हमने एक बूँद अमृत रखा है और इसमें एक सर्प भी है। साँप की जीभ पतली होती है, उसे छेद में डालकर अमृतपान कर ले तो भूख-प्यास सब खत्म हो जाएँगे। यह मणि नारदजी जैसे-जैसे बाँटते जायेंगे वैसे-वैसे बढ़ती जाएगी।' नारदजी ने सभी सर्पों को मणि बाँट दी और समझा दिया कि इसमें जो छेद है उसे खोजना तुम्हारा पुरुषार्थ है। उसमें जीभ डालकर अमृत-पान कर लोगे तो सब समस्या हल हो जाएगी।'

सर्प प्रसन्न हो गए। उन्होंने विचार किया कि दिन में तो मणि निकाल नहीं सकते क्योंकि मनुष्य हमें भी मारेगा और मणि भी ले जाएगा। रात को जंगल में मणि निकालकर छेद खोजने के लिए जीभ हिलाने लगे। रात में मणि का प्रकाश देखकर पतंगे उसके ऊपर आ गए। अब वे सर्प पतंगे के छाँव में ही लग गये, समझे कि यह मणि पतंगे खाने के लिए ही मिली है, अमृत को कभी नहीं खोज पाए। इसी प्रकार यह मनुष्य-शरीर अमृतत्व-प्राप्ति के लिए मिली है, पर हम लोग पतंगा खाने में, अर्थात् विषय-सेवन में लग गये।

साधक को ही यह समझना पड़ेगा कि किसी अवस्था-विशेष में साधना के पड़ाव में क्या बाधक है? लक्ष्य को हमेशा सामने रखकर विचार करना पड़ेगा कि हम लक्ष्य के निकट जा रहे हैं अथवा दूर तब अपने-आप मिल जायेंगे। लक्ष्य पर दृष्टि रहने से साधक अपने साधन की आसक्ति को छोड़ने में समर्थ हो जाएगा।

जिज्ञासा :- अद्वैत वेदान्त के जिज्ञासु साधक के लिए कोई ऐसा आदर्श बताएँ जिसे दृष्टि में रखकर वह अपने लक्ष्य की ओर स्पष्टता और दृढ़ता से बढ़ सके।

समाधान :- हमारी परम्परा में अनेकों आदर्श हैं। शुकदेवजी आदर्श हैं, सभी महर्षि आदर्श हैं। वे ऋषि लोग व्यवहार में भले ही गृहस्थ रहे हों पर विचार करो कि उनका चित्त कहाँ था! ब्रह्मसूत्र की भामती-टीका के लेखक विद्वद्वरिष्ठ वाचस्पति मिश्र का जीवन देख लो। जिस समय उनका विवाह हुआ, उस समय वे ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य का मनन कर रहे थे। चिन्तन में इतने तल्लीन थे कि विवाह सम्पन्न होने के कुछ दिन बाद वे भूल ही गए कि हमारा विवाह हो गया है। पत्नी बड़ी साध्वी थी, पति की सेवा में लगी रहती, जो उनके लिए अनुकूल हो उसी प्रकार का कार्य चुपचाप कर देती। मिश्रजी को पता ही नहीं था कि हमारे कार्य कौन करता है? इसी प्रकार तीस वर्ष बीत गये।

एक बार रात्रि के समय वे टीका लिखने में तल्लीन थे, टीका समाप्ति की ओर थी। जो दीपक जल रहा था, उसमें गुल (कालापन) आ गया था। पत्नी गुल हटा रही थी कि वह बुझ गया तो उसने फिर जलाया। इन्होंने देखा तो पूछा, 'देवी! तुम कौन हो?' उसने कहा, 'भगवन्! मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ।' तब वे बोले, 'इतने वर्ष बीत गए, तुम मेरी सेवा करती रही, परन्तु मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया।' तो उसने कहा, 'आपने बड़ी कृपा की अन्यथा मैं भी पशुओं के समान ही जीवन व्यतीत करती। आपकी सेवा करने से मेरा जीवन ही धन्य हो गया।' उन्होंने पूछा, 'तुम्हारा नाम क्या है?' उसने कहा, 'भामती।' तब वे बोले, 'इस टीका का नाम भामती ही होगा।' अब सोचो, उनकी गृहस्थी का व्यवहार कहाँ है और चित्त कहाँ है! हमारे पास तो आदर्श ही आदर्श हैं, चाहे वे गृहस्थ हों अथवा विरक्त हों।

जिज्ञासा :- गुरुकृपा प्राप्त करने के लिए कैसा जीवन बिताएँ? क्या गुरु के साथ रहकर ही गुरु-सेवा की जा सकती है?

समाधान :- साधक को ऐसा आचरण करना चाहिए जिससे गुरु प्रसन्न हों। गुरु ने जैसा साधन बताया है, जो आज्ञा दी है उसके अनुसार अपने जीवन

का गठन करना चाहिए। यही कृपा-प्राप्ति का उपाय है। अहंकारी व्यक्ति न तो देवता से और न ही गुरु से कभी कृपा प्राप्त कर सकता है। इसके लिए व्यक्ति को निरभिमानी होना चाहिए। जो अहंकारी है, वह तो अपने आपको ही बड़ा समझता है, उसे भला कृपा कैसे प्राप्त हो सकती है?

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥ (मानस, सुन्दर.- ४३.३)

इस बात को अच्छे से समझ लेना चाहिए कि मन निर्मल होगा तभी व्यक्ति निरहंकारी होकर गुरुसेवा में लग सकता है। मुख्य सेवा तो उनकी आज्ञा का पालन करना ही है। सेवा ऐसी होनी चाहिए जो गुरु की प्रसन्नता का हेतु बने। हमें तो जो कुछ भी प्राप्त हुआ, केवल गुरुसेवा से ही प्राप्त हुआ। पढ़ने से अधिक हमें सेवा से ही विद्या प्राप्त हुई है। सेवा का मतलब यही नहीं है कि गुरु के चरण दबाओ। यह आवश्यक नहीं है कि शिष्य गुरु के साथ में रहकर ही गुरु-सेवा कर सकता है। हाँ, लोगों को ऐसा जरूर लगता है कि गुरु के साथ रहनेवाला ही विशेष सेवा करता होगा। गुरु-सेवा का सम्बन्ध गुरु की आज्ञा-पालन से है और वह दूर रहकर भी किया जा सकता है। कभी-कभी तो समीप रहनेवाले की अपेक्षा दूर रहनेवाला शिष्य अधिक लाभ ले लेता है। कई बार तो हमने देखा है कि शिष्य को गुरु का दर्शन भी सुलभ नहीं होता, पर उसकी सेवा गुरु को स्वीकार होती है।

एक बार एक मुगल शासक हज करने हेतु मक्का गया था। एक रात उसने देखा आकाश में दो फरिश्ते आपस में बातचीत कर रहे हैं। एक ने दूसरे से पूछा, 'कितने लोग हज करने आए हैं?' दूसरे ने उत्तर दिया, 'दस हजार।' फिर प्रश्न हुआ, 'कितनों का हज खुदा ने स्वीकार किया है?' उत्तर मिला, 'स्वीकार तो एक का ही हुआ है। वह यहाँ आया तो नहीं है, पर उसका हज खुदा ने स्वीकार कर लिया है।' पहलेवाले को आश्चर्य हुआ तो दूसरे ने बताया कि वह व्यक्ति भारत के अमुक जिले के अमुक गाँव में निवास करता है।

पहले फरिश्ते ने सुना और सत्य-परीक्षा करने हेतु भेष बदलकर वहाँ गया और उसका पता लगा भी लिया। वह व्यक्ति चमड़े के जूते सिलने का काम

कर रहा था। फरिश्ते ने उससे पूछा, 'क्या आपने हज किया है?' उस व्यक्ति ने कहा, 'हज के लिए तो मैं जा नहीं सका, पर खुदा ने मेरा हज स्वीकार कर लिया है।' फरिश्ता बहुत आश्चर्यचकित हुआ कि यह हज पर गया नहीं तब खुदा ने इसका हज कैसे स्वीकार कर लिया?

पूछने पर उस व्यक्ति ने कहा कि तीन वर्ष पहले मेरे मन में हज करने की बड़ी तीव्र इच्छा हुई थी। उस समय हज जाने में तीन सौ रुपये खर्च होते थे। मैं गरीब आदमी हूँ, रोज कमाकर खा लेता हूँ, तीन सौ रुपये कहाँ से इकट्ठा करता? मैं बहुत चिन्ता में पड़ गया, तब मैंने अपनी पत्नी से कहा, 'अजी, मेरी हज जाने की इच्छा होती है पर कैसे जाऊँ?' उसने कहा, 'हम लोग आज से एक ही समय भोजन किया करेंगे, तो एक समय के भोजन का खर्चा बचता रहेगा। इस तरह धीरे-धीरे तीन सौ रुपये जमा हो जाएँगे, तब आप हज करने चले जाना।' पत्नी की सलाह को मैंने मान लिया। हम लोग एक समय भोजन करने लगे। इस तरह तीन वर्ष में तीन सौ रुपये इकट्ठे हो गए।

हमने निर्णय लिया कि इस साल हम हज करने जाएँगे। उस समय पत्नी गर्भवती थी। एक दिन घर में एक सूखी रोटी पड़ी थी जिसे वह खाना चाहती थी। बगल में हमारे चाचा के घर से सब्जी छौंकने की सुगन्ध आई। पत्नी ने कहा, 'चाचा के घर से थोड़ा-सा साग ले आते तो मैं सूखी रोटी उसके साथ खा लेती।' मैं चाचा के घर पहुँचा और कहा, 'बहू थोड़ा-सा साग माँग रही है।' मेरी यह बात सुनकर वे रोने लगे। रोने का कारण पूछने पर उन्होंने कहा, 'पाँच दिनों से पूरा परिवार भूखा है। भूखा क्या नहीं करता! एक कन्न के ऊपर किसी ने कुछ बैंगन चढ़ा दिए थे। मैं रात में जाकर उन्हें उठा लाया। उन्हीं बैंगनों का साग बना रहे हैं कि थोड़ा खाकर भूख मिटा लेंगे। यह साग बहू के खाने के लायक नहीं हैं।'

मैं वहाँ से चला आया और तीन सौ रुपये का सामान खरीदकर उनके घर पहुँचा दिया। चाचा से कहा कि आप बुरा मत मानना, आपका कष्ट मुझसे देखा नहीं गया, मेरे पास रुपये थे, इसीलिए आपके लिए सामान ले आया हूँ। फिर मैंने मक्का की तरफ हाथ जोड़कर प्रणाम करके कहा, 'ऐ खुदा! मेरा हज आप यहीं से स्वीकार कर लो।' उसी समय आकाशवाणी हुई कि तेरा हज

स्वीकार कर लिया गया है। देखो, विचार करो कि उसने कितना परिश्रम किया था, तीन वर्षों में भूखे रहकर पैसा इकट्ठा किया था। उसका भाव, उसकी तपस्या कैसी रही होगी? कृपाप्राप्ति की योग्यता को कौन गणित लगाकर बता सकता है? इसलिए क्या कहा जाए कि गुरु की कृपा कैसे प्राप्ति होती है। गुरु सेवा सामने दिखाने की वस्तु नहीं है, इसे आप कहीं भी रहकर कर सकते हैं। इसमें भाव की ही प्रधानता है।

जिज्ञासा :- अनासक्ति की प्राप्ति के उपाय क्या हैं? मुझमें अनासक्ति प्रतिष्ठित हो गई, इसे साधक कैसे समझे?

समाधान :- यह तो साधक को ही देखना पड़ेगा कि उसमें अनासक्ति की प्रतिष्ठा हुई है या नहीं? किसी वस्तु को देखकर उसके मन में चमत्कार होता है या नहीं, चित्त की वृत्ति बदलती है या नहीं? हम व्यवहार में देखते हैं कि एक पुरुष सामने आने पर हमारे चित्त में एक प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है तो एक स्त्री सामने आने पर दूसरे प्रकार की। ये अलग-अलग वृत्तियाँ क्यों उत्पन्न हो जाया करती हैं? यह भेदबुद्धि क्यों उत्पन्न होती है? विषम दृष्टि के कारण ही भेदबुद्धि उत्पन्न होती है। फकीर की अनासक्ति बहुत विलक्षण होती है। चाहे जो भी व्यक्ति उसके सामने आ जाए, कोई भी घटना घट जाए, उसके अन्दर कुछ भी विषमता नहीं आती।

एक बार शुकदेवजी जा रहे थे, मार्ग में देवांगनाएँ स्नान कर रही थीं। शुकदेवजी की अवस्था उस समय सोलह वर्ष की थी। उन्हें देखकर भी वे स्नान करती रहीं। उनके मन में किसी प्रकार का संकोच नहीं हो रहा था, उन्हें लगता जैसे कोई शिशु जा रहा है। पर पीछे से जब उनके पिता व्यासजी आए तो उन्होंने से देखकर ही उन्होंने कपड़े पहन लिये। व्यासजी ने कहा कि हमारा युवक तुम्हारे सामने से चला गया तो तुमको लज्जा नहीं आई और मुझ बूढ़े को देखकर लज्जा आ गई। तुम सब तो हमारी पुत्रियों के समान हो। देवांगनाओं ने कहा 'उसकी दृष्टि में तो हमारा कोई अस्तित्व ही नहीं है, उसकी दृष्टि में स्त्री-पुरुष का भेद है ही नहीं।' कहने का तात्पर्य यह है कि जब साधक की मनःस्थिति इस प्रकार की बन जाती है तब ऐसी विलक्षणता देखने को मिलती है।

आनन्दमयी माँ बहुत नियमपूर्वक बड़ी मर्यादा से रहती थीं। जहाँ गृहस्थ भक्त रहें, वहाँ रहती ही न थीं। पर उत्तरकाशी में जब वृद्ध स्वामीजी (देवीगिरिजी महाराज) के पास आतीं तो दौड़कर छोटी बच्ची की तरह पितावत उन्हें पकड़ लेती थीं। महाराज भी कहते देखो! महादेव कितनी दूर से आया है। उनकी दृष्टि में स्त्री-पुरुष का कोई भेद ही नहीं था। तात्पर्य यह है कि अनासक्ति की प्रतिष्ठा होने पर भेदबुद्धि नहीं रहती। प्रधानमन्त्री आ जाए या कोई सामान्य व्यक्ति, उनके चित्त में कोई अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु जब तक यह विशिष्ट बुद्धि रहती है, तब तक भेदबुद्धि तो रहा करती है।

त्याग से भी व्यक्ति में अनासक्ति आ जाती है और शास्त्र-विचार से भी। परन्तु केवल त्याग से ज्ञानोद्भव नहीं होता, उसके लिए साथ-साथ में विचार भी करना होगा। हमने दोनों प्रकार की अनासक्तिवाले महापुरुष देखे हैं। अच्छे पढ़े-लिखे, शास्त्रों के ज्ञाता की भी फकीरी देखी है और बिना पढ़े-लिखे की भी।

एक साधु की तितिक्षा अपूर्व थी। उनके शरीर पर एक सूत्र भी नहीं होता था, पास में केवल एक लाठी ही रहती थी। बस इतना-सा परिग्रह था। वहाँ बर्फ पड़ती थी, पर वे वैसे ही रहते थे। एक साधु हमेशा लेटे रहते थे। एक बार उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री सम्पूर्णानन्दजी उनके दर्शन के लिए वहाँ आए। उन महात्मा से किसी ने कहा, मुख्यमन्त्री आए हैं, तो वे बोले, 'मुख्यमन्त्री क्या होता है? कैसा होता है? क्या वह ज्यादा खाता-पीता है?' इतना कहकर वे हँसने लगे। उनमें त्याग इतना था और अनासक्ति गजब की!

कृष्णाश्रमजी बहुत बड़े विद्वान् थे, पर नियम-पालन में बड़े कठोर थे। शीतकाल में गंगोत्री में रहनेवाले पहले साधु वे ही थे। एक बार उनकी कुटिया टूट गई और वे उसके नीचे दब गए, घायल हो गये थे। लोग दूध पिलाने आए तो उस समय भी दूध नहीं लिया था। कहने का तात्पर्य यह है कि उनकी अनासक्ति जबरदस्त थी।

साधक में अनासक्ति सुदृढ़ तभी हो सकती है जब उसमें त्याग पूर्ण हो जाए। उसके लिए तितिक्षा (सहनशक्ति) भी बहुत जरूरी है। यह नहीं रही तो साधक कमजोर हो जाता है। पूर्ण अनासक्ति तब तक नहीं आ सकती जब तक समत्वदृष्टि न हो।

जिज्ञासा :- अखण्डाकार वृत्ति गुरुकृपा साध्य है अथवा पुरुषार्थ साध्य?

समाधान :- पहले गुरुमुख से हम वेदान्त-वाक्यों का श्रवण करते हैं और उसमें कोई संशय नहीं करते हैं। फिर विचार द्वारा भी उसको ठीक प्रकार से निर्धारित करते हैं। इसके आगे निदिध्यासन में लग जाते हैं। निदिध्यासन में हमारा पुरुषार्थ तो यहाँ तक ही सीमित है कि इदम् से अपने चित्त को हटा लें। फिर गुरुकृपा से अखण्डाकार वृत्ति बनेगी, जो अज्ञान का नाश कर स्वयं भी शान्त हो जाएगी। फिर तो आप कह सकते हैं कि यह कृपासाध्य ही हुई, पुरुषार्थसाध्य नहीं है। वस्तुतः यह पुरुषार्थसाध्य भी है और कृपासाध्य भी।

जैसे एक कमजोर पशु धरती पर बैठा है। वह उठना चाहता है, पर उठ नहीं सकता। थोड़ा-सा उठता है, फिर गिर जाता है। उसके प्रयास को देखकर एक व्यक्ति उसका सींग पकड़ लेता है, एक व्यक्ति पूँछ पकड़ लेता है और वह पशु उठ जाता है। यदि वह पशु स्वयं अपनी पूरी शक्ति न लगाए तो क्या सींग-पूँछ पकड़कर कोई उसको खड़ा कर सकता है? यदि वह स्वयं उठना न चाहे तो कोई उसको उठ नहीं सकता। इसी प्रकार यदि साधक इस संसार से छूटने की, मुक्ति की पूर्ण इच्छा नहीं करता और अपनी पूरी शक्ति उसमें नहीं लगाता, तब तक भगवत्कृपा, गुरुकृपा क्या काम करेगी, भला? दरअसल, भगवत्कृपा, गुरुकृपा से ही यह होता है, पर साधक को भी अपनी पूरी शक्ति लगानी पड़ती है।

साधक में इच्छा-शक्ति की भी प्रबलता होनी चाहिए। इसीलिए अखण्डाकार वृत्ति परम पुरुषार्थ भी है और कृपासाध्य भी। इसमें किसी प्रकार की विसंगति नहीं है। आलसी की सहायता देवता भी नहीं कर सकते। निर्विकल्प समाधि एवं अपरोक्षानुभूति में अपना पुरुषार्थ नहीं चलता। योगमार्ग में भी आप सविकल्प समाधि तक ही पुरुषार्थ कर सकते हैं। पर निर्बीज समाधि में आपका पुरुषार्थ काम नहीं करता। वेदान्त मार्ग में भी आप वृत्ति-व्याप्ति तक पुरुषार्थ करेंगे, अनात्मा से स्वयं का सम्बन्ध हटाने में पुरुषार्थ करेंगे। अपरोक्षानुभूति तो गुरुकृपा से ही होगी।

जिज्ञासा :- एक साधक ऐसा है जो स्वर्ग और ब्रह्मलोक के सुख को भी तुच्छ समझता है। उसे वेदान्त भी अच्छी तरह समझ में आता है। अब उसका क्या कर्तव्य है?

समाधान :- बहुत लोग कहते हैं कि हम ब्रह्मलोक या स्वर्ग नहीं जाना चाहते हैं। अरे! इस लोक के मृत्युग्रस्त भोगों में तो तुम फँसे पड़े हो और स्वर्ग का सुख तुम्हें तुच्छ दीख रहा है! इसी में तो तुम्हारा मन फँसा हुआ है, यदि वह सुख सामने आ जाए तो तुम्हारे मन की क्या दशा होगी? देखो, अपने-आपको झुठलाना नहीं चाहिए। व्यक्ति को हमेशा सावधान रहना चाहिए। अज्ञान जब तक है तब तक कब-कौन-सी वृत्ति मन में उदित हो जाए, इसका कोई ठिकाना नहीं है।

वेदान्त को बुद्धि से समझना अलग बात है, पर व्यक्ति को विचार करना चाहिए कि व्यवहार में उसकी अहंता कहाँ टिकी हुई है? इन सब बातों का विचार करके ही उसे अपने कर्तव्य का निर्णय करना चाहिए।

जिज्ञासा :- शास्त्र में पढ़ते हैं और सन्तों से भी सुनते हैं कि व्यक्ति को गुणग्राही होना चाहिए। परन्तु मानस में एक जगह आया है -

सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक।

गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥

(मानस, उत्तर.-४१)

इस चौपाई में तो गुणों को भी देखने का निषेध किया है, इसका क्या तात्पर्य है?

समाधान :- गोस्वामीजी कहते हैं कि जगत् में यही दिखाई देता है कि यह गुण है, यह दोष है। यहाँ गुणों और दोषों की संख्या बहुत ज्यादा है, परन्तु ये दोनों ही मायाकृत। जैसे, एक पद पर प्रकाश से देवता भी दीखता है और राक्षस भी, पर वहाँ केवल पर्दा ही है। इसी प्रकार इस मायामयी नामरूपात्मक सृष्टि में गुण और दोष बहुत अधिक हैं, परन्तु विवेकी पुरुष यही समझता है कि सबका स्वरूप जो चेतन है उसमें न गुण हैं न दोष। ये तो माया से दीखनेवाले जगत् में ही हैं, केवल व्यावहारिक हैं। जगत् में आप खोजें तो

ब्रह्मा में भी दोष दीख जाएगा और कौए में भी गुण दीख सकता है।

एक किसान सुबह-सुबह कहीं जा रहा था, तो एक कौआ सामने आकर काँव-काँव करने लगा। किसान ने कहा, 'अरे! मैं काम के लिए जा रहा था, यह अपशकुन हो गया।' तब कौआ बोला, 'ऐ मनुष्य! तू बुद्धिमान तो बहुत है, पर मुझमें दो गुण तुझसे ज्यादा हैं। एक गुण तो यह है कि खाने की कोई वस्तु दीख जाए तो मैं काँव-काँव करके अपने समाज को बुला लेता हूँ और मिलकर खाता हूँ, छिपकर कभी नहीं खाता। तुम्हारी तो छिपकर खाने की आदत है, अकेले ही सब खाना चाहते हो। दूसरा गुण यह है कि सूर्य भगवान् के उदय होने से पहले ही मैं उठ जाता हूँ और तुम मनुष्य होकर आठ बजे तक सोते रहते हो।'

कहने का तात्पर्य यह है कि यह सृष्टि गुण-दोषमयी है - जड़-चेतन गुण दोषमय बिस्व कीन्ह करतार, (मानस, बाल.-६) इसलिए हर जगह तुम्हें गुण भी मिल सकता है और दोष भी। व्यवहार में व्यक्ति को गुणग्राही होना चाहिए और परमार्थ-दृष्टि को इस चौपाई में कहा गया है-उभय न देखिये। किसी का गुण-दोष मत देखो क्योंकि ये मायाकृत हैं, वास्तविक तो हैं नहीं। मायाकृत वस्तु को देखकर क्या करोगे? इसलिए जो चेतन है उसी को पकड़ो, तुम्हारे चेतन स्वरूप में न गुण हैं और न दोष।

यदि किसी से देखे बिना रहा न जाए तो गुण दूसरे में देखो और अपने में दोष। जब अपने में दोष देखोगे तभी उसे निकाल पाओगे। दूसरे में गुण देखोगे तभी उसे ग्रहण कर पाओगे। सिद्धान्त तो यह हुआ कि गुण-दोष दोनों को न देखकर केवल अधिष्ठान परमेश्वर को देखो और व्यवहार में गुणग्राही बनो। ऐसा करोगे तो तुम सन्त बन जाओगे। गोस्वामीजी ने भी यही बात कही है-संत हँस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार (मानस, बाल.-६)।

साधना

जिज्ञासा :- साधना कैसे करनी चाहिए? क्या मन्त्रजप से कुण्डलिनी जागृत हो सकती है?

समाधान :- किसी भी साधना को करने में दो बातों पर बहुत ध्यान देना चाहिए। पहली तो यह कि साधना शास्त्रसम्मत ही होनी चाहिए और दूसरी बात व्यक्ति क्या करता है, शास्त्र में इसका इतना महत्व नहीं है, क्यों करता है इसका बड़ा महत्व है। उद्देश्य के भेद से फलभेद हो जाता है। जैसे, ईसाई मिशनरी जंगल में जाकर स्कूल खोल रहे हैं, लोगों की सेवा कर रहे हैं। दूसरे लोग दूर-दराज के गाँवों में जाकर ऐसी सेवा नहीं कर पाते हैं। परन्तु यदि उनकी दृष्टि लोगों को ईसाई बनाने की है, तो वे अपराध ही कर रहे हैं। कोई गलत उद्देश्य से आपकी सेवा करे कि आप थोड़ा-सा असावधान हो जाएँ तो आपका गला काट लें (धर्मान्तरण कर दें), तो वह उसकी सेवा नहीं, बल्कि अपराध हो गया। उसका सम्बन्ध सेवा से कहाँ हुआ?

कहने का तात्पर्य यह है कि साधना में हमारा उद्देश्य बहुत शुद्ध होना चाहिए। किञ्चित्तमात्र भी जगत् विषयक उद्देश्य हुआ तो साधना से हम शुद्ध लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते। जैसे, किसी ने उपनिषद् परम्परा से पढ़कर रट लिए, उनपर प्रवचन भी कर सकता है पर उसका उद्देश्य यदि पैसे कमाने का है तो क्या वह उपनिषद्-ज्ञान को अपने जीवन में चरितार्थ कर सकेगा? अतः किसी भी साधना में विनियोग-तत्त्व बहुत महत्वपूर्ण है, इसे हमेशा ध्यान रखना चाहिए। कोई भी शास्त्रीय साधना, चाहे वह मन्त्र-साधना हो या अन्य प्रकार की, यदि वह शुद्ध भाव से की जा रही है तो कुण्डलिनी जागृत हो सकती है। उस स्तर में चित्त जाएगा तो अनुभूतियाँ होंगी ही।

जिज्ञासा :- साधनाकाल में किस प्रकार के विघ्न आने की सम्भावना रहती है? साधक उनको कैसे पार करे?

समाधान :- सभी साधनाओं में बहुत-से स्तर बताए गए हैं। वे दो प्रकार के हैं - विघ्नरूप और सहायकरूप। साधना करते-करते जब आपको

किसी चमत्कार की अनुभूति होती है, तब आपको विश्वास होता है कि मेरी साधना ठीक चल रही है, यह सहायक है। यदि कुछ चमत्कार नहीं हुआ तो विश्वास शक्ति उतनी सुदृढ़ नहीं होती। पर यदि आपका मन चमत्कार में ही टिक गया, आप खाने-पीने में ही लग गए और लक्ष्य को भूल गए, तब यही विघ्न बन जाता है।

साधना में सबसे बड़ा विघ्न आगे चलकर उस स्थिति में आता है जहाँ पर अहंता का नाश आवश्यक है। यह एक बहुत बड़ा विघ्न है क्योंकि कोई भी जीव अपना अस्तित्व खत्म करने को तैयार नहीं होता। विशिष्ट अस्तित्व का इतना मोह होता है कि उसको छोड़ने की इच्छा ही नहीं होती। कोई मरना नहीं चाहता। हमने ऐसे लोगों को भी देखा है जिन्होंने खूब विचार करके कहा कि अब यह जगत् रहने लायक नहीं है। फिर मरने के लिए गंगा में छलांग मारने के बाद भी उनका सारा प्रयास यही रहा कि कैसे बच जाएँ? छलांग मारने के बाद भी जो शरीर-रक्षा का प्रयास दिखाई देता है, उसका मतलब यही है कि अन्त में कोई मरना नहीं चाहता।

यहाँ से ऊपर उठने और अहंकार के मरने से पहले, इस बीच में साधक को बहुत प्रकार की माया दिखाई देती है, जिससे वह घबरा जाता है। उलझ जाता है। उस समय गुरु-शक्ति और देवशक्ति ही रक्षा करती हैं क्योंकि अपने अहंकार से तो कोई वहाँ बच ही नहीं सकता। साधना में ये सब विघ्न हैं। आप साधना करेंगे तो आपको स्वतः अनुभूति होगी।

जिज्ञासा :- क्या साधना काल में परिग्रह हानिकारक है?

समाधान :- हाँ, साधक के लिए साधनाकाल में परिग्रह अत्यधिक हानिकारक है। पर आजकल साधक परिग्रह के विषय में सावधान नहीं रहता। परिग्रह का दोष उसमें आया ही। इसको काटने के लिए जितना भजन करना चाहिए साधक उतना कर नहीं पाता है। स्थानधारी साधु तो परिग्रह स्थान के लिए लेता है, परन्तु अन्य साधुओं को बहुत विचार करना चाहिए। हम भगवान् के लिए घर से निकले हैं, बैंक में खाता क्यों रखें? हमारा आधार तो भगवान् है। पैसे को आधार क्यों बनाए? इसलिए शास्त्रों में परिग्रह का बहुत अधिक निषेध

किया गया है। यम में देखिए - सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, इनके साथ अपरिग्रह को कहा गया है। परन्तु आजकल कुछ साधु इस बात पर ध्यान ही नहीं देते हैं कि हमारे अन्दर पैसे का जो महत्व बैठा है, वह साधना में विघ्न है। साधु को इस विषय में सचेत रहना बहुत जरूरी है।

जिज्ञासा :- साधना की दृष्टि से नर्मदा का उत्तर तट अनुकूल है या दक्षिण तट? कृपया अपना अनुभव बताइए।

समाधान :- नर्मदा सब जगह एक समान पवित्र है। बहुत-से लोग ऐसा मानते हैं कि उत्तरतट का सम्बन्ध देवताओं से है और दक्षिणतट का सम्बन्ध पितरों से, पर ऐसी कोई बात नहीं है। जहाँ पर मन लग जाए, वही तट साधना के लिए उचित है।

अन्य तीर्थों में बहुत सावधानी आवश्यक है। पर नर्मदा का स्वभाव तो ऐसा है कि जैसे माता बालक के दोषों को नहीं देखती, उसी प्रकार अपने आश्रितों के दोषों को न देखते हुए उन्हें सम्भालती है। वह समर्थ माता है। नर्मदा के समान समर्थ माता मैंने वर्तमान समय में अन्यत्र कहीं नहीं देखी। मेरा अनुभव तो यही है।

जिज्ञासा :- कोई एक ऐसा साधन बताइए जिससे व्यक्ति स्वात्माराम बन जाए।

समाधान :- एक दिन स्वामी अखण्डानन्दजी ने उड़ियाबाबाजी से पूछा, 'महाराज! कोई एक ऐसा साधन बता दीजिए जिससे व्यक्ति स्वात्माराम बन जाए।' उड़ियाबाबा ने कहा, 'बस, जिह्वा को वश में कर लो, स्वात्माराम बन जाओगे।' जिह्वा में दो इन्द्रियाँ बैठी हैं - वागिन्द्रिय और रसनेन्द्रिय। जितं सर्वं जिते रसे। (महाभारत) रसनेन्द्रिय और वागेन्द्रिय को जीत लो तो सम्पूर्ण संसार को जीत लो। मुख से कभी झूठ न निकले, व्यर्थ बात न निकले, केवल भगवान् की कथा ही निकले। वाणी से व्यवहार उतना ही करो, जितना आवश्यक हो। ऐसे ही रसनेन्द्रिय को भी जीतना चाहिए। भोजन इस प्रकार का

करो जिससे शरीर का निर्वाह मात्र हो। इस प्रकार जिह्वा को जीत लोगे तो सारे विश्व को जीत लोगे और स्वात्माराम हो जाओगे।

जिज्ञासा :- क्या धन-सञ्चय परमार्थ-साधन में विघ्न करता है?

समाधान :- धन-सञ्चय परमार्थ में किसी प्रकार से सहायक नहीं है, विघ्न ही है क्योंकि व्यक्ति धन-संग्रह का ही चिन्तन करता रहेगा तो परमार्थ चिन्तन कैसे करेगा?

एक राजा बड़ा उदार था। वह अपने नाई को रोजाना एक सोने की गिनी देता था। नाई उसको अपने घर ले जाकर कुछ हिस्सा दान कर देता था और कुछ हिस्से से अपने सम्बन्धियों की सहायता भी करता था। बचे हुए धन से अपने घर का खर्च चलाता था। ऐसा बहुत दिन चलता रहा, वह बड़ा सुखी था। एक दिन वह जंगल गया। वहाँ उसे एक पेड़ के नीचे एक घड़ा मिला, जिसमें सोने की कुछ गिनियाँ थीं। लोभवश वह उसे घर ले आया। अब उसको बड़ी चिन्ता हो गई कि यह घड़ा गिनियों से कब भर जाए! उसने दान-पुण्य सब बन्द कर दिए। राजा से मिलनेवाली गिनियों में से अधिकांश को वह उसमें डालने लगा, पर घड़ा भरता ही न था। अब तो उसकी शान्ति भी भंग हो गयी। इस प्रकार एक वर्ष बीत गया।

उसको परेशान देखकर एक दिन राजा ने पूछा, 'कहीं तुझे प्रतिदिन एक गिनी कम तो नहीं पड़ रही है?' तब उस नाई ने कहा, 'नहीं सरकार।' राजा ने कहा, 'फिर इतना चिन्तित क्यों है? कहीं तुझे यक्ष का घड़ा तो नहीं मिला?' यक्ष का घड़ा जंगल में होता है, वह कभी नहीं भरता। जिसके पास वह आता है, उसके मन में रहता है कि मैं इसको कैसे भरूँ? उस घड़े में आप जीवन भर डाल सकते हैं, परन्तु निकाल नहीं सकते। नाई ने कहा, 'सरकार, आपकी बात बिल्कुल ठीक है।' तब राजा ने कहा, 'बस, तेरी चिन्ता का कारण यही है। उस घड़े को जहाँ से लाया था, वहीं ले जाकर रख दे। तभी शान्ति मिलेगी।'

आज भी देखा जाता है कि चाहे साधु हो या गृहस्थ, रुपये यदि 'फिक्स्ड डिपॉजिट' में डाल देता है तो उसे निकालने की इच्छा ही नहीं होती है। उसका

बढ़ते ही जाता है, चाहे कितने ही कष्ट झेलने पड़ें। साधु को इससे बचकर रहना चाहिए, यह भी यक्ष का घड़ा ही है।

जिज्ञासा :- जब कभी व्यक्ति सत्य के मार्ग पर चलने का प्रयास करता है तो बहुत विघ्न आते हैं, जिससे वह विचलित हो जाता है। इससे बचने का क्या उपाय है?

समाधान :- आपकी सत्य पर चलने की जो इच्छाशक्ति है उसको ही प्रबल करो। वही आपको अपने लक्ष्य तक ले जाएगी। मनुष्य-जीवन में हार मानने की कोई जगह नहीं है।

जिज्ञासा :- साधु लक्ष्य से क्यों भटक जाता है?

समाधान :- साधु जब घर छोड़ता है तो ईश्वर के आधार पर ही छोड़ता है। पर यदि आगे वह अपने लक्ष्य के विषय में सावधान न रहे और बीच में ही आश्रम बनाने, पढ़ाने, प्रवचन करने इत्यादि में पड़कर लक्ष्य को भूल जाए तो उससे दूर चला जाता है। पाठशाला बनाने, पैसे इकट्ठे करने, भागवत-कथा करने, इन सबके लिये साधु बनने की कोई आवश्यकता नहीं है। ये सब तो इसके बिना भी हो सकते हैं। साधु का एक ही कर्तव्य होता है-परमात्म-चिन्तन। यदि वह इस कर्तव्य से भटक जाए तो उसका लक्ष्य छूट जाता है।

जिज्ञासा :- पहले के ऋषि-मुनि लोग गृहस्थ होकर भी लक्ष्य को प्राप्त कर लेते थे। पर आजकल बहुत-से साधु भी साधना में आगे नहीं बढ़ पाते। ऐसा क्यों?

समाधान :- पहले के गृहस्थ ऋषि अपने लक्ष्य के विषय में बहुत सावधान रहते थे। उनके अन्दर कभी कामना उत्पन्न नहीं होती थी। उनके विवाह करने के मूल में भी सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यः। (बृह. उप.- १.५.१६) (यह मनुष्यलोक पुत्र के द्वारा ही जीता जाता है।) पुत्रोत्पत्ति के अलावा अन्य कोई कामना नहीं थी। यह कोई सामान्य बात नहीं थी। 'सोऽकामयत

जाया मे स्यात्' (बृह.उप.-१.४.१७) - उनकी कामप्रवृत्ति सृष्ट्यर्थ होती थी। पत्नी के गर्भधारण के बाद फिर कामना नहीं होती थी। शास्त्र में स्त्री-परिग्रह केवल सृष्ट्यर्थ ही है।

ऋषियों के पवित्र जीवन में जगत्विषयक कामना किञ्चिन्मात्र भी नहीं होने का कारण यह था कि उस काल में गर्भाधान से ही माता सावधान हो जाती थी। पिता भी सावधान हो जाता था। शास्त्रीय-विधि से पुत्र के जातकर्म, चूड़ाकर्म, उपनयन आदि सभी संस्कार करवाता था। इनके द्वारा बालक के अच्छे संस्कार जगाए जाते थे, फिर वह गुरुकुल में जाता था। पच्चीस वर्ष तक गुरु उसके विषय में सावधान रहता था। आश्रम के पवित्र वातावरण में रहकर गुरुसेवा, गायत्रीजप और वेदाध्ययन में निरत रहता था। इस प्रकार पच्चीस वर्ष के पश्चात् वह एक प्रामाणिक युवक बनकर गुरुकुल से निकलता था, जिसके बारे में सोचा भी नहीं जा सकता था कि वह कभी झूठ बोल सकता है।

पर आज के युवक को देखिए, न उसको घर में संस्कार दिए जाते हैं और न ही विद्यालय में। चाहे साधु बनता है या नेता अथवा कुछ और बनता है, पर संस्कारों की वह कमी उसमें रह ही जाती है। आज के युग में तो ईश्वरप्रणिधान (शरणागति) ही लक्ष्यप्राप्ति का एकमात्र उपाय है। पर ईश्वरप्रणिधान में सबसे बड़ी बाधा अहंकार ही है। इसलिए गीता में कहा - सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज। (१८.६६) गृहस्थ से साधु बना था अहंकार त्यागने के लिए, पर वह और बढ़ जाता है। इसलिए आजकल साधुओं के लिए साधना में आगे बढ़ना कठिन जैसा लगता है।

जिज्ञासा:- जीवन में साधनचतुष्टय कैसे धारित हो सकता है?

समाधान :- जिस वस्तु का महत्व बुद्धि में बैठ जाता है, उसके लिए व्यक्ति जीवन लगा देता है। उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए वह हर सम्भव प्रयास करता है। इसी प्रकार जब आपकी बुद्धि में यह बैठ जाएगा कि हमारे जीवन का लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति ही है तब आप साधनचतुष्टय की प्राप्ति के लिए जीवन समर्पित कर देंगे। इसके लिए शास्त्र में एक क्रम है, उसे समझना चाहिए।

प्रत्येक जीव तीन प्रकार की मृत्यु से ग्रस्त है, पहली मृत्यु है, पशु-कर्म,

पशु-ज्ञान। ये पूर्वजन्म के संस्कार से आते हैं। इनकी निवृत्ति शास्त्रीय ज्ञान और शास्त्रीय कर्म के अनुष्ठान द्वारा होती है। इनका अनुष्ठान करने पर उसमें मनुष्यत्व आ जाता है, उसके जीवन में धर्म प्रतिष्ठित हो जाता है। जब उसका जीवन धर्म और सत्य पर प्रतिष्ठित हो जाता है, तब ईश्वर के प्रति उसका विश्वास दृढ़ हो जाता है, अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। पहले जो कर्म कर्तव्यबुद्धि से करता था, अब उन्हें ईश्वर से जोड़ देता है। कर्म का सम्बन्ध ईश्वर से जोड़ने पर फिर वह कर्म नहीं रहता, ईश्वराराधना बन जाता है। इसी बात को गीता में कहा - 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'।

(१८.४६)

फिर उसके अन्दर एक बल आ जाता है, उसकी बुद्धि ईश्वर-समर्पित हो जाती है। तब जो दूसरी मृत्यु है - कामना, वह नष्ट हो जाती है। फिर 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन'। (मुण्डक उप.-१.२.१२) वह जगत् की परीक्षा करता है। वह विचार करता है कि भोग भोगते हुए पूरा जीवन बीत गया पर इनसे तृप्ति क्यों नहीं हो रही? सब ओर दुःख ही दुःख का अनुभव हो रहा है। धोखे में ही मेरा इतना जीवन बीत गया। इस प्रकार जब परीक्षा हो जाती है तब उसको समझ में आता है कि कर्म से प्राप्त होनेवाली जो भी वस्तु है वह मृत्युग्रस्त है - नास्त्यकृतः कृतेन।

इस प्रकार जब परीक्षा कर लेगा तो साधनचतुष्टय-सम्पन्न हो जाएगा। कामना टूट गयी अर्थात् वैराग्य उसमें आ गया। अब उसका चित्त जो जगत् में फैला था वह मोक्षरूपी लक्ष्य में केन्द्रित हो जाता है, तो शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान आदि स्वतः उसके जीवन में आ जाते हैं। इस शास्त्र क्रम से चलने पर साधनचतुष्टय जीवन में स्वतः आ जाता है। फिर वह व्यक्ति ज्ञान के लिए गुरु के पास जाता है।

जिज्ञासा :- हम जहाँ रहते हैं वहाँ संग अच्छा नहीं है, परन्तु उस स्थान को छोड़ भी नहीं सकते। ऐसी स्थिति में साधना कैसे करें?

समाधान :- व्यक्ति का संग बाहर नहीं, अपितु अन्दर होता है। किसी वस्तु के प्रति मन में जो सम्बन्ध या आसक्ति बनती है उसी का नाम संग है।

बहुत जगह व्यक्ति व्यवहार करता है, पर मन से कोई सम्बन्ध नहीं बनता। तमाम मजदूर एक साथ काम करते हैं, पर उनका मन से कोई संग नहीं बनता। बाजार में बहुत-सी चीजें बिकने आती हैं, तुम अपने काम की चीज खरीद लाते हो। अन्य चीजों से तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं बनता। व्यक्ति को समुदाय में अपने काम की बातें ही सुननी चाहिए, अन्य बातों की उपेक्षा कर देनी चाहिए। कुसंग में व्यावहारिक बाधा तो पड़ती है पर व्यक्ति यही सावधानी रखे कि मन का संग किसी से न बनने दे। मन का सम्बन्ध नहीं बना तो तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ेगा। दूसरी बात, व्यक्ति जब कुसंग में हो तो उसे गुरु-मन्त्र का स्मरण अधिक करना चाहिए और रोज भगवान् को अपने कर्मों का हिसाब देना चाहिए। ऐसा करने से उसे संगदोष नहीं लगेगा। व्यक्ति अपने नियमों में दृढ़ रहे, अपना स्वाभिमान न छोड़े तो उस कुसंग के प्रभाव से बच जाएगा।

जिज्ञासा :- दम का स्वरूप और उसका उपाय क्या है? दम और शम में क्या पूर्वापर भाव आवश्यक है?

समाधान :- हम लोगों के पास पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। हमारा आदान-प्रदान आदि सारा व्यवहार कर्मेन्द्रियों से होता है। इनमें वागिन्द्रिय बड़ी प्रबल है, ज्यादा व्यवहार इसी से होता है। हमें विषय-ज्ञान ज्ञानेन्द्रियाँ कराती हैं, इनमें चक्षु इन्द्रिय अत्यधिक प्रबल है। हमें अधिकांश बाह्यज्ञान चक्षु द्वारा ही होता है और उसका संस्कार भी प्रबल होता है। इसीलिए जबसे टी.वी. आ गया, लोगों ने रेडियो सुनना ही बन्द कर दिया। इसके बाद श्रोत्र इन्द्रिय की प्रबलता है।

दम का अर्थ है - इन सभी इन्द्रियों को निगृहीत करना अर्थात् इन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना, जहाँ चाहें वहीं इनका प्रयोग करें, इनके वश में न हों। जितना आवश्यक हो, उतना ही देखें। जितना आवश्यक हो, उतना ही बोलें। पहले कर्मेन्द्रियों के व्यापारों को संयमित करना चाहिए, जितना हमारे लक्ष्यानुकूल है उतना ही व्यवहार इनसे करें। इसके बाद ज्ञानेन्द्रियों को भी संयमित करना होगा।

एक बात ध्यान रखने की है कि मन का पूर्ण निरोध होने पर इन्द्रियाँ

का निरोध स्वतः हो जाएगा। यदि कहो कि मन के निरोध से ही ये सब निरुद्ध हो जाएँगी, इनको अलग से क्यों रोकें, अर्थात् शम को ही सिद्ध करें, दम की क्या आवश्यकता है, तो ऐसा सोचना ठीक नहीं है, क्योंकि साधना के प्रारम्भ में इन्द्रियों का निरोध किए बिना आप मन का निरोध नहीं कर सकते। मन की अपेक्षा शरीर, वाणी, नेत्र को रोकना सरल है। जो व्यक्ति शरीर, वाणी या नेत्र का निरोध नहीं कर सकता, वह मन का निरोध कैसे करेगा? मन सूक्ष्म है उसको रोकना अधिक कठिन है। पहले शरीर को साधो, इसीलिए योगसूत्र में आसन को प्राणायाम और प्रत्याहार से पहले कहा गया है। फिर प्राण और इन्द्रियों को साधो। जब ये तुम्हारे अधीन हो जाएँ तब तुम मन को अपने वश में कर सकते हो।

जैसे हम कहते हैं, अन्न का एक-एक ग्रास मन्त्रपूर्वक ग्रहण करो, पर तुम यदि मौन ही न रह सको तो मन्त्र-प्रयोग कैसे करोगे? मौन का अभ्यास करने के बाद ही मन से मन्त्र-प्रयोग कर सकते हो। दम के बिना शम का अभ्यास हो ही नहीं सकता। दम सिद्ध हो जाए तो शम सरलता से सिद्ध हो जाएगा। यही इन दोनों का पूर्वापरभाव है।

जिज्ञासा :- मनोनिग्रह का नाम ही शम है। जब शम से ही मन शान्त हो जाता है तो आगे समाधान के अभ्यास की क्या आवश्यकता है?

समाधान :- भाष्यकार भगवान् कहते हैं कि शम से मन शान्त तो हो जाता है, पर उस शान्त मन को किसी लक्ष्य में लगाना पड़ेगा अन्यथा वह कब तक शान्त रहेगा? किसी लक्ष्य में न लगाने पर फिर चंचल हो जाएगा। अतः शम के बाद समाधान के अभ्यास की भी आवश्यकता पड़ती है। समाधान का लक्षण विवेकचूड़ामणि में बताया गया है -

सर्वदा स्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि सर्वथा।

तत्समाधानमित्युक्तं न तु चित्तस्य लालनम्॥ (२७)

वेदान्त की साधना ऐसी नहीं है कि घण्टा-दो-घण्टा कर लें, यह तो सतत साधना है। बुद्धि को निरन्तर अपने शुद्ध स्वरूप में केन्द्रित करना पड़ेगा, तभी उसकी अनुभूति होगी अन्यथा नहीं। अभी तो मैं कहते ही बुद्धि झट से

शरीर में आ जाती है। बहुत-से लोग समझते हैं कि हमारी अनुकूलता है, मन प्रसन्न है तो यही समाधान है, परन्तु इस प्रकार से चित्त के लालन का नाम समाधान नहीं है। आपकी बुद्धि निरन्तर लक्ष्य में केन्द्रित रहे, जरा भी इधर-उधर न जाए, वही समाधान है। आपकी दृष्टि निरन्तर पदों में केन्द्रित रहे, चित्र में कहीं टिक न जाए, इसी प्रकार की सावधानी यहाँ अपेक्षित है। मन जब शान्त होगा तभी आप उसे लक्ष्य में लगा सकते हैं। अतः शम के बाद ही समाधान हो सकता है और वह आवश्यक भी है।

जिज्ञासा :- तितिक्षा का क्या अर्थ है? इसको जीवन में कैसे लाएँ?

समाधान :- तितिक्षा का अर्थ है - मन में खेद हुए बिना सुख-दुःखादि द्वन्द्वों को सहन करना। इसे जीवन में कैसे लाएँ, इस विषय में भगवान् ने गीता में कहा है -

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ (२.१४)

इन्द्रिय और विषय के संयोग से कभी सुख मालूम होता है तो कभी दुःख। कभी ठण्ड लगी तो अग्नि प्रिय मालूम होती है, गर्मी हो तो वही दुःख देने लगती है। ठण्डी-गर्मी, सुख-दुःख, भूख-प्यास, मान-अपमान, इनको सह लेना चाहिए। किस प्रकार सह लेना चाहिए? जैसे, आपके घर पर कोई अतिथि आ जाता है तो सह लेते हो। एक दिन के लिए अपना बिस्तर भी दे देते हो और उसका स्वागत करते हो क्योंकि जानते हो यह चला जाएगा, रहनेवाला नहीं है।

इसी प्रकार ये शीत-उष्ण भी आने-जानेवाले हैं, रहनेवाले नहीं हैं। एक बार एक महात्मा बाराबंकी के आश्रम में आए, उस समय बड़ी ठण्ड पड़ रही थी। महात्मा का नियम था, कम्बल, गद्दा-रजाई का प्रयोग नहीं करना। चादर आदि से ही निर्वाह कर लिया करते थे। अधिक ठण्डी लगने पर पुआल में जाकर लेट जाते थे। एक दिन हमने कहा, 'स्वामीजी, एक कम्बल ले लो, ठण्डी बहुत है।' उन्होंने पूछा, 'स्वामीजी, ये ठण्डी कब तक रहेगी?' हमने कहा, 'शिवरात्रि तक तो चली जाएगी।' वे बोले, 'जब यह चली ही जाएगी तो कम्बल

क्यों रखें?' कहने का तात्पर्य है कि साधक यही विचार करे कि जो भी कष्ट आया है वह चला ही जाएगा, तो उससे दुःखी क्यों होना? ऐसा करते-करते तितिक्षा दृढ़ हो जाएगी।

जिज्ञासा :- भगवत्प्राप्ति के लिए भक्ति सरल मार्ग है अथवा योग? दोनों में श्रेष्ठ कौन-सा है?

समाधान :- यह तो साधक पर निर्भर करता है। साधक की अपनी रुचि, अपनी योग्यता होती है। किसी को योग करना सरल होता है और भक्ति करना कठिन लगता है। किसी अन्य को भक्ति सरल लगती है, जप करना सहज लगता है, पर योग करना कठिन मालूम होता है। सरलता-कठिनता का हेतु भक्ति या योगमार्ग में नहीं है। सरलता या कठिनता का हेतु आपके अन्दर के संस्कारों में है। जिसमें आपकी रुचि होती है, वह आपको सरल लगता है और जिसमें रुचि नहीं होती वह कठिन हो जाता है। यह सब पूर्व संस्कारों के अनुसार ही हुआ करता है।

किसी साधक का पूर्व संस्कार वेदान्त के विचार का है, वह तदनुरूप उसी में लगेगा - पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः। (गीता - ६.४४) पूर्वजन्म का अभ्यास साधक को जबरदस्ती साधना-विशेष में लगा देता है। उसी प्रकार के गुरु अच्छे लगते हैं और उसी प्रकार के साधन-मार्ग में प्रवृत्त हो जाता है। अतः कठिन-सरल, श्रेष्ठ-कमजोर की कोई बात नहीं है। आपको जो पट जाए वही आपके लिए श्रेष्ठ है। दूसरे के लिए वही श्रेष्ठ हो यह जरूरी नहीं है। अपना गुरु सबके लिए श्रेष्ठ है। जैसे, प्रत्येक स्त्री के लिए उसका पति सर्वोत्तम है क्योंकि उसी के साथ उसका इहलोक और परलोक का सम्बन्ध है। इसी प्रकार अपनी साधना, अपना गुरु, ये सब पूर्व के संस्कारों के अनुसार होते हैं। इसीलिए श्रेष्ठता का निर्धारण इस प्रकार नहीं हो सकता।

जिज्ञासा :- उपासना और निदिध्यासन एक आसन पर बैठकर ही करने चाहिए या चलते-फिरते भी कर सकते हैं?

समाधान :- प्रारम्भ में कुछ समय तक तो एक आसन पर बैठकर ही इनका अभ्यास करना चाहिए। साथ-ही-साथ चलते-फिरते भी चिन्तन बनाए रखना आवश्यक है क्योंकि उपासना और निदिध्यासन ये सतत किए जाने पर ही फलदायक होते हैं, थोड़े अभ्यास से सिद्ध होनेवाले नहीं हैं। पहले तो यह समझना चाहिए कि व्यक्ति यदि इनके निमित्त से बैठने के लिए थोड़ा समय भी नहीं दे सकता है तो इसका अर्थ है कि उसके जीवन में इनका कोई महत्व ही नहीं है। फिर चलते-फिरते उपासना क्या करेगा? इसलिए बैठकर अभ्यास करने के लिए कुछ समय निकालना ही चाहिए और चलते-फिरते स्मृति बनाए रखनी चाहिए, इससे धीरे-धीरे लाभ का अनुभव होगा।

जिज्ञासा :- साधना किस वृक्ष के नीचे करनी चाहिए?

समाधान :- बिल्ववृक्ष और वटवृक्ष के नीचे बैठकर साधना करने से विशेष लाभ होता है। यह तो सर्वसामान्य नियम है, पर कुछ साधनाओं के लिए विशेष वृक्ष के नीचे बैठकर करने का भी विधान शास्त्रों में मिलता है।

जिज्ञासा :- दान और त्याग में क्या भेद है? ज्ञानी का त्याग किस प्रकार का होता है?

समाधान :- पहले दान का फल समझना चाहिए। दान का फल तो जगत् भी हो सकता है और यदि व्यक्ति निष्काम हो तो दान के द्वारा उसकी अन्तःकरण शुद्धि भी हो सकती है। बोओगे तो फलेगा ही। दान दोगे तो फल मिलना अवश्यम्भावी है। यदि पूर्ण निष्कामता है तो अन्तःकरण की शुद्धि हो जाएगी।

दान की अपेक्षा त्याग एक बिल्कुल अलग वस्तु है। त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः। (कैवल्य उप.-१.२) त्याग के द्वारा कोई व्यक्ति मोक्ष तक प्राप्त कर सकता है। यह ममत्व के त्याग से शुरू होता है और सम्पूर्ण कार्यकरण-संघात में जो अहंता है उसके त्याग में इसकी परिसमाप्ति होती है। यह अहंता-

ममता का त्याग परमार्थ का साक्षात् साधन है क्योंकि ये दोनों ही जीव की सृष्टि हैं। अनात्माभिमान (शरीरादि में आत्मबुद्धि) के त्याग से मोक्षरूपी अमृतत्व की प्राप्ति होती है।

वेदान्त शुरू से अन्त तक केवल त्याग ही करने का उपदेश करता है। यहाँ एक ही साधन है - त्याग। बाहर से वस्तुओं का त्याग करना और भीतर से काम-क्रोधादि का त्याग करके अहंता-ममता का त्याग करना। ऐसा त्याग साधक को मोक्ष में, अमृतत्व में प्रतिष्ठित कर देता है। इसलिए वेदान्त का सारा साधन त्याग पर ही आधारित होता है।

त्याग ज्ञानी का स्वभाव है और जिज्ञासु के लिए प्रयत्नसाध्य है। ज्ञानी में जो त्याग दीखता है, वह अयत्नतः है। वह करता नहीं है, पर बुद्धि का जैसा स्वभाव बना हुआ है, वैसा-वैसा उसके द्वारा होता जाता है। उसी प्रकार का चिन्तन अपने-आप होता है। ज्ञानी का बैठना-बोलना सब उसी के (त्याग के) अनुकूल होता है। परन्तु जिज्ञासु को त्याग के लिए अभ्यास करना पड़ता है।

जिज्ञासा :- ऐसा सुना है कि त्याग का भी त्याग करने पर तत्त्वप्राप्ति होती है। यह त्याग किस प्रकार होगा?

समाधान :- त्याग का त्याग नहीं होता, अपितु त्याग के अभिमान का त्याग होता है - येन त्यजसि तत्त्यज। (महा. शान्ति.-३२९.४०) त्याग भी साधक में एक प्रकार का अहंकार उत्पन्न कर सकता है। कभी-कभी बाह्य त्याग अधिक अहंकार उत्पन्न कर देता है क्योंकि वह लोक से सम्बन्धित हो जाता है। साधक को लग सकता है कि मैंने इतना बड़ा त्याग किया है, यही एक बहुत बड़े बन्धन का हेतु बन जाता है।

एक सज्जन जब साधु बने तो उन्होंने अपना एम.एस.सी. का सर्टिफिकेट फाड़कर नदी में डाल दिया। पर हर जगह उसकी चर्चा जरूर करते थे। तो उन्होंने कहाँ फाड़कर फेंका! बाहर से तो फाड़कर फेंक दिया, पर हमेशा किसी-न-किसी निमित्त से उसका बखान जरूर ही करते थे। यह अहंकार बहुत सूक्ष्म और गम्भीर है। व्यक्ति कुछ भी करता है तो उसका अहंकार कर बैठता है, यही

इस की सबसे बड़ी कमजोरी है। इसलिए कहा जाता है कि त्याग करने के अहंकार का भी त्याग करना चाहिए।

जिज्ञासा :- क्या तत्त्वबोध होने से पहले नाद-श्रवण या ज्योति-दर्शन होना आवश्यक है?

समाधान :- यदि साधक योगमार्ग का अवलम्बन लेता है तो उसे ज्ञान से पहले अनाहतनाद-श्रवण, ज्योति-दर्शन इत्यादि अनुभूतियों से गुजरना पड़ेगा। पर ज्ञानप्राप्ति के अनेक मार्ग हैं -

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।

अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ (गीता-१३.२४)

यदि आप सांख्यमार्ग अर्थात् ज्ञानमार्ग के साधक हैं तो विचार से ही तत्त्वबोध कर लेंगे, वहाँ नादादि की अपेक्षा नहीं है। जो उपासक हैं, वे यदि निर्वासनिक होकर भगवान् से ज्ञान ही माँगें तो उनकी व्यवस्था भगवान् की ओर से हो जाएगी, उन्हें भी नाद-श्रवण, ज्योति-दर्शन होना आवश्यक नहीं है। हाँ, ध्यानयोगी के लिए उनकी अपेक्षा होती है।

जिज्ञासा :- योगमार्ग के साधन आसन-प्राणायाम आदि वेदान्त साधना में उपयोगी हैं अथवा नहीं? भाष्य में कहीं-कहीं भाष्यकार भगवान् ने योगमार्ग का खण्डन किया है, तब क्या इसका आश्रय लेना चाहिए?

समाधान :- वेदान्तविचार का अर्थ ब्रह्मविचार या आत्मविचार है। अथातो ब्रह्म जिज्ञासा (ब्रह्मसूत्र - १.१.१)। यहाँ जिज्ञासा का अर्थ विचार किया है, पर इस विचार से पहले शान्तो दान्त उपरतस्तिक्षुः समाहितो भूत्वा ... ।(बृह.उप.-४.४.२३) शमादि सम्पत्ति अपेक्षित है। यदि किसी साधक में साधनचतुष्टय नहीं है तो उसकी प्राप्ति के लिए किसी साधन की अपेक्षा तो रहेगी ही। इसलिए हयग्रीव भगवान् ने भी कहा है - निर्मलनिश्चल-

अन्तःकरणोपेतो योगी। (शक्तिसूत्र-५.१.२)। जिसका मन शुद्ध हो और चंचल न हो उसकी योगी संज्ञा होती है। ऐसी योग्यता के लिए अष्टांग योग सहायक बनता ही है।

इसलिए भगवान् भाष्यकार ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में निर्णय दिया है कि वेदान्त के अधिकार की प्राप्ति के लिए साधनरूप में योग से हमारा कोई विरोध नहीं है। पर जहाँ सिद्धान्त की चर्चा चलती है वहाँ योग जिस प्रकार से प्रकृति में स्वातन्त्र्य, पुरुष में अनेकत्व और जगत् में सत्यत्व मानता है, उसका हम खण्डन करते हैं। इसी अंश को लेकर भाष्य में योग की उपेक्षा की बात कही जाती है। परन्तु हमने उत्तरकाशी आदि में पुराने सन्तों को देखा है कि वे साधना में प्राणायाम का आधार लिया करते थे।

यदि किसी के मन में यहाँ से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त के साध्य-साधनों की कोई कामना ही नहीं है और बुद्धि तत्त्वचिन्तन में एकाग्र है तो उसके लिए अष्टांगयोग से प्राप्त होनेवाली योग्यता का कोई प्रश्न ही नहीं है। माण्डूक्य में भी कहा है -

आत्मसत्यानुबोधेन न संकल्पयते यदा।

अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम् ॥ (कारिका, अद्वैत प्र. - ३२)

आत्मसत्यानुबोध से ही संकल्परहित हो जाए, पर यह आत्मसत्यानुबोध ब्रह्मविचार से ही होगा। उसके लिए आपको अधिकारित्व की अपेक्षा होगी। यह बहुत जन्मों की साधना है। पूर्वजन्म की साधना के बल पर यदि किसी का मन शान्त, दान्त और एकाग्र है तो उसे योगादि साधन की अपेक्षा नहीं है, परन्तु जिसका मन ऐसा नहीं है वह अपने में अधिकारित्व लाने के लिए योग की सहायता ले तो कोई दोष नहीं है।

गुरु-तत्त्व

जिज्ञासा - गुरुतत्त्व की महिमा क्या है, कृपया हमें समझाएँ?

समाधान : गुरु शब्द का अर्थ होता है - गुरुत्व जिसमें हो, अर्थात् जिसमें श्रेष्ठता हो, जिसकी वाणी और संकल्प में शक्ति हो। गुरुगीता में कहा गया है - न गुरोरधिकम् (१०८), गुरु से बढ़कर कोई भी नहीं है। इसी प्रकार अन्यत्र कहा गया है - ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने, (परम्परया) ईश्वर, गुरु और आत्मा ये तीनों कहने मात्र को भिन्न हैं, वस्तुतः भिन्न नहीं हैं और आकाश के समान व्याप्त हैं। योगसूत्र में भी गुरु और ईश्वर में अभेद दिखाया गया है - सः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् (१.२६) - वह परमात्मा ही पूर्व वालों के, वर्तमान वालों के तथा भविष्य वालों के सभी के गुरु हैं। इसलिए जो गुरु का भजन करता है, वह मानो परमात्मा का ही भजन करता है।

एक दृष्टि से तो गुरु परमात्मा से भी श्रेष्ठ है। परमात्मा तो शासन करता है, यदि आप अपराध करते हैं तो वह उसका दण्ड देने के लिए तैयार रहता है, परन्तु गुरुजी तो दयालु हैं, वे हमारे अपराधों को क्षमा कर देते हैं। भगवान् की पाँच विशेष शक्तियाँ मानी गई हैं - उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, निग्रह और अनुग्रह। अनुग्रह शक्ति सदाशिव के अधीन रहती है। उसी अनुग्रह शक्ति के अवतार ही गुरुदेव हैं। अन्यत्र भी कहा है - गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। (गुरुगीता - ४६) गुरु ही ब्रह्मा है, गुरु ही विष्णु है और गुरु ही शिव है। वहीं आगे कहा -

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्।

मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा॥ (गुरुगीता - ७४)
ध्यान करना हो तो गुरुजी का करो, पूजा करनी हो तो गुरुचरणों की करो। पुस्तकों में जो मन्त्र हैं वस्तुतः वे मन्त्र नहीं हैं, गुरुवाक्य ही मन्त्र है। गुरुकृपा ही मोक्ष की साक्षात् हेतु है।

भगवान् शंकराचार्यजी कहते हैं कि गुरुजी के लिए हमारे पास कोई दृष्टान्त भी नहीं है।

दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सदगुरोर्ज्ञानदातुः

स्पर्शश्चेत्तत्र कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामश्मसारम्।

न स्पर्शत्वं तथापि श्रितचरणयुगे सदगुरुः स्वीयशिष्ये

स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरुपमस्तेन वाऽलौकिकोऽपि॥

(शतश्लोकी-१)

तीनों भुवनों में गुरु से उपमा करने के योग्य कोई भी वस्तु नहीं है। यदि कोई कहे पारसमणि ह, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि पारसमणि लोहे को स्पर्श करके सोना बनाती है, पारसमणि नहीं बनाती। परन्तु सदगुरु तो अपने शिष्य को अपना स्वरूप देकर गुरु ही बना देते हैं। अतः गुरुतत्त्व निरुपम और अलौकिक है। श्रुति भी गुरुकृपा को ही शिष्य के कल्याण का मुख्य हेतु बताती है - यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः...। (मुण्डक उप.-३.२.३) यं शिष्यं साधकं एष गुरुः वृणुते स्वीकरोति तेन शिष्येण परमात्मा लभ्यः - जिस साधक शिष्य को गुरु वरण कर लेता है वह परमात्मा को अनायास ही प्राप्त कर लेता है। गुरु की महिमा असीम है उसका सम्पूर्ण रूप से कोई वर्णन कर ही नहीं सकता है। संसार में बहुत-से सम्प्रदाय हैं, वे परमात्मा को मानें चाहे न मानें, परन्तु गुरु को अवश्य ही मानते हैं। अतः गुरु सर्वपूज्य और सर्वमान्य हैं।

वस्तुतः तो गुरुतत्त्व व्यापक और गूढ़ है, परन्तु उससे सम्बन्ध बनाने के लिए किसी एक व्यक्ति-विशेष को माध्यम बनाना पड़ता है। जैसे, प्रधानमन्त्री से लेकर एक छोटे-से अधिकारी तक सभी मिलकर सरकार है। लोग कहते हैं कि अमुक वस्तु हमने सरकार से प्राप्त की। पर कोई व्यक्ति जो भी प्राप्त करता है किसी अधिकारी से ही प्राप्त करता है, सीधे सरकार को खोजे तो कहाँ मिलेगी? किसी माध्यम को लेकर ही हम सरकार से सम्बन्धित हो सकते हैं। इस प्रकार गुरुतत्त्व एक ही है। वह तो सरकार के समान है, उससे कुछ प्राप्त करने के लिए कोई-न-कोई माध्यम तो बनाना पड़ेगा। उसी माध्यम को लेकर हम गुरुतत्त्व से उपकृत हो सकते हैं। वह उपकार तो गुरुतत्त्व के द्वारा ही होता है, परन्तु श्रेय हम एक व्यक्ति-विशेष को देते हैं।

एक बात और ध्यान रखने की है कि गुरु का फोटो देखकर हमारे भीतर एक भावशक्ति उत्पन्न होती है, उससे हमारे अन्दर एक मूर्ति बनती है, जो चेतन होती है। उसी मूर्ति से हमारा सम्बन्ध बनता है। उसको हम जितने दिव्य रूप में गृहीत कर सकते हैं, उतने ही दिव्य रूप से वह हमारे साथ हमेशा रहेगी। उससे हमको लाभ मिलेगा।

यह एक सिद्धान्त है कि एक ही गुरु से सभी लोग समान रूप से लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। जिसके अन्दर भावशक्ति जितनी दृढ़ है, वह उतना ही अधिक लाभ प्राप्त करेगा। जैसे, एकलव्य द्रोणाचार्य से शिक्षा प्राप्त करने गया था। वे राजकुमारों को ही पढ़ाते थे। राजकुमारों के साथ एक भील बालक बैठा। यह तो राजघराने का बड़ा भारी अपमान था। इसलिए उन्होंने कहा, 'बेटा, मैं तुम्हें नहीं पढ़ा सकता।' परन्तु उनके अन्दर उसके प्रति कृपा थी। एकलव्य जंगल में चला गया। वहाँ जाकर उसने द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति बनाई। उस मूर्ति को देखकर उसके हृदय में जो भावमयी मूर्ति बनी, वह चेतन थी क्योंकि भावशक्ति जड़ को चेतन बना देती है।

उसने उनसे पूछ-पूछकर बाण चलाने शुरू कर दिए। उतनी दिव्य मूर्ति वे राजकुमार अपने हृदय में नहीं बना पाए क्योंकि उन लोगों को गुरु का व्यवहार मनुष्य के समान दीखता था, इसलिए पूर्ण श्रद्धा नहीं बन पाती थी। परन्तु एकलव्य के सामने ऐसा कोई हेतु नहीं था जो उसके हृदय में बनी हुई भावशक्ति को प्रभावित कर सके। उसने गुरुत्व से ऐसी धनुर्विद्या सीख ली जो कौरव-पाण्डव भी नहीं सीख पाए। यह उसकी निष्ठा की दृढ़ता का ही फल था। अतः गुरुत्व व्यापक होते हुए भी यह आपकी भावना पर ही निर्भर करता है कि आप उससे कितना उपकृत होते हैं।

जिज्ञासा :- अखाड़े के संन्यासियों ने गणेशजी और कार्तिकेयजी को गुरु माना है, लेकिन शंकरजी को गुरु नहीं माना। क्यों?

समाधान :- इष्ट और गुरु में अन्तर है। गुरु का आश्रय लेकर इष्ट की प्राप्ति होती है। वैष्णव सम्प्रदाय में गुरु शिव हैं, इष्ट नारायण हैं। संन्यासियों की

परम्परा में इष्ट शिव हैं, गुरु नारायण हैं। नारायणं पद्मभवं वशिष्ठं ...। (परम्परया) इसलिए संन्यासियों में शिव को गुरु के रूप न देखकर इष्ट के रूप में मानते हैं।

जिज्ञासा :- संन्यास परम्परा में यदि गुरु नारायण हैं तो कहीं-कहीं आदिगुरु सदाशिव को माना है। सदाशिवसमारम्भां शङ्कराचार्यमध्यमाम्। अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम्॥ (परम्परया) ऐसा क्यों?

समाधान :- नारायणरूप या शिवरूप के उद्भूत होने से पहले जो कृपाशक्ति समवेत परमेश्वर है, उसी का नाम सदाशिव है। शास्त्र के अनुसार परमेश्वर की कृपासंयुक्त मूर्ति का नाम ही गुरु है। इसलिए यदि आदिगुरु सदाशिव को माना है तो कोई विरोध नहीं है।

जिज्ञासा :- क्या आपको गुरु मानकर साधना कर सकते हैं?

समाधान :- गुरु तत्त्व व्यापक है, जिसकी जहाँ श्रद्धा हो जाए वहाँ से वह लाभ ले सकता है। एकलव्य ने द्रोणाचार्य की मिट्टी की मूर्ति बनाकर उसी को गुरु मान लिया और ऐसी धनुर्विद्या सीख ली जो अर्जुन आदि भी नहीं सीख पाए। जिसका एकलव्य के समान हठ है उसको कौन रोक सकता है? वह जिस मन्त्र का जप करता है, उसको ही गुरुमन्त्र मानकर जप कर सकता है और मुझे गुरु मान सकता है। पर एक बात का ध्यान रखे। मेरे नाम पर किसी प्रकार का कलंक न लगाए। मुझे गुरु मान लेने पर उसको यह जिम्मेदारी निभानी पड़ेगी। यदि वह इस जिम्मेदारी को निभा सकता है तो उसको गुरुत्व से कृपा प्राप्त हो जाएगी।

जिज्ञासा :-

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।

गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः॥

(गुरुगीता-४६)

यहाँ गुरु को ब्रह्मा, विष्णु इत्यादि रूप में कहा है। इसका क्या तात्पर्य है?

समाधान :- देखिये, सृष्टि के मूल में एक निर्गुण-निराकार तत्त्व है, उसको पर ब्रह्म कहो या कुछ भी कहो क्योंकि वह शब्द का तो विषय है नहीं। वह तत्त्व एक ही है, पर अनेक रूपों में भास रहा है। सभी उपासनाएँ वास्तव में निर्गुण-निराकार की ही हैं, पर सगुण-साकार के आधार के बिना आप चित्त वहाँ नहीं ले जा सकते। इसलिए वही निर्गुणतत्त्व कृपाशक्ति से युक्त होकर गुरु नामवाला हो जाता है, तो गुरु का स्वरूप वही तत्त्व हुआ। सृष्टिशक्ति को लेकर उसी का नाम ब्रह्मा, पालनशक्ति को लेकर विष्णु, संहारशक्ति को लेकर रुद्र और तिरोधानशक्ति को लेकर ईश्वर एवं कृपाशक्ति को लेकर उसी का नाम सदाशिव या दक्षिणामूर्ति या गुरु हो गया। गुरुतत्त्व अर्थात् कृपाशक्ति युक्त ब्रह्मा। उसी के उपाधि भेद से ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ये नाम हो जाते हैं। बिना उपाधि के उसी का नाम परब्रह्म हो जाता है।

जिज्ञासा :- गुरुदेव को प्रसन्न कैसे किया जाए?

समाधान :- गुरु की आज्ञा का पालन ही उनको प्रसन्न करने का मुख्य उपाय है। गुरु नानकजी की गद्दी पर उत्तराधिकारी बैठाने का प्रसंग आया तो कुछ लोग नानकजी के पुत्र के पक्ष में थे और कुछ लोग एक शिष्य लहनासिंह के पक्ष में थे। परीक्षा के लिए नानकजी ने दोनों को अलग-अलग चबूतरा बनाने का आदेश दिया। दोनों ने दिनभर परिश्रम करके चबूतरे बनाए। शाम को नानकजी ने आकर कहा कि ये तो ठीक नहीं बने, इन्हें तोड़ो। दूसरे दिन और तीसरे दिन भी इसी प्रकार चबूतरे बनवाकर शाम को तुड़वा दिए। जब तीन दिन बीत गए तो पुत्र ने कहा, 'आप जैसा कहते हैं वैसे ही चबूतरे हम दिनभर परिश्रम करके बनाते हैं और शाम को आप तुड़वा देते हैं। इससे क्या फायदा है?' नानकजी ने कहा, 'तुम रहने दो, कल से मत बनाना।'

शिष्य रोज बनाता रहा और वे रोज तुड़वाते रहे। जब सात दिन हो गए तो नानकजी ने पूछा, 'तुम्हारे मन में कोई विकल्प नहीं आता?' उसने जवाब दिया, 'भगवन्! मुझे चबूतरे से क्या लेना-देना है, मेरा सम्बन्ध आपसे है। आप बनाने के लिए कहते हैं तो मैं पूरी शक्ति से बनाता हूँ। आप तोड़ने के लिए कहते हैं तो मैं तोड़ देता हूँ। मेरा सम्बन्ध चबूतरे से है ही नहीं, आपकी

आज्ञा के पालन से है।' नानकजी ने कहा, 'यही मेरी गद्दी का ठीक उत्तराधिकारी है।' इस प्रकार का आज्ञा-पालन ही गुरु को प्रसन्न करने का उपाय है।

जिज्ञासा :- यदि विचार स्वयं को ही करना है तो गुरुकृपा का क्या महत्व है?

समाधान :- जितने भी विचारादि साधन हैं वे सब वासनाओं को पकाने के लिए हैं। जब वासनाएँ पक जाती हैं तो संसार में कहीं से रस नहीं मिलता। यदि वासनाएँ पकी नहीं हैं और गुरु कह दे कि इन्हें छोड़ दो, तब यदि साधक गुरु आज्ञा समझकर छोड़ना चाहे तो संकट में पड़ जाएगा। अन्दर से वासना छूटी नहीं तो मन वहाँ जाता रहेगा। सहन नहीं कर पाएगा तो पागल भी हो सकता है। इसलिए वासनाओं के पकने के बाद ही गुरु अपनी कृपा से उन्हें तोड़ देता है। गुरुपदिष्ट मार्ग से ही कर्म, उपासना, विचार सभी साधनों का अनुष्ठान वासनाओं को पकाने के लिए किया जाता है। अतः अपने पुरुषार्थ और गुरुकृपा दोनों का महत्व है।

जिज्ञासा :- गुरुजनों द्वारा शिष्यों को दीक्षा देनी चाहिए अथवा दिशा देनी चाहिए?

समाधान :- वस्तुतः दीक्षा में एक प्रकार की दिशा ही दी जाती है। दीक्षा से व्यक्ति के सोचने की पद्धति ही बदल जाती है। वह छोटे-बड़े किसी से भी शिक्षा ग्रहण कर लेता है, यही दिशा है। इसलिए हमारे विचार से दीक्षा देने और दिशा देने में कोई अन्तर नहीं है। दीक्षा में गुरु शिष्य के आवरण का नाश करते हैं और उसे एक दिशा देते हैं कि तुम्हारे जीवन का वास्तविक लक्ष्य क्या है। जब शिष्य उस दिशानुसार चलता है तो सारे प्रतिबन्धों को तोड़कर लक्ष्य की ओर चला जाता है।

शास्त्रों में ऐसा भी कहा गया है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड दिशा का प्रतीक है, परन्तु बिना दीक्षा के यह बात किसी को समझ में नहीं आती। संसार की सभी वस्तुएँ हमें दिशा दे रही हैं, शिक्षा दे रही हैं। तुम्हारा शरीर शिक्षा दे रहा है, परिवार का प्रत्येक व्यक्ति शिक्षा दे रहा है, नर्मदा शिक्षा दे रही है, परन्तु दीक्षा

के बिना वह तुम्हें कहां दे रही है? नर्मदा को देखो, तुम चाहे उसकी पूजा करो या उसे गाली दो, उसे एक मिनट की भी फुर्सत नहीं है, वह निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर भागी जा रही है। इससे वह यही शिक्षा दे रही है कि अपने लक्ष्य की ओर चलते रहो। कोई तुम्हें गाली दे अथवा स्तुति करे, इससे क्या बनता-बिगड़ता है! तुम अपने लक्ष्य से मत भटको। देखो, नर्मदा निरन्तर हर-हर का घोष कर रही है, शिक्षा दे रही है - निरन्तर नामोच्चारण करते रहो क्योंकि यही कवच है अन्यथा जगत् में फँस जाओगे।

कितने पहाड़ों को नर्मदा ने तोड़ दिए और हमें शिक्षा दी कि जीवन में कठिनाई से कभी घबराओ मत। नर्मदा के मार्ग में कितने सुन्दर-सुन्दर मैदान और मोहक दृश्य आए, पर वे उसे रोक न सके। इससे यही शिक्षा मिलती है कि जगत् में कितना ही आकर्षण आए उसमें फँसो मत, जैसे वह समुद्र की ओर ही जाती है, वैसे तुम भी अपने लक्ष्य की ओर ही चलते चलो। उसे तुम्हारी ओर देखने के लिए जरा भी फुर्सत नहीं है, तुम अपनी भावनानुसार उससे भले ही कोई फल प्राप्त कर लो। इस प्रकार संसार में सभी जगह से शिक्षा मिल रही है, दिशा मिल रही है, पर बिना दीक्षा के यह बात समझ में आती नहीं। दीक्षा हमारी दृष्टि को लक्ष्य में केन्द्रित करती है, वहाँ पहुँचने की दिशा दे देती है, अतः हमारे विचार से दीक्षा देना अथवा दिशा देना दोनों में कोई भेद नहीं है।

जिज्ञासा :- ज्ञान के प्रति वैराग्य मुख्य हेतु है अथवा गुरुकृपा?

समाधान :- ज्ञान के प्रति वैराग्य मुख्य हेतु है या गुरुकृपा, इस विषय में मानस में गोस्वामीजी ने कहा है - 'बिनु गुरु होइ कि ग्यान', 'ग्यान कि होइ बिराग बिनु' (उत्तर. - ८.९) गुरु के बिना कहीं ज्ञान हो सकता है? वैराग्य के बिना भी कहीं ज्ञान हो सकता है? अर्थात् दोनों के बिना नहीं हो सकता। ये दोनों बातें ध्यान देने योग्य हैं। यदि आपको जगत् से वैराग्य नहीं है तब आपमें मुमुक्षा ही नहीं होगी। जगत् को छोड़ना नहीं चाहते तो गुरु क्या करेगा? गुरु के पास जाओगे तो भी जगत् ही माँगोगे। वैराग्यवान् को ही गुरु ज्ञान का उपदेश कर सकता है।

यदि किसी व्यक्ति में वैराग्य है और उससे उसने घर भी छोड़ दिया, परन्तु गुरु न मिले, कोई दिशा देनेवाला न हो तो वह व्यक्ति क्या कर पाएगा? बहुत-सी बातें पुस्तक से जानी नहीं जा सकतीं। एक व्यक्ति को एक जगह ऐसी हस्तलिखित पुस्तक मिल गयी जिसमें सोना बनाने की विधि लिखी थी। अब तो उसका सारा चित्त उसीमें केन्द्रित हो गया। विधि को ठीक से समझकर उसमें उपयोगी सारा सामान ले आया और सोना बनाने में लग गया, परन्तु सोना बना नहीं। दुबारा-तिबारा इस प्रकार वह तीस वर्ष तक प्रयास करता रहा। उसकी सारी सम्पत्ति इसी में समाप्त हो गई, पर सोना नहीं बना। अन्त में विक्षिप्त होकर घूमने लगा। शास्त्र से उसका विश्वास ही समाप्त हो गया, शास्त्र को भला-बुरा कहता रहता। एक दिन एक महात्मा ने पूछा, 'ऐसा क्यों करते हो?' तो कहा, 'शास्त्र ने हमको धोखा दे दिया। इस पुस्तक में लिखी विधि के आधार पर सोना बनाने के फेर में मेरा जीवन बर्बाद हो गया।' महात्मा ने पुस्तक देखकर कहा, 'विधि एकदम ठीक लिखी है, तुम एक बार मेरे सामने बनाओ।' अब वह कहीं से उधार सामान ले आया और सोना बनाना शुरू किया। एक स्थिति ऐसी आई कि किताब में निर्दिष्ट विधि के अनुसार नीबू का रस सामग्री में छोड़ना था। वह चाकू उठाकर नीबू काटने लगा, तभी महात्मा ने एक थप्पड़ मारा और कहा, 'यहाँ कहाँ लिखा है कि चाकू से नीबू काटो? यही लिखा है कि नीबू का रस छोड़ो।' महात्मा ने हाथ से नीबू तोड़कर रस उसमें गिराया तो सोना बन गया। इसी प्रकार साधना मार्ग में भी कुछ ग्रन्थियाँ ऐसी होती हैं जो अनुभव से ही खुलती हैं, उन्हें गुरु ही बता सकता है। उसमें पुस्तकीय ज्ञान क्या करेगा? दूसरी बात यह है कि जिसका ज्ञान हमें प्राप्त करना है वह अशब्द पद है, शब्द के द्वारा कहा नहीं जा सकता, इसलिए साधना-मार्ग में गुरु का होना नितान्त आवश्यक है। ज्ञान के लिए वैराग्य और गुरु-कृपा दोनों का ही अपना-अपना महत्व है। इनमें छोटा-बड़ा या मुख्य हेतु किसे कहे!

जिज्ञासा :- कोई गुरु को शिवरूप मानकर गुरु-मन्त्र का निरन्तर अनुसन्धान करता रहे तो क्या उसके लिए वेदान्त का रहस्य खुल सकता है?

समाधान :- निष्ठा से बड़े-बड़े काम होते हैं। पुण्डरीक की माता-पिता के प्रति जो निष्ठा बन गयी उससे स्वयं भगवान् को उसके घर आना पड़ा। इसी प्रकार गुरु के प्रति, गुरु-मन्त्र के प्रति जिसकी दृढ़ निष्ठा हो जाएगी, उसे वेदान्त का रहस्य क्यों नहीं खुलेगा? सम्यक् प्रकार से गुरु आज्ञा के पालन करने मात्र से ही ज्ञान हो जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में इस प्रकार की एक कथा आती है। सत्यकाम जाबाल नाम का एक ब्राह्मण बालक गौतम ऋषि के गुरुकुल में रहता था। एक बार गुरु ने उसे चार सौ गायें सौंपीं और आज्ञा दी, 'वत्स! इन गायों को जंगल में ले जाकर इनकी सेवा करो। जब इनकी संख्या एक हजार हो जाए तभी तुम वापस आना।' गुरु-आज्ञा को मानकर जाबाल गायों को लेकर जंगल चला गया और गो-सेवा में तन्मय हो गया।

कुछ वर्ष बाद गायों की संख्या एक हजार हो गई, परन्तु उसे यह ज्ञान न हुआ तब वृषभ (साँड़) के शरीर में आवेशित होकर वायुदेव ने उसे कहा कि हम लोग एक हजार हो गये हैं, अब हमें आश्रम ले चलो। वृषभ ने उसे उपदेश भी दिया और कहा, 'यह ब्रह्म के प्रथम पाद का कथन है। आगे का उपदेश अग्निदेव करेंगे।' अब वह गायों को लेकर आश्रम की ओर लौटा। रास्ते में अग्निदेव ने उसको ब्रह्म के द्वितीय पाद का उपदेश किया और कहा, 'आगे का कथन आदित्य करेंगे।' फिर हँस के रूप में आदित्य ने तृतीय पाद का उपदेश किया और कहा, 'आगे का कथन प्राणदेवता करेंगे।' फिर वह आगे चला तो मदगु पक्षी के रूप में प्राणदेव ने चतुर्थ पाद का उपदेश किया।

इस प्रकार जब सत्यकाम आश्रम पहुँचा तो गुरुजी ने कहा कि तुम्हारा चेहरा तो बड़ा तेजस्वी मालूम पड़ रहा है, ऐसा लगता है तुम्हें तो ब्रह्मज्ञान हो गया। सत्यकाम ने सारी घटना गुरुजी को सुना दी और कहा कि मुझे तो आपसे ज्ञान प्राप्त करना है। गुरुजी ने कहा, 'जो ज्ञान तुम्हें प्राप्त हुआ है, वही ठीक है। इसमें संशय मत करो।' इस प्रकार गुरु ने उसके ज्ञान पर मुहर लगा दी। इस प्रकार की गुरु-निष्ठा जिसमें हो, उसे वेदान्त का रहस्य खुल ही जाएगा, इसमें कोई संशय नहीं है।

ईश्वर-तत्त्व

जिज्ञासा :- कहते हैं परमेश्वर की पाँच शक्तियाँ नित्य काम करती हैं और इन सभी में कृपाशक्ति ही अनुस्यूत है। संहार और तिरोधान में कृपाशक्ति कैसे घटेगी?

समाधान :- आगमशास्त्र के अनुसार परमेश्वर की पाँच शक्तियाँ नित्य काम करती हैं। सृष्टिशक्ति सृष्टि कर रही है, पालनशक्ति पालन कर रही है, संहारशक्ति संहार कर रही है, मायाशक्ति तिरोधान कर रही है और अनुग्रहशक्ति जीवों पर अनुग्रह करती रहती है। वस्तुतः ये सभी शक्तियाँ अनुग्रहशक्ति के ही माध्यम से अपने-अपने कार्य में रत हैं क्योंकि यदि सृष्टि न हो तो जीव को भोग ही नहीं मिलेगा, पर जीव भोग तो चाहता है, इसलिए यह भी कृपाशक्ति के अन्तर्गत ही है।

संसार का पालन न हो तो जीवों को भोग सम्भव नहीं होगा और संहार न हो तो व्यवस्था ही बिगड़ जाएगी। घर में एक वृद्ध को भी सम्भालना लोगों को कठिन लगता है। यदि कोई मरेगा ही नहीं तो वृद्धों की पंक्तियाँ लग जाएँगी और जगत् में अव्यवस्था हो जाएगी। इसलिए संहारशक्ति भी कृपाशक्ति के अन्तर्गत ही है। निग्रहशक्ति का ही नाम मायाशक्ति है। इसी को तिरोधानशक्ति भी कहते हैं। यह सचाई को सामने प्रकट नहीं होने देती है। वस्तुतः यह भी परमात्मा की अनुग्रहशक्ति के ही अन्तर्गत आती है क्योंकि जीव भोग चाहता है और यदि सचाई उसके सामने प्रकट हो जाए तो भोग सम्भव नहीं होगा। अनुग्रहशक्ति तो निरन्तर जीव के कल्याण के लिए ही योजना बनाती रहती है कि कैसे यह जीव परमात्मा को प्राप्त करे। इसलिए इन सभी शक्तियों के विषय में अलग-अलग विचार करें तो यही सिद्ध होता है कि इन सबमें कृपाशक्ति ही अनुस्यूत है।

जिज्ञासा :- भगवान् अवतार धारण क्यों करते हैं?

समाधान :- भगवान् का अवतार उनकी अनुग्रहशक्ति के माध्यम से ही होता है। जिसके संकल्प मात्र से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का संहार हो सकता है,

उसे रावण जैसे मच्छर को मारने के लिए अवतार लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। पर अनुग्रहशक्ति भगवान् को इसके लिए बाध्य करती है। वेद ने उपदेश दिया - मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव ...। (तैत्ति.उप.- १.११.२) विधि-निषेध इत्यादि भी बता दिए, पर मनुष्य उन्हें निभाने को तैयार नहीं है। तब कृपाशक्ति ने कहा - आप अवतार लेकर शास्त्र को अपने जीवन में उतारकर लोगों को दिखाइए और अपनी भगवत्ता को उनके सामने प्रकट कीजिए, तब आपको लोग भगवान् मानेंगे और आपके पवित्र चरित्रों को सुनकर लोगों का कल्याण होगा। इसीलिए भगवान् अवतार लेते हैं।

जिज्ञासा :- परब्रह्म, ईश्वर और अवतार में क्या भेद है?

समाधान :- केवल शब्दों का भेद है। जैसे, मिट्टी और घड़े में, सोने और आभूषण में कोई अन्तर नहीं है ऐसे ही इनमें मात्र शब्द का अन्तर समझना चाहिए। तत्त्व में कोई अन्तर नहीं है। शास्त्रों में परब्रह्म शब्द का प्रयोग निर्गुण-निराकारतत्त्व के विषय में होता है जो सृष्टि का मूल तत्त्व है। श्रुति से तो यह निर्धारित होता है कि सृष्टि के मूल में एक ही अद्वितीय तत्त्व है, पर हमको तो भेदयुक्त सृष्टि दिखाई देती है। इस विरोधाभास में हेतु क्या है? इसका विचार करते पर यही बात समझ में आती है कि उस तत्त्व में एक ऐसी शक्ति है जिससे वह एक रूप में रहते हुए भी अनेक रूप में दिखाई दे सकता है। उस शक्ति (माया) से संयुक्त होने पर उसी परब्रह्म का नाम ईश्वर हो जाता है। यह ईश्वर तत्त्व सगुण-निराकाररूप है। यह अनाम-अरूप है, परन्तु जीव तो बिना नाम-रूप के साधना कर ही नहीं पाता है। जीवों के कल्याण के लिए वही ईश्वर जब कृपाशक्ति से संयुक्त होकर विशिष्ट विग्रह के रूप में प्रकट होता है तो उसको अवतार कहते हैं।

जिज्ञासा :- परमेश्वर को प्रसन्न करने का क्या उपाय है?

समाधान :- लोक में किसी को प्रसन्न करना हो तो कैसे कर लेते हो? उसकी कृपा प्राप्त करना हो तो कैसे प्राप्त करते हो? इस बात को बच्चे भी जानते

हैं। यदि उन्हें पिता से कुछ लेना हो तो कैसी भूमिका बना लेते हैं। ऐसी सेवा करने लगेंगे, ऐसी-ऐसी बातें करने लगेंगे कि दो-तीन दिन में पिता को लगने लगेंगे कि बालक बहुत सुधर गया है! युक्ति तो सभी जानते हैं। यही युक्ति सब जगह चलती है।

परमेश्वर तो सर्वज्ञ है। यदि परमेश्वर को प्रसन्न करना हो तो उसका आदेश मानना पड़ेगा। शास्त्र ही परमेश्वर का आदेश है। जैसे, माता को प्रसन्न करना हो तो माता का कहना मानते हैं। अपने मन का कहना मानें तो माता कैसे प्रसन्न होगी? अपने मन से अधिक महत्व माता को देना ही होगा। इसी प्रकार यदि परमेश्वर को प्रसन्न करना हो तो परमेश्वर का आदेश जो शास्त्र है उसको अपने मन से अधिक आदर देना ही होगा। परन्तु एक बात ध्यान देने की है कि यदि परमेश्वर प्रसन्न हो भी जाए तो आप उसके समक्ष माँग क्या रखेंगे? जैसे कोई राजा को प्रसन्न करके उससे थोड़ा-सा गुड़ माँगे तो राजा का प्रसन्न होना भी सार्थक नहीं होगा।

इसी प्रकार परमेश्वर को यदि प्रसन्न कर भी लिया और उससे सदबुद्धि न माँगकर जगत् ही माँग लिया तो परमेश्वर का प्रसन्न होना भी सार्थक नहीं होगा। इसलिए जब शास्त्र को अपने मन की अपेक्षा प्रधान बनाता है तब उसका मन शुद्ध होता है और परमेश्वर की महिमा समझ में आती है। तभी वह जगत् न माँगकर परमेश्वर माँगता है। इसलिए इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि यदि परमेश्वर को प्रसन्न करना है तो मनमुखता को त्यागकर गुरुमुख होना ही पड़ेगा, परमेश्वर की आज्ञा से चलना ही पड़ेगा। यदि कोई ऐसा करेगा तो निश्चित ही उसपर परमेश्वर प्रसन्न हो जाएगा।

जिज्ञासा :- 'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई।' (मानस, अयोध्या.-१२६.२) भगवान् क्यों किसी को जनाता है और किसी को नहीं? क्या भगवान् पक्षपाती हैं?

समाधान :- क्या भगवान् में इस प्रकार का दोष हो सकता है!

आपको अपने हृदय पर हाथ रखकर देखना चाहिए कि मैं केवल भगवान् को ही जानना चाहता हूँ अथवा और भी कुछ इच्छा है। बस, अपने आप समाधान हो जाएगा। यदि केवल भगवान् को ही जानना आपके जीवन का लक्ष्य है, दूसरा कोई लक्ष्य नहीं तो भगवान् अपने को जना देगा। पर जिसका लक्ष्य दूसरा है, उसे भगवान् क्यों जनाएगा!

जिज्ञासा :- जीव के राग-वैराग्य और भगवान् के राग-वैराग्य में क्या अन्तर है?

समाधान :- नाटककार के पार्ट के राग-वैराग्य और सामान्य व्यक्ति के राग-वैराग्य में जैसा अन्तर है, ठीक वैसा ही इन दोनों के राग-वैराग्य में अन्तर है। नाटककार नाटक में राग का भी पार्ट करता है तो वैराग्य का भी, परन्तु उस पार्ट से उसका किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं बनता। इसी प्रकार भगवान् का भी राग-वैराग्य किसी से सम्बन्ध नहीं है, पर जीव का सम्बन्ध बन जाता है। यही दोनों में अन्तर है।

जिज्ञासा :- ईश्वर और अवतार में क्या अन्तर है?

समाधान :- ईश्वर सगुण-निराकार, अनाम और अरूप है एवं अवतार सगुण-साकार होता है। उसका नाम भी होता है और रूप भी। अवतार को भी अपने स्वरूप का स्मरण रहता है, उसकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता वैसी-की-वैसी बनी रहती है। सभी अवतार ईश्वर के ही होते हैं इसलिए किसी भी अवतार की नाम-रूप से उपासना करें तो वह उपासना ईश्वर की ही होती है। नाम-रूप में भेद होने पर भी तात्त्विक रूप से दोनों में अभेद ही है।

जिज्ञासा :- शास्त्र में कहा है जो भी नाम-रूपवाला है, वह मायिक है। गंगा, सरस्वती, गायत्री आदि ईश्वर की विभूतियाँ तथा राम, कृष्ण आदि अवतार, ये सब माया कैसे हो सकते हैं?

समाधान :- जितनी भी सृष्टि हुई है वह माया से है और नाम-रूप ही सृष्टि है। इसलिए नाम-रूप का जितना अनुभव हो रहा है, वह सब मायिक है। भगवान् भी जब अवतार लेता है तो माया का आश्रय लेकर ही लेता है। इसलिए अवतार का शरीर मायिक होगा। ये सारा जगत् मायिक है, इसी में सुख-दुःख और बन्ध-मोक्ष का अनुभव हो रहा है, सगुण-साकार भगवान् का दर्शन भी माया के क्षेत्र में ही होता है।

गोस्वामीजी ने भी कहा है - गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥ (मानस, अरण्य-१४.२) इन्द्रियाँ और उनके विषय जहाँ तक मन जाता है, वे सब माया हैं। परन्तु मायिक होने पर भी विभूतियों और अवतारों में शक्ति-विशेष होती है जिससे लोगों का कल्याण होता ही है। इसलिए ये जगत् की अन्य वस्तुओं की तरह उपेक्षा करने योग्य नहीं हैं।

जिज्ञासा :- कंस तो वसुदेव के समझाने पर उनके केवल आठवें पुत्र को ही मारने के लिए सहमत हो गया था। फिर नारदजी ने भगवत्प्रेरणा से उसे उल्टा पढ़ाया कि सभी पुत्रों को मारो। कहते हैं भगवान् तो किसी को पाप में नहीं लगाता। फिर ऐसा क्यों किया?

समाधान :- अरे भाई! यह तो नारदजी और देवताओं का काम था। इसमें भगवान् कहाँ से आ गये? नारदजी सबके हितैषी हैं, वे जानते थे कि जितनी जल्दी यह भगवान् के हाथ से मरेगा उतनी जल्दी इसका और जगत् का कल्याण होगा। डॉक्टर यदि मरीज का पेट फाड़ता है तो उसके हित की दृष्टि से ही फाड़ता है द्वेष से नहीं। इसी प्रकार नारदजी ने सोचा कि यदि यह अधिक दिन जीयेगा तो इसका पाप बढ़ता जाएगा और भगवान् के हाथ से जल्दी मरेगा तो इसकी मुक्ति हो जाएगी। देवता लोगों ने भी आकाशवाणी इसलिए की कि

यह वसुदेव-देवकी को जेल में डालकर त्रास देगा तो इसके पाप बढ़ जाएँगे जिससे भगवान् जल्दी अवतार लेंगे और जिससे इसको मारकर पुनः धर्म को स्थापित करेंगे। अतः सभी ने अपनी-अपनी दृष्टि से काम किया। भगवान् का इसमें क्या दोष है?

जैसे बिजली से पूछो तो वह कहती है - आप जैसा बल्ब लगाओगे वैसा ही मैं प्रकाश दूँगी। इसी प्रकार जिसकी जैसी इच्छा है वैसा करने की शक्ति भगवान् ही देता है और उसको फल भी वही देता है। परन्तु जीव को कर्ता तो उसका अपना संकल्प ही बनाता है। जिस दृष्टि से मनुष्य कर्म करता है उसके अनुसार ही धर्म अथवा अधर्म होता है। अतः यहाँ नारदजी या देवताओं के कार्य में किसी प्रकार का अधर्म नहीं दीखता।

जिज्ञासा :- ईश्वर और देवता में क्या अन्तर है?

समाधान :- जो जगत् का सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता है, वह ईश्वर है। उसका कभी जन्म नहीं होता, वह नित्य है, निराकार है, हमें दिखाई नहीं देता और उसकी कोई मूर्ति नहीं बन सकती। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की मूर्तियाँ बनती हैं, तीनों की मूर्तियों से आप ईश्वर को समझ सकते हैं।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥ (श्वेता. उप.-४.१०)

प्रकृति ही माया है और महेश्वर ही उसका स्वामी - मायावी। यह सम्पूर्ण जगत् उसी के अवयवों से व्याप्त है। प्रकृति या माया एक वस्तु है और उस माया का स्वामी ईश्वर उससे भिन्न है। जैसे माया का कोई अलग फोटो नहीं है, सारा जगत् ही उसका फोटो है। इसी प्रकार ईश्वर की कोई अलग मूर्ति आप दिखा नहीं सकते, उसका ही अंश सारा जगत् है।

जो भी आपको कुछ देते हैं; वे सब देवता हैं। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भी देवता हैं। पृथ्वी, अग्नि, जल इत्यादि भी देवता हैं क्योंकि ये सभी हमको कुछ-न-कुछ देते हैं। इनका हम पर उपकार है।

जिज्ञासा :- शास्त्र कहता है, ईश्वर ही जीवरूप में आया है। जब ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान है तो फिर जीव अल्पज्ञ, अल्पशक्तियुक्त कैसे हो गया?

समाधान :- माया से ही ईश्वर जीवरूप में प्रतीत होता है। आगम के अनुसार माया के कार्यभूत पाँच कञ्चुक हैं। ईश्वर की शक्तियों को संकोच करनेवाले पाँच तत्त्व हैं उन्हीं को कञ्चुक कहा गया है। कञ्चुक का अर्थ होता है केंचुली, जैसे साँप केंचुली में बँधकर अल्प सामर्थ्यवाला हो जाता है, इसी प्रकार जीव ने कञ्चुक पहन लिए तो छोटा दिखाई देने लगा। ये पाँच कञ्चुक हैं - कला, काल, विद्या, नियति और राग। ईश्वर में जो सर्वकर्तृत्व है, कला से वह जीव में अल्पकर्तृत्व हो जाता है। ईश्वर में नित्यत्व है पर काल के कारण जीव मरणधर्मा हो गया। ईश्वर का सर्वज्ञत्व विद्यारूप कञ्चुक के कारण जीव में अल्पज्ञत्व बन गया। ईश्वर स्वतन्त्र है, पर नियति के कारण जीव पराधीन हो गया। ईश्वर नित्यतृप्त है उसमें कोई कामना नहीं परन्तु राग के कारण जीव में किञ्चित् तृप्ति हो गई, इसलिए विषयों की कामना करता रहता है। इस प्रकार से इन पाँच कञ्चुकों को लेकर ही जीव में शक्ति आदि का संकोच हो जाता है।

जिज्ञासा :- ईश्वर ही सम्पूर्ण जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। उसका कार्य जगत् तो सावयव, नष्ट-भ्रष्ट स्वभाववाला है। ऐसे कार्य का कारण होने से क्या ईश्वर भी सावयव, नष्ट-भ्रष्ट-स्वभाववाला हो जाएगा?

समाधान :- ईश्वर नष्ट-भ्रष्ट-स्वभाववाला नहीं होगा क्योंकि ईश्वर सावयव-पदार्थ के समान उपादान कारण नहीं है। जैसे मृत्तिका घट के रूप में परिणत होकर उपादान बनती है उस प्रकार का उपादान ईश्वर नहीं है। वह तो अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है और उससे जो जगत् की उत्पत्ति होती है वह मायिक है। मायिक पदार्थ से उसके अधिष्ठान में कोई विकृति उत्पन्न नहीं होती। जैसे, रस्सी में दीखनेवाले सर्प से रस्सी में कोई विकृति उत्पन्न नहीं होती। इसलिए उपादान कारण होने पर भी ईश्वर में विकार नहीं होता।

निमित्तकारण में भी विकार वहीं दीखता है जहाँ पर वह कारण शरीरादि अवयववाला होता है जैसे कुम्हार, इसी में विकार सम्भव है। ईश्वर इस प्रकार का तो है नहीं, इसलिए निमित्तकारण होने पर भी ईश्वर में विकृति सम्भव नहीं है। अतः जगत् का कारण होने पर भी ईश्वर नष्ट-भ्रष्ट स्वभाववाला नहीं होगा।

जिज्ञासा :- ईश्वर में सृष्टि-रचना विषयक संकल्प होने के लिए निमित्त क्या है?

समाधान :- जीवों के संस्कार ही ईश्वर में सृष्टि का संकल्प होने में निमित्त हैं। जीवों के संस्कार स्वयं जगत् को नहीं बना सकते क्योंकि वे जड़ हैं। कुछ भी बनाने के लिए चेतन का होना आवश्यक है। जीव भी चेतन है, परन्तु वह सृष्टि करने में समर्थ नहीं है। जीवों के संस्कार के अनुसार जब उनके फलभोग का समय आया तो ईश्वर में सृष्टि-विषयक संकल्प उत्पन्न होगा। जैसे आप किसी कार्य को करने में समर्थ हैं और किसी ने आपसे प्रार्थना की तो वह प्रार्थना आपकी प्रवृत्ति में निमित्त बन जाती है।

जिज्ञासा :- यदि ईश्वर को सृष्टि कार्य में प्रवृत्त करने के लिए जीव का संस्कार निमित्त है तो फिर ईश्वर को सृष्टि करने में स्वतन्त्र कैसे कह सकते हैं?

समाधान :- ईश्वर तो सृष्टि-पालन-संहार सब करने में स्वतन्त्र है। मान लीजिए, हम बिना किसी की सहायता के कोई कार्य करने में समर्थ हैं और जब आपने प्रार्थना की तब हमने वह कार्य किया, तो इसमें हमारा स्वातन्त्र्य है या नहीं? हमारे अन्दर कार्य करने की इच्छा उत्पन्न करने में आपकी प्रार्थना भले ही निमित्त बने, पर हमारे कार्य करने में वह निमित्त नहीं है। यहाँ पर स्वातन्त्र्य का तात्पर्य है कि भले ही ईश्वर निमित्त से सृष्टि करता है, परन्तु बिना निमित्त के भी सृष्टि करने का पूर्ण सामर्थ्य उसमें रहता है। जैसे आप कहें कि

बिना बलब लगाए विद्युत नहीं जलती है, तो विद्युत प्रकाश में स्वतन्त्र नहीं है। पर विचार करके देखेंगे तो पता लगेगा कि प्रकाश में स्वातन्त्र्य किसका है? इसी प्रकार ईश्वर भी सृष्टि के विषय में स्वतन्त्र ही है।

जिज्ञासा :- क्या सम्पूर्ण ऐश्वर्य को प्राप्त करना ही ईश्वर-प्राप्ति है? यदि ऐसा है तो अनेक उपासक ऐश्वर्य प्राप्त करके ईश्वर बन जाएँगे, फिर तो ईश्वर अनेक हो जाएँगे। तब एकेश्वरवाद मत का क्या खण्डन नहीं हो जाएगा?

समाधान :- हिरण्यगर्भरूपता प्राप्त कर लेने पर उपासक को सारा ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है, फिर भी उसके पास सृष्टि-पालन-संहार की शक्ति नहीं होती। वह तो ईश्वर के ही अधीन है अन्यथा बहुत-से सृष्टि-पालन-संहार करनेवाले हो जाएँगे। विचार करके देखिए सूर्य एक ही है। यदि सभी धर्मों का परमेश्वर अलग-अलग होता, तो वह अपने-अपने भक्तों के लिए अलग-अलग सूर्य बना देता। पर ऐसा तो नहीं किया, इसका मतलब परमेश्वर एक ही है, दो नहीं। दूसरी बात, सुषुप्ति में सब एक ही प्रकार का अनुभव करते हैं। इसका अर्थ यह है कि सभी का मूल एक है, दो नहीं हो सकते।

तीसरी बात, सभी अपने अस्तित्व के लिए एक 'मैं' शब्द का ही प्रयोग करते हैं। 'कौन है' पूछने पर सभी 'मैं' का ही समान रूप से प्रयोग करते हैं। स्त्री भी 'मैं' कहती है, पुरुष भी 'मैं' कहता है, बालक-वृद्ध सभी अपने लिए इसी 'मैं' शब्द का ही प्रयोग करते हैं। सबका स्वरूप एक न होता तो एक ही शब्द से सभी का काम कैसे चलता? उस 'मैं' को इस शरीर के साथ न जोड़ोगे तो भेद नहीं आएगा, परन्तु सूक्ष्म शरीर के साथ जोड़ो चाहे स्थूल शरीर के साथ, भेद आ ही जाएगा। शुद्ध 'मैं' में कोई भेद नहीं है। सभी दृष्टियों से यही दिखाई देता है कि ईश्वर तो एक ही है, सृष्टि-पालन-संहार वही करता है। अब तुम चाहे ईश्वरत्व प्राप्त कर लो, यह तुम्हारी साधना पर है। ईश्वरत्व प्राप्त करने पर तुम्हारा 'मैं' ईश्वर से भिन्न नहीं रहेगा। अतः अनेक ईश्वर नहीं होंगे।

जिज्ञासा :- कहते हैं ईश्वर मायापति है। एक ओर अहंकार-अभिमान से ऊपर उठने की बात की जाती है, दूसरी तरफ माया की रचना कर उसपर अपना आधिपत्य जमाना, क्या इसमें उसे अभिमान नहीं होता है?

समाधान :- अभिमान अयथार्थ ज्ञान पर आधारित होता है। आप शरीर नहीं हैं, पर आपको शरीर का अभिमान होता है। ईश्वर का यथार्थ ज्ञान कभी बिगड़ता नहीं, इसीलिए उसको अहंकार नहीं होता। अवतारों की लीलाएँ भी देखो! चाहे सिंहासन पर बिठाकर उनकी पूजा कर लो, चाहे उनसे जूठी पत्तलें उठवा लो, वे तैयार हैं। उनको कहाँ अहंकार है? अहंकार हमेशा अज्ञान से होता है और जो भी अहंकारी होगा वह दीन होगा क्योंकि कोई कितना भी बड़ा अहंकार करे, जगत् में कोई उसके ऊपर भी अहंकारी मिल जाएगा। उस बड़े अहंकारी के सामने तो इस अहंकारी को दीन बनना ही पड़ेगा। ईश्वर में न अहंकार है और न ही दीनता। ये सब जीवों में होते हैं।

ईश्वर में चाहे आप गुणों का आरोप कर लो अथवा दोषों का, ये आपके ऊपर है और उसका फल भी आपको ही मिलेगा। जैसे, दीवार पर बड़िया-सा चित्र बना लो या घूँसा मार लो, दोनों का फल आपको ही मिलेगा। चोट भी आपको ही लगेगी और सुन्दर भी आपको ही लगेगा, दीवार का कुछ नहीं बिगड़ेगा। इसी प्रकार परमेश्वर को गाली दो या उसकी स्तुति कर लो, दोनों बातों का फल आपको ही मिलेगा। ईश्वर तो असंग है।

जिज्ञासा :- माया की रचना ईश्वर की सुन्दर कृति है, फिर लोग माया से मुक्त क्यों होना चाहते हैं? क्या इस प्रकार माया का निरादर करना ईश्वर का निरादर नहीं है?

समाधान :- अब, यह बताओ कि माया बड़ी है या मायापति? यदि आपको माया कोई कष्ट नहीं देती है और ईश्वर की कृति सुन्दर लगती है तो

आपको कोई उपदेश नहीं करता कि माया को छोड़ दो। यदि आपको माया से दुःख मिल रहा है तो उस दुःख की निवृत्ति का उपाय भी बताना पड़ेगा। जिससे दुःख मिल रहा है उसको तो छोड़ना ही पड़ेगा।

जिज्ञासा :- एक घोर सांसारिक व्यक्ति है जो प्रायः काम, क्रोध, मद आदि के वशीभूत रहता है। दूसरा एक अच्छा साधक है, पर उसके जीवन में भी कभी-कभी कामादि विकार आ जाते हैं, तब उसे पश्चात्ताप भी होता है। ईश्वर की नज़र में वे दोनों बराबर हैं या कुछ फर्क है। दोनों को उनके कर्मों का एक ही परिणाम मिलेगा क्या?

समाधान :- ईश्वर की कृपा तो दोनों पर समान है, उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं। व्यक्ति को जो लाभ-हानि होते हैं, वे अपनी ओर से होते हैं। ईश्वर तो सबके प्रति सम है, उसकी कृपा को कौन कितना गृहीत करता है यह व्यक्ति पर निर्भर करता है। गुरु भी सबके प्रति सम है, पर कौन शिष्य कितनी कृपा गृहीत करता है, यह उसकी योग्यता पर निर्भर है। ईश्वर और गुरु में किसी प्रकार की विषमता नहीं है, जैसे कल्पवृक्ष के नीचे पचास लोग आए और उन्होंने अपना-अपना संकल्प किया, उसी प्रकार का उन्हें फल भी मिल गया। उनके फल में जो भेद है, वह कल्पवृक्ष की ओर से नहीं है, उसमें निमित्त संकल्पभेद है। रही बात परिणाम की, वह तो अपने कर्मानुसार भुगतना पड़ता है। न्यायाधीश किसी को फाँसी दे देता है, किसी को बरी कर देता है, इसका न्यायाधीश से क्या सम्बन्ध है? इसका सम्बन्ध तो व्यक्ति के कृत्य से होता है। इसी प्रकार साधक और घोर सांसारिक व्यक्ति के परिणाम में भेद उनके कर्मों को लेकर होगा, ईश्वर की दृष्टि में तो दोनों समान हैं।

सन्त तथा सत्सङ्ग

जिज्ञासा :-

पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता।

सतसंगति संसृति कर अंता॥ (मानस, उत्तर. - ४४.३)

इसका भाव क्या है?

समाधान :- जीव को बिना पुण्यों के सन्तों का दर्शन या सत्संग प्राप्त नहीं हो सकता। पुण्यों के फल से जब उसे सत्संग प्राप्त होगा तब उसका संसार में भटकना समाप्त हो जाएगा। जिस दिन व्यक्ति का सत्संग पूरा हो जाएगा, उसी दिन उसका मोक्ष हो जाएगा। सन्त अपने को सत् मानता है, शरीर नहीं मानता, परन्तु सत्संग शुरू तो सन्त के शरीर के पास बैठने से ही होगा। जब आप सन्त के पास बैठेंगे, तब कैसे बैठना, कैसे उठना, कैसे बोलना आदि कई बातें मालूम होंगी। वहाँ आपको यह दिखेगा कि संसार में बिना किसी निमित्त (स्वार्थ) के भी प्रेम करनेवाला कोई है। उसके बाद सन्त के शब्द सुनेंगे और उनके अर्थ का विचार भी करेंगे। विचार करते-करते अन्त में आपको उसका अर्थ समझ में आएगा - सत्। तब आप अपने को सत् समझ लेंगे, सन्त को भी सत् समझ लेंगे, उस समय सत्संग पूरा हो जाएगा और संसृति अर्थात् जन्म-मरण के चक्र का अन्त हो जाएगा।

जिज्ञासा :- सभी द्वैतवादी आचार्यों ने अद्वैतवेदान्त मत का खण्डन किया है। उन सभी का जीवन तो बड़ा उत्कृष्ट था और वे बड़े भगवद्भक्त भी थे। क्या उन्हें अद्वैत तत्त्व का ज्ञान नहीं था?

समाधान :- बहुत-सी बातें जिस दृष्टि से कही जाती हैं उसको समझना पड़ता है। एक बार उत्तरकाशी में स्वामी तपोवनजी से हमने पूछा, 'सभी आचार्यों ने एक-दूसरे के मतों का खण्डन किया है, ऐसा क्यों?' तब उन्होंने

कहा, 'हाँ ब्रह्मचारी, शांकरवेदान्त तुमको समझ में आता है और रामानुज को समझ में नहीं आता था, उनकी बुद्धि तुमसे कमजोर थी?' हमने कहा कि यदि उन्हें समझ में आता तो खण्डन क्यों करते? उन्होंने कहा, 'खण्डन करने का भी एक दृष्टिकोण है। जो वेदान्त के अधिकारी नहीं हैं वे पढ़कर उसका दुरुपयोग करेंगे, उससे बचाने के लिए खण्डन किया है। जो अधिकारी हैं वे तो वेदान्त के विचार में लग ही जाएंगे, पर अनधिकारियों पर अंकुश लग जाएगा।'

जिज्ञासा :- आप प्रायः कहते रहते हैं समस्त जगत् मान्यता पर चल रहा है, यह बात समझ में नहीं आती। कृपया इसे स्पष्ट कीजिए।

समाधान :- जगत् के व्यवहार में मान्यता के अतिरिक्त और है ही क्या! जहाँ आपकी अहंता-ममता नहीं है, वह दूसरा मालूम पड़ता है और जहाँ अहंता-ममता कर रखी है, वह अपना मालूम पड़ता है। समाचार पत्र में आप रोज पढ़ते हैं कि आज इतने लोग मर गए, उसे पढ़कर आपको विशेष दुःख नहीं होता। पर यदि उन मरनेवालों में आपके परिवार का कोई आदमी हो तो आपके मन में तूफान उठ खड़ा होगा। यह बस, मान्यता का ही चमत्कार है। इसी प्रकार लोग कहीं से एक लड़का ले आते हैं और कहीं से एक लड़की, दोनों का विवाह कर देते हैं और वे दोनों मान लेते हैं कि हमारा जन्म-जन्म का साथ है। अरे, यदि जन्म-जन्म का साथ होता तो इससे पहले एक-दूसरे को क्यों नहीं जानते थे! फिर थोड़े दिन में दोनों में मनमुटाव हुआ तो अलग हो गए। कहाँ गया जन्म-जन्म का साथ! यहाँ पर मान्यता के अतिरिक्त और क्या है!

जिज्ञासा :- भगवन्! पिछले कुछ वर्षों में आपने आश्रमादि का सब व्यवहार छोड़कर विचरण किया है, उस काल के अनुभव पर थोड़ा प्रकाश डालने की कृपा करें।

समाधान :- मेरा अनुभव तो यही है कि ईश्वर का सच्चा आश्रय चाहे वह नर्मदा का हो चाहे गंगा का, वह बहुत बड़ा आधार है। जब वह किसी के जीवन में गहरा बैठ जाता है तो उसके मन से जगत् छूट जाता है, उसके अन्दर से ही निकल जाता है। उसका समत्व किसी भी काल में खण्डित नहीं हो पाता। परिव्रजनकाल की मुझे एक विलक्षण अनुभूति है - साधक के मन में नाम-रूप (जगत्विषयक) जब तक छाया रहता है तब तक सच्चिदानन्द चमक नहीं पाता है। इस नाम-रूप का तिरस्कार बहुत आवश्यक है।

यह देख रहा हूँ कि जो जीवन में उपदेश किया, पठन-पाठन किया, उसका मनन-निदिध्यासन पिछले तीन वर्षों में जैसा देवता की कृपा से हुआ, वैसा व्यक्ति अहंकार से कर नहीं सकता है। श्रद्धा से तो हम पहले से भी मानते थे। शास्त्र पढ़ाते समय भी कभी हमने शास्त्र के अर्थ को केवल बुद्धि से नहीं लगाया, हमेशा श्रद्धा से ही ग्रहण किया। चाहे हम समझें या न समझें, शास्त्र जो कहता है वही सत्य है। विचरणकाल में एक बार मैं वृन्दावन गया, वहाँ के सन लोगों ने भी पूछा, 'आप अपना अनुभव बताइए।' हमने कहा, 'मेरा अनुभव यही है कि यदि साधु का पैसे से या पैसेवालों से सम्बन्ध रहेगा, तब तो निश्चय ही उसको अस्पताल में शरीर छोड़ना पड़ेगा। वह जहाँ चाहे वहाँ स्वतन्त्रता से शरीर भी नहीं छोड़ सकेगा।'

दूसरा अनुभव यह है कि ईश्वर की सम्भाल के समान कोई अन्य सम्भाल नहीं है। दूसरों में सम्भाल की ताकत ही कहाँ है। देखिए, पहले बहुत लोग मेरी सेवा में रहते थे, फिर भी यह शरीर अस्वस्थ रहता था। पर आज ईश्वर की सम्भाल से सब ठीक चल रहा है। हाँ, यदि ईश्वर की सम्भाल का आपको अनुभव करना है तो, भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा । (मानस, अरण्य. ४२.२.)। अन्य सभी जगहों से भरोसा त्यागकर केवल भगवान् का ही भजन करना पड़ेगा। ऐसे भक्त के लिए भगवान् ने कहा है -

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी। (मानस, अरण्य.- ४२.३)। मैं उन भक्तों की ऐसी रखवाली करता हूँ जैसे माँ बालक की करती है। ईश्वर की सम्भाल जैसी अन्य कोई सम्भाल कैसे हो

सकती है? जो श्वास चला रहा है, जिसने नेत्र दिए हैं, उसी के पास हमारी सभी समस्याओं का समाधान है। पिछले वर्षों से मैं कुछ इसी प्रकार का अनुभव कर रहा हूँ।

जिज्ञासा :- साधु का लक्षण क्या है? साधु की सेवा करने से पहले क्या उसकी परीक्षा करनी चाहिए?

समाधान :- जो सभी परिस्थितियों में सबकी बात सुन ले पर अपना मन किसी के प्रति न बिगाड़े वह साधु है। रही बात सेवा की, तो जिस पर आपका विश्वास हो जाए कि यह ठीक साधु है, उसकी सेवा कर देना। परीक्षा की आवश्यकता नहीं है। विद्वान् की भी परीक्षा तो आप नहीं लेंगे, इतना ही जानेंगे कि यह विद्वान् ब्राह्मण है, तो उसे खिलाएँगे। ऐसे ही जिस साधु पर आपकी श्रद्धा हो जाए, जिसमें आपको साधुता दीखे उसकी सेवा कर देनी चाहिए।

जिज्ञासा :- बार-बार छोड़ने और त्याग का उपदेश करके साधु लोग संसारियों को भ्रमित कर देते हैं। इससे तो अच्छा है कि मनुष्यता और सत्य पर बल दिया जाए, जिससे व्यक्ति अपनी मर्जी से उनका पालन करेगा। फिर केवल त्याग का उपदेश क्यों?

समाधान :- संसारी लोग तो पहले से भ्रमित हैं ही, साधु लोग उनको क्या भ्रमित करेंगे! प्रत्यक्ष दीख रहा है शरीर चिता पर जाएगा, लड़का अग्नि लगाएगा, पर संसारी को तो यही दृढ़ भ्रम है कि यह शरीर ही मैं हूँ। इससे बड़ा भ्रम और क्या होगा! पूर्व जन्म का किसी को कुछ भी याद नहीं है और इस जन्म का भी याद नहीं रहेगा। जो याद भी नहीं रहना है वही लोगों की समस्या है। संसार की कोई वस्तु यहाँ तक कि तुम्हारा शरीर भी तुम्हारे साथ नहीं जाएगा। इन वस्तुओं में ममत्व करना भ्रम है या नहीं? जो तुम्हारी श्वास चला रहा है उस

पर तो तुमको विश्वास नहीं और जो तुम्हें संसार में भटका रहा है उसपर विश्वास करते हो, इससे बड़ा भ्रम और क्या होगा!’ साधु लोग संसारियों को भ्रमित नहीं करते, अपितु उनके भ्रम को छुड़ाने का उपाय करते हैं।

जो आपने कहा सत्यता और मानवता का उपदेश किया जाए तो वह उपदेश सन्त लोग करते हैं। जो त्रिकालाबाधित हो उसी को सत्य कहते हैं, वह परमेश्वर है। सन्त उसी का उपदेश करते हैं। जगत् की वस्तुएँ तो क्षण में नष्ट हो जाती हैं, वे सत्य कैसे हो सकती हैं! साथ ही सन्त लोग धर्म को महत्व देते हैं और धर्माचरण से ही व्यक्ति में मानवता आती है। इसलिए सन्त सत्य और मानवता का ही उपदेश करते हैं, कोई दूसरा नहीं। अब व्यक्ति उसपर चले या न चले यह उसकी मर्जी है, कोई जबरदस्ती तो नहीं कर सकता। एक श्रेय है, एक प्रेय है। श्रेय अर्थात् कल्याण करनेवाली बात, प्रेय अर्थात् मन को अच्छी लगनेवाली बात। अब वह किसको चुनता है यह व्यक्ति की अपनी मर्जी है। फिर सन्तों पर दोषारोपण करने की क्या आवश्यकता है? सन्त लोग संसारियों को भ्रमित नहीं करते, बल्कि श्रेय का ही उपदेश करते हैं।

जिज्ञासा :- सन्त किसे कहा जाए?

समाधान :- उपनिषद् के अनुसार सन्त की परिभाषा है - जो परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करे वह सन्त है। अस्ति, वह जोर देकर कहता है कि परमात्मा है, निश्चित रूप से है - अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुरिति। (तैत्ति. उप.-२.६) और उसके बाद परमात्मा के तत्त्व का अनुभव भी उसने कर लिया है। जो परमात्मा को मानता भी है और जानता भी है, उसे सन्त कहा जाता है अथवा जो व्यक्ति परोपकारपरायण है वह भी सन्त है।

जिज्ञासा :- साधु, संन्यासी, सन्त, ऋषि, मुनि, परमहंस - इन शब्दों के अलग-अलग अर्थ क्या हैं?

समाधान :- साध्नोति परं कार्यम् इति साधुः - जो दूसरे का कार्य सिद्ध करे, परोपकार में लगा रहे, वही साधु है। इसलिए साधु तो किसी भी परोपकारी को कह सकते हैं। सज्जन पुरुष को भी साधु कहते हैं। जो धार्मिक हो, साधना करता हो, उसे भी साधु कहते हैं। संन्यासी का अर्थ है - त्यागी। जिसने शास्त्रीय विधि से शिखा-सूत्र और उनके साथ प्राप्त कर्मों का परित्याग किया हो, गेरुआ वस्त्र धारण करता हो उसे ही संन्यासी कहा जाएगा।

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः। (विवेकचूडामणि - ३८) जो लोकहित का आचरण करे, जिसका मन शान्त है, वह सन्त है। **अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। (तैत्ति. उप.-२.६)** जो कहे कि परमात्मा है, परमात्मा के अस्तित्व को दृढ़तापूर्वक स्वीकार करे, वह भी सन्त है।

ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः - जिन लोगों ने समाधि अवस्था में वेदमन्त्रों का साक्षात्कार किया हो, उन्हें ऋषि कहा जाता है। ये उच्चकोटि के मानव होते हैं। ये गृहस्थ भी हो सकते हैं अथवा त्यागी भी। **मननान्मुनिः** - जो शास्त्रों का, परमात्मा का चिन्तन-मनन करे, ध्यान में लगा रहे, उसका नाम मुनि है। जो महापुरुष परमात्मा का आत्मरूप से साक्षात्कार करके, आश्रमातीत होकर अपने स्वात्मानन्द में मग्न रहते हैं, उन्हें ही परमहंस कहा जाता है। ये लोग शास्त्रों के विधि-निषेध से परे होते हैं।

शरणागति

जिज्ञासा :- किसी व्यक्ति ने बहुत सारे पाप किए हों और अब वह भगवान् की शरण में आ जाए तो उसका क्या होगा?

समाधान :- भगवान् परम दयालु हैं। यदि कोई सचाई से उनकी शरण में चला जाता है तो भगवान् का आश्वासन है -

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ (गीता-९.३०)

विश्व का सबसे बड़ा दुराचारी ही क्यों न हो, यदि वह सचाई से मेरी शरण में आ जाता है तो वह साधु ही मानने योग्य है।

जिज्ञासा :- गृहस्थ व्यक्ति के लिए भगवत्प्राप्ति का सहज उपाय क्या है?

समाधान :- गृहस्थ व्यक्ति के लिए आज के युग में भगवत्प्राप्ति कठिन अवश्य है क्योंकि वहाँ साधन नहीं हो पाता है। ईश्वर-प्रणिधान, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इत्यादि गृहस्थ जीवन में कठिन हैं। परन्तु एक कला है - वह यदि गृहस्थ व्यक्ति में आ जाए तो वह घर में रहकर भी आसानी से परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। उसको गृहस्थाश्रम का व्यवहार छोड़कर कहीं जंगल में जाने की आवश्यकता नहीं है। उसको वहीं रहकर बस, दृष्टि बदलनी पड़ेगी। अभी तक जो अपना समझा है, उसे परमात्मा का समझना पड़ेगा और स्वयं परमात्मा का सेवक बनकर कर्तव्यपरायण होकर अपने हर कार्य में परमात्मा की सेवा समझकर संलग्न होना पड़ेगा। जैसे, कोई व्यक्ति कर्तव्य समझकर नौकरी करेगा, तो भी उसको उतना ही वेतन मिलेगा और रुपये के लिए करेगा तो भी उतना ही मिलेगा। पर कर्तव्य-परायण व्यक्ति के लिए यही साधना हो जाती है। इसी प्रकार घर में स्त्री, पुत्र इत्यादि को भी परमात्मा के समझकर उनका पालन-पोषण करे, न कि भोगदृष्टि से, तो वही साधना हो जाएगी।

देखो, परमात्मा सत्य वस्तु है और सत्य को प्राप्त करने के लिए जीवन में सत्य का आधार अवश्य लेना पड़ेगा। आपने अभी तक अपने जीवन में जो मैं और मेरा समझा है, वह झूठा है। बस, उसी को त्यागना पड़ेगा और जो परमात्मा हमारे श्वासों को चलानेवाला है उसी के लिए समर्पण करना पड़ेगा। सब तरफ से हम कमजोर हैं, पर अहंकार को छोड़ने के लिए भी तैयार नहीं हैं। हम तो इतना ही कहेंगे कि इस समय ईश्वर-शरणागति को छोड़कर कल्याण का दूसरा कोई उपाय हमें दिखाई नहीं देता है।

जैसे लोग हर दिन पैसे का हिसाब करते हैं, वैसे ही साधक को सोने से पहले चौबीस घण्टे का हिसाब करना चाहिए कि मैंने कितनी बार झूठ बोला, मुझे कितनी बार क्रोध आया, साधना में कितना लाभ-नुकसान हुआ। वह ज्यों-का-त्यों परमात्मा के चरणों में समर्पित कर देना चाहिए और परमात्मा से यह प्रार्थना करनी चाहिए - हे भगवन्! दिन भर का यह हिसाब है। हमारे पास और कुछ नहीं है। मैं तो कुछ अर्जन करने में समर्थ नहीं हूँ। आप मुझे शक्ति दो, आप ही अपने चरणों में मेरी प्रीति उत्पन्न कर दो। यदि व्यक्ति प्रतिदिन ऐसा करता है तो थोड़े समय में ही भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध का अनुभव कर लेता है। मृत्यु के समय भगवान् उसके समक्ष रहता है। इससे प्रकृष्ट कोई भी उपाय मुझे दिखाई नहीं देता। यदि गृहस्थ जीवन में रहकर कोई ऐसा करता है तो सहजता से भगवत्प्राप्ति कर लेता है।

जिज्ञासा :- भगवत्-शरणागति और भगवन्नाम के निरन्तर जप करने से क्या साधक के हृदय में पूर्ण भगवत्प्रेम का आविर्भाव हो सकता है?

समाधान :- 'शरणागति और भगवन्नाम का निरन्तर जप' - ये तो शब्द हो गए। अब इनको जीवन में घटाकर देखो। जीवन में एक क्षण के लिए भी किसी दूसरे का आलम्बन लेता है या नहीं? यदि लेता है तो उसकी शरणागति अभी ठीक नहीं है।

दूसरी बात, भगवन्नाम में उतनी प्रीति है या नहीं जितनी जगत् की

वस्तुओं में होती है? नाम लेने में विषय सेवन की अपेक्षा अधिक रस आता है या नहीं? नाम जपते समय कहीं मनोराज्य तो नहीं हो रहा? भगवान् का नाम ही उसके लिए परम है अथवा नहीं? उसका मन जगत् की किसी वस्तु में आसक्त तो नहीं है? ये सब बातें विचारणीय हैं। यदि उसमें ये सब बातें ठीक घट रही हैं तो उसकी अभिलाषा अवश्य पूर्ण होगी।

जिज्ञासा :- गृहस्थ-जीवन में रहकर भगवान् से कुछ माँगना उचित है या नहीं?

समाधान :- गृहस्थ साधक के जीवन में जो भी समस्या आवे उसे भगवान् के चरणों में अर्पित कर देना उचित है। भगवान् तो सर्वज्ञ है वह जिस प्रकार चाहे उसे हल करेगा। जैसे छोटा बच्चा अपनी माँग माता-पिता के सामने रख देता है परन्तु उसे यह ज्ञान नहीं होता है कि उसका किस माँग में हित है और किसमें अहित! माता-पिता विचार करके हितकर माँग को पूरी करते हैं, सभी माँगें पूरी नहीं करते। इसी प्रकार जीव अल्पज्ञ है और परमेश्वर सर्वज्ञ एवं हितैषी है। अतः जीव की सब माँगें वह पूरी नहीं कर सकता। साधक को जीवन में कुछ आवश्यकता मालूम पड़े, तो उसे भगवान् को बता देना चाहिए, उनके चरणों में अर्पित कर दें और कहे कि आपको जो उचित लगे वही कीजिए।

उसकी जिस माँग को वह हित में समझेगा उसे पूरी कर देगा। इससे साधक भिखमँगवृत्ति में नहीं जाएगा। इसलिए हमारी दृष्टि से माँगने की अपेक्षा अपनी माँग को भगवान् के समक्ष समर्पित कर दे, वह पूरी करे अथवा न करे उसी पर छोड़ दे, यही अच्छा है।

जिज्ञासा :- साधक कैसे समझे कि मैं परमात्मा की शरण में हो गया हूँ?

समाधान :- जब साधक को प्रत्येक घटना में, प्रत्येक विधान में ईश्वर की कृपा ही दिखाई पड़े तभी वह समझे कि मैं उसकी शरण में हो गया

हूँ। जब साधक ने सारे कर्मादि ईश्वर को समर्पित कर दिये तब उसकी कृपाशक्ति ही काम करेगी। प्रत्येक घटना में उसकी कृपा दीखे तभी शरणागति पूर्ण होगी। आजकल तो अपने मन की बात पूरी होने पर लोग समझते हैं कि ईश्वर की कृपा है, पर वास्तव में यह कृपा नहीं है। डॉक्टर ने बालक को मीठा खाने के लिए मना किया हो और वह लड्डू खाना चाहे तब यदि माता खींचकर दो चाँटे मारे तो कृपा है या नहीं? इसी प्रकार भगवान् हमारे मन का लड्डू छीनकर दो थप्पड़ मारता है तो कृपा हुई या नहीं? पर हमें कृपा नहीं दीखती, हम समझते हैं भगवान् हम पर नाराज हो गया। विचार करो, भगवान् की द्वारकावासियों पर ज्यादा कृपा थी या वृन्दावनवासियों पर? जब आप भगवत्-शरणापन्न हो जाएँगे तो सब ओर भगवान् की कृपा ही दीखेगी।

जिज्ञासा :- शरणागति का स्वरूप और उसका क्या फल है?

समाधान :- कोई व्यक्ति विचार करता है कि ईश्वर ने ही जगत् को उत्पन्न किया, उसी ने नेत्र, कान आदि बनाकर हमको दिए, वही हमारी श्वास चला रहा है, सम्पूर्ण विश्व को भी वही चला रहा है। फिर वह इस प्रकार से परमेश्वर को स्वीकार कर लेता है कि जिसने हमें यह शरीर दिया वही हमारा मुख्य सम्बन्धी है, दूसरा कोई नहीं। इस बात को हृदय में पक्का कर लेता है। फिर वह सोचता है कि उसी ने कृपाकर हमारे हित के लिए शास्त्र को प्रकट किया और उसमें बताया कि मनुष्य-शरीर का लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है, यह शरीर भजन के लिए मिला है, भोग के लिए नहीं। भोग तो प्रारब्धवशात् आता-जाता रहेगा। इस प्रकार ठीक से विचारकर परमेश्वर की शरण में आ जाता है। उस व्यक्ति के भजन का आधार केवल परमेश्वर होता है। इसी बात को भगवान् ने गीता में कहा -

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ (१०.८)

बुद्धिमान पुरुष ईश्वर को जगत् का मूल कारण समझकर भावशक्ति से उसे पकड़ लेता है, उसकी शरण में आ जाता है। हम लोग भाव से जगत्

को पकड़े हुए हैं और जगत् के लिए भगवान् को पकड़ते हैं। माला जपते हैं तो उसके साथ ही मन में पक्का रहता है कि जप से हमारा यह काम हो जाए, कुछ और न हो तो हमारा मन ही शुद्ध हो जाए। पर शरणागत व्यक्ति में ऐसा नहीं होता, वह भगवान् को ही पकड़ता है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ (१०.९)

उसका चित्त मेरे में ही लगा हुआ है, जगत् में नहीं। उसके मन में मैं ही छाया हुआ हूँ, जगत् नहीं। उसका प्राणधारण मेरे लिए ही है। लोगों से मिलने पर वह मेरे विषय में ही चर्चा करता है, मेरे ही विषय में बोलता है, मेरे ही विषय में सुनता है, मेरे ही स्मरण से प्रसन्न होता है। ऐसी जो शरणागति है यही मुख्य शरणागति है।

कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि व्यक्ति किसी निमित्त को लेकर भगवान् की शरण ग्रहण करता है, परन्तु बाद में भगवद्महत्त्व अन्दर बैठ जाने पर निमित्त छूट जाता है और भक्ति प्रधान हो जाती है। जैसे, ध्रुव किसी निमित्त से भगवत्शरण में गये थे, तीव्र तपस्या करने पर भगवद्दर्शन हुआ, उनकी कृपा प्राप्त हुई, तो अन्दर भक्ति दृढ़ हो गई। उनका निमित्त छूट गया तो मुख्य शरणागति प्राप्त हो गई। बाद में उन्हें बड़ी ग्लानि हुई कि हमने उच्चपदप्राप्तिरूप निमित्त को लेकर भक्ति की। अब उनके जीवन में भगवान् ही प्रधान हो गये। जब व्यक्ति में ऐसी शरणागति उत्पन्न हो जाती है तब -

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (गीता-१०.११)

उसे भगवत्कृपा से ज्ञानप्राप्ति हो जाती है, ऐसे भक्त को सम्भालना भगवान् की जिम्मेदारी होती है। संक्षेप में यही समझना चाहिए कि जब शरणागति आत्मज्ञानपर्यवसायी होती है तभी वह मुख्य शरणागति कहलाती है। आत्मज्ञान ही उसका फल है।

जिज्ञासा :- ईश्वर की शरणागति यदि हम ले लें तब भी व्यवहार तो समाज में अपनी बुद्धि के अनुसार ही करना पड़ेगा। पाण्डवों के समान हमारे सामने तो भगवान् प्रत्यक्ष नहीं हैं जो हर समय मार्गदर्शन करें, फिर हमारी शरणागति ठीक चल रही है, इसका निश्चय कैसे हो?

समाधान :- दुनिया भर के इन चक्रों में पड़नेवाला ईश्वर को समर्पित ही नहीं हुआ है। शरणागति का जो मूल तत्त्व है, ईश्वर को अपनी अहंता-ममता का समर्पण कर देना, वह प्रश्नकर्ता के अन्दर से नहीं हुआ। केवल समर्पण की कवायद कर ली है। जैसे, हम किसी गृहस्थ के घर जाते हैं तो वह कहता है, यह आपका ही मकान है, पर हम यदि कहें कि निकलो यहाँ से, हम इसमें रहेंगे तो क्या उसकी तैयारी है? वह कहता है, बच्चा आपका ही है। हम यदि कहें, हमारा बच्चा है तो हमें दे दो, इसे ले जाकर साधु बनाएँगे, तो वह देने को कहाँ तैयार है? ऐसे ही आपने कह दिया कि मैंने अहंता-ममता समर्पित कर दी, पर वास्तव में की नहीं है। आश्रम में लोग कमरा बनवाते हैं और उसपर लिखवा देते हैं - **शिवापणम्**, परन्तु जब बाहर से आते हैं तो कहते हैं कि हमारे कमरे की चाबी दो। तुम्हारा कमरा है कहाँ आश्रम में!

जैसे ये सब व्यवहार करते हो, ऐसे ही भगवान् के सामने कह दिया कि सब आपको समर्पित कर दिया है। मन तुमने भगवान् को दिया नहीं, उसे अपना मानकर रखा है। इसी कारण से जगत् की अनुकूलता-प्रतिकूलता में सुखी-दुःखी हो रहे हो। तुम्हारा सारा व्यवहार ईश्वर शरणागति के अनुकूल है इसकी पहचान यही है कि तुम्हारे मन में सभी परिस्थितियों में उसकी कृपा छोड़कर अन्य कोई विकल्प नहीं आना चाहिए। वज्र पड़े तो भी मन में आए कि उसकी कृपा है और लड्डू खाएँ तो भी। पाण्डवों के लिए भगवान् की कृपा इसलिए प्रत्यक्ष थी कि उनका वैसा भाव था। उस समय बहुत-से अन्य लोग भी थे, उनके सामने भगवान् होते हुए भी उनकी कृपा प्रत्यक्ष क्यों नहीं हुई? जो शरणागत होगा उसके लिए भगवत्कृपा सदा प्रत्यक्ष होगी, फिर व्यवहारादि कैसे करें, यह विकल्प ही नहीं उठेगा।

योग एवं ध्यान

जिज्ञासा :- शास्त्र में आता है कि बिन्दु-नाद का ध्यान करने से प्राण और मन लीन हो जाते हैं। वह बिन्दु-नाद क्या है?

समाधान :- जिस बिन्दु-नाद का ध्यान करने से मन और प्राण लीन हो जाते हैं, उसको तेजो-बिन्दु कहते हैं। प्रारम्भ में जो रूप और शब्द हैं, वे ही आगे चलकर बिन्दु और नाद हो जाते हैं। नाद अर्थात् ध्वनि। आपके पास साधना के लिए दो ही आधार हैं - एक रूप और दूसरा शब्द। रूप का आधार लेने पर उसकी अन्तिम स्थिति बिन्दु में पहुँचेगी। जब बिन्दु में पहुँच जाएँगे तो प्रकाश या ज्योति ही उसका स्वरूप होगा। शब्द का आधार लेंगे तो अन्त में नाद सुनाई पड़ेगा, जो नौ प्रकार का है। उनमें से जब अन्तिम नाद में पहुँचेंगे वही शब्द की अन्तिम स्थिति होगी जो अनुभवैकगम्य है।

साधना के अन्त में रूप बिन्दु में लीन हो जाता है एवं शब्द और अर्थ नाद में लीन हो जाते हैं। यह मूल स्थिति है, यहाँ से सृष्टि का आरम्भ होता है। नाद और बिन्दु में पहुँचकर फिर साधक उससे भी ऊँची स्थिति में पहुँच जाता है - **तुरीयं पदमश्नुते**, अर्थात् तुरीय पद में पहुँच जाता है। वहाँ पर नाद और बिन्दु का भी विलय हो जाता है। यह नाद और बिन्दु से भी अतीत पद है। यही परमपद है।

जिज्ञासा :- शास्त्र में कितने प्रकार के योग प्रसिद्ध हैं? प्राणप्रधान-साधना और मन्त्रप्रधान-साधना क्या है? इनमें क्या-क्या अनुभूतियाँ होती हैं?

समाधान :- शास्त्र में वैसे तो कई प्रकार के योगों के बारे में विवरण मिलता है, पर चार प्रकार के योग प्रसिद्ध हैं - **हठयोग, राजयोग, मन्त्रयोग एवं लययोग**। राजयोग के अन्तर्गत वेदान्त और महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित योगदर्शन दोनों आ जाते हैं।

हठयोग प्राणप्रधान साधना है। इसमें कुम्भक-प्राणायाम के विभिन्न भेद बताए गए हैं। कुम्भक-प्राणायाम का भली प्रकार अभ्यास हो जाने पर प्राण

सहज रूप से रुक जाते हैं। जब तक प्राणों का प्रवेश सुषुम्ना में नहीं होता, तब तक सच्चा कुम्भक नहीं लगता। मात्र प्राणों को छाती में रोकने से कोई लाभ नहीं होता, भले ही बाहर से दिखाई दे। जब सुषुम्ना मार्ग में प्राणों का प्रवेश हो जाता है तब साधक को प्राण रोकने में घबराहट या छटपटाहट नहीं होती। कुम्भक पूर्णतः सिद्ध होने पर साधक के प्राणों का लय हो जाता है।

मन्त्रयोग में पहले मन्त्र, उसके ऋषि, छन्द एवं देवता इत्यादि का ज्ञान और उसका जप करने की विधि गुरु से प्राप्त की जाती है। इसके पश्चात् जप करते हुए उसके अर्थ का अनुसन्धान किया जाता है। इस प्रकार करते-करते मन्त्र के वर्णों का प्रणव में विलय हो जाता है। तत्पश्चात् प्रणव का भी विलय नाद में होता है। आगे नादानुसन्धान का अभ्यास करने से साधक के मन और प्राणों का विलय हो जाता है। इससे बढ़कर विलय का कोई दूसरा उपाय नहीं है। चौथा है **लययोग**। इसमें तत्त्वों को सृष्टि के विलोम-क्रम से लीन करते जाते हैं, इस प्रकार परमतत्त्व में पहुँचकर सबका लय हो जाता है। चाहे किसी भी प्रक्रिया या मार्ग से जाएँ पर अन्ततोगत्वा पहुँचना स्वरूप में ही है।

जो भी साधन आप अपना रहे हैं, चाहे वह मुक्ति का साधन हो या स्वर्ग का, सब अभ्यास में ही है। लौकिक-वैदिक सम्पूर्ण व्यवहार अभ्यास में है। इसलिए हमें देवता के अनाम स्वरूप में पहुँचना हो तो भी नाम का आधार लेना पड़ता है, अरूप में पहुँचना हो तो भी रूप का आधार लेना पड़ता है क्योंकि हमारी मनःस्थिति जैसी है, उसमें आधार के बिना काम नहीं चल सकता। विद्युत को समझाना हो, तो बल्ब के प्रकाश को दिखाकर विद्युत में ले जाते हैं। जैसे कहा, जो बल्ब जल रहा है, यह विद्युत है। पर विद्युततत्त्व जब आपको समझ में आ जाएगा, तब आप ही कहेंगे कि बल्ब, तार, पंखा विद्युत नहीं है। विद्युत वह है जिससे बल्ब में प्रकाश हो रहा है और पंखे में गति हो रही है।

साधक जब साधना करता है, तब उसके पास दो आधार होते हैं - प्राणशक्ति और ज्ञानशक्ति। इन्हीं के माध्यम से उसको ऐसे तत्त्व में पहुँचना है, जो इन दोनों से परे है, जिसके कारण प्राण चल रहा है और मन में ज्ञान उत्पन्न हो रहा है। उसे अप्राण अवस्था में, अमन अवस्था में पहुँचना है। भारतीय परम्परा में इन्हीं दोनों को आधार बनाकर सम्पूर्ण साधन बताए गए हैं।

कहीं पर प्राण की प्रधानता है और कहीं पर मन की। मनःप्रधान साधन में भी अधिकारी भेद से दो भेद हो जाते हैं, पहला बुद्धिप्रधान और दूसरा भावप्रधान। बहुत-से व्यक्ति बुद्धिप्रधान होते हैं, उनके संस्कारों में विचार की प्रधानता रहती है। ऐसे साधक विचार मार्ग में प्रवृत्त होते हैं। बहुत-से साधकों में बुद्धि की अपेक्षा भावशक्ति की प्रधानता रहती है। भाव-प्रधान व्यक्ति जप और उपासना में शीघ्र लग जाता है, परन्तु बुद्धि-प्रधान व्यक्ति उसमें नहीं लग पाता क्योंकि उपासना में भाव की आवश्यकता होती है। उपासनागत जितनी भी साधनाएँ हैं, उनमें भाव और श्रद्धा की ही प्रधानता होती है। वैसे तो बुद्धि-प्रधान साधना में श्रद्धा की अपेक्षा समझ का अधिक महत्व है, परन्तु साधक ऐसे तत्व को जानना चाहता है जो बुद्धि का विषय नहीं है, इसलिए उसको श्रद्धा के बिना नहीं जान सकता है।

श्रद्धा-प्रधान भक्ति-साधन का भी पर्यवसान ज्ञान में ही होता है। साधक भाव के वातावरण में आगे बढ़ेगा और फिर उसको भगवत्तत्त्व की अनुभूति उत्पन्न हो जाएगी। बुद्धि-प्रधान साधन का पर्यवसान अनुभूति अर्थात् हृदय की स्वीकृति में है। इसलिए यहाँ भी श्रद्धा की आवश्यकता है। शास्त्र में जितने भी साधन बताए गए हैं उनमें ये ही तीन (प्राणप्रधान, भावप्रधान तथा बुद्धिप्रधान) विभाग हैं। जिसका जैसा संस्कार है, उसको वैसा साधन रुचता है- रूचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेकोगम्यः ...।(शिवमहिम्नःस्तोत्र-७) परन्तु गन्तव्य सबका एक ही है। भावप्रधान साधना में मन्त्र का बड़ा महत्व है। जैसे, प्राणप्रधान साधना में अनुभूतियाँ होती हैं, ऐसे ही भावप्रधान साधना में भी होती हैं। कभी किसी साधक को नाद सुनाई देने लगता है और कभी किसी साधक को प्रकाश दिखाई पड़ने लगता है, तो कभी किसी साधक को भय भी उत्पन्न हो जाता है।

दोनों ही प्रकार के साधनों में तन्मयता तो होनी ही चाहिए। बिना तन्मयता के कोई भी साधना सिद्ध नहीं होती है। मन्त्र और प्राण को लेकर साधना करेगा तो ज्योति का दर्शन या नाद का श्रवण होगा। साधक को नाद अथवा ज्योति में न अटक कर उसके आगे जाना चाहिए। सभी साधनों का पर्यवसान ज्ञान में ही होता है।

जिज्ञासा :- योगशास्त्र में जिन मूलाधारादि चक्रों का वर्णन आया है, उनका क्या स्वरूप है?

समाधान :- ये सभी चक्र भावमय हैं, इनका मानस-प्रत्यक्ष होता है। इन चक्रों का दर्शन सभी साधकों को समान रूप से नहीं होता। साधक को चक्रों के विषय में जिस परम्परा से जिस प्रकार का उपदेश किया जाता है उसी प्रकार से उनका साक्षात्कार होता है। यहाँ यह संशय नहीं करना चाहिए कि एक साधक को एक प्रकार का साक्षात्कार हुआ और दूसरे को अन्य प्रकार का, तो दोनों में से कौन-सा सही है? जिसको जिस प्रकार का साक्षात्कार हुआ वही उसके लिए ठीक है। चक्रों का मुख ऊपर है या नीचे, इस विषय में शास्त्र ने यही निर्णय दिया कि जैसा आपको अनुभव हो रहा है वही ठीक है। पर शास्त्रों में ऐसा भी कहा गया है कि जो निर्वासनिक साधक हैं उन्हें चक्रों की पँखुड़ियाँ ऊर्ध्वमुख दिखाई देती हैं और सवासनिक को अधोमुख।

जिज्ञासा :- क्या योग आदि शास्त्रों में बताए गए चक्र वास्तविक हैं? यदि ऐसा है तो उनके वर्णन के विषय में अलग-अलग ग्रन्थों में विसंगति क्यों है? चक्र-भेदन क्या है?

समाधान :- चक्रों के विषय में लोगों में एक भ्रान्ति है। इस जगत् को तो सत्य मानते हैं और मन से कोई देवता का स्वरूप बनाए तो उसे मनोराज्य मानते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि यह जगत् मायिक है, सत्य नहीं है। भाव के द्वारा अनुमोदित होकर ही इसमें सत्यत्व मालूम हो रहा है। इसलिए भावशक्ति ही प्रबल है। जितनी उपासनागत साधनाएँ हैं वे भी भाव पर ही केन्द्रित हैं।

इसलिए आगम ग्रन्थों में कहा गया है कि चक्रों के विषय में जो विसंगति प्रतीत होती है उससे कोई मतलब नहीं है। गुरु ने जिस साधक को जिस रूप में चक्र का वर्णन किया है अपने भाव से वह उसी प्रकार की अनुभूति कर लेगा। वही चक्र एक साधक को ऊर्ध्वमुख दीखता है, तो दूसरे को अधोमुख दीख सकता है, पर उस अनुभूति को कमजोर नहीं समझना चाहिए। फोटो देखकर आपके अन्दर जो देवता का स्वरूप बना है वह फोटो से कमजोर

नहीं है। अतः आपके अन्दर भाव से प्राप्त जो देवशक्ति है वह कमजोर नहीं है, मानसिक होने से उसे मिथ्या नहीं समझना चाहिए। वह बहुत प्रबल है। उपासना में उसकी अत्यधिक आवश्यकता है।

चक्रों के मध्य मूलाधार चक्र का सम्बन्ध पृथ्वीतत्त्व से है और उसका सम्बन्ध गन्ध से है। स्वाधिष्ठान चक्र का सम्बन्ध जलतत्त्व से है और उसका सम्बन्ध रस से है। मणिपुर चक्र का सम्बन्ध अग्नितत्त्व से है और उसका सम्बन्ध रूप से है। अनाहत चक्र का सम्बन्ध वायुतत्त्व से है और उसका सम्बन्ध स्पर्श से है। विशुद्धि चक्र का सम्बन्ध आकाश से है और उसका सम्बन्ध शब्द से है। इन पाँच विषयों में ही व्यक्ति बँधा हुआ है। अतः इन विषयों में जो आसक्ति है उसे काटना अत्यावश्यक है। एक-एक चक्र का भेदन यही है कि इन विषयों से आपकी आसक्ति समाप्त हो जाए। इसके बाद आज्ञा चक्र में मनस्तत्त्व है। इसका भी भेदन करके कुण्डलिनी सहस्रार में पहुँचती है।

जिज्ञासा :- शक्तिपात और कुण्डलिनी-जागरण, यह शास्त्र-सम्मत है या स्वतन्त्र वाद है?

समाधान :- कुण्डलिनी-जागरण के विषय में उपनिषदों में भी चर्चा आई है। अतः यह शास्त्र-सम्मत नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते। आगम शास्त्र में शक्तिपात का लक्षण बड़े विस्तार से किया गया है। तात्पर्यरूप से ईश्वर-कृपा का नाम ही शक्तिपात है। मुझपर ईश्वर-कृपा हो गई - इसका ज्ञान साधक को कैसे होगा? इसके विषय में आगमशास्त्र में निर्णय दिया कि साधक की बुद्धि जगत् को छोड़कर आत्माभिमुख हो जाए, यही ईश्वर-कृपा है, यही शक्तिपात है। बाह्य प्रक्रिया कोई भी अपनाए पर यह लक्षण उसमें घटना चाहिए, तभी शक्तिपात माना जाएगा। शक्तिपात का लक्षण कोई चमत्कार है, ऐसा आगम नहीं मानता। गुरु या किसी भी सिद्ध महापुरुष के माध्यम से यह शक्तिपात प्राप्त हो जाए तो आपको समझना चाहिए कि आपकी कुण्डलिनी जागृत हो गई।

उसके जागरण का लक्षण यही है कि पञ्चभूतों से सम्बन्धित जो पाँच चक्र हैं उनका भेदन हो जाए, अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध - ये विषय साधक को जरा भी आकर्षित न कर पाएँ। यही मूलाधार से विशुद्धि तक पाँच चक्रों का भेदन है। फिर आज्ञा चक्र का भेदन होने पर साधक का मन वश में हो जाता है, मन के संकल्प-विकल्प उसे बहिर्मुख नहीं कर पाते - यही कुण्डलिनी जागरण का लक्षण है।

आगमशास्त्र में शक्तिपात के विषय में गुरु के लिए भी निर्देश है कि शिष्य की वासनाएँ यदि पकी नहीं हैं तो उसकी ग्रन्थि नहीं तोड़ना अन्यथा वह पागल हो सकता है या मर भी सकता है। ऐसे व्यक्ति को वासना पकाने का साधन बताना चाहिए। निर्वासनिक साधक ही शक्तिपात का अधिकारी होता है।

जिज्ञासा :- कुण्डलिनी किस मन्त्र द्वारा और कितने दिनों में जागृत होती है?

समाधान :- जो मन्त्र आपको परम्परा से प्राप्त हुआ है उसी का श्रद्धा और एकाग्रतापूर्वक जप करते रहने से कुण्डलिनी जागृत हो सकती है। कितने दिनों में होगी, इसका कोई नियम नहीं है। साधना करते-करते जब साधक का प्रतिबन्ध समाप्त हो जाएगा, तब कुण्डलिनी जागृत हो जाएगी। साधक को समझना चाहिए कि पहले जन्म में किसी-न-किसी वासना के द्वारा प्रतिबन्ध रहा है, तभी यह जन्म हुआ है। इस जन्म में उसको पहचान कर नष्ट करने का प्रयास करना चाहिए।

जिज्ञासा :- समाधि किसको कहते हैं?

समाधान :- चित्त की स्वरूप में या तत्त्व में एकीभावना का नाम ही समाधि है। समाधि कई प्रकार की होती है - वेदान्त की, योगदर्शन

की और बाध-समाधि। गीता में तो समाधि-सुख और बौद्धिक ज्ञान को भी बन्धन माना है- सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ। (१४.६)

जिज्ञासा :- मन्त्र जप करते-करते क्या समाधि लग सकती है?

समाधान :- मन्त्र की बात तो छोड़िये, कुछ भी करते-करते समाधि लग सकती है। समाधि का सम्बन्ध चित्त से होता है। यदि चित्त बहिर्मुखता को छोड़कर एकाग्र हो गया और सुषुप्ति में नहीं गया तो वह अवस्था समाधि है।

जिज्ञासा :- आजकल कुछ महात्मा स्पर्श करके समाधि लगवा देते हैं। क्या यह कोई शास्त्रीय विधि है?

समाधान : इस प्रकार की परम्परा जरूर रही है पर इस समय क्या हो रहा है यह कहना कठिन है। एक बार एक महात्मा मुझे मिले। उन्होंने साधना के विषय में मुझसे कुछ पूछा तो मैंने उन्हें बताया। तब उन्होंने कहा, मेरे पास भी एक विद्या है जिससे समाधि लगाई जा सकती है, आप उसे ले लीजिए। उनके बहुत आग्रह करने पर मैंने स्वीकार कर लिया। पर उनकी प्रक्रिया को एक दो दिन तक मैंने देखा तो अनुभव हुआ कि एक स्थानविशेष पर एक नाड़ी को हाथ से दबाते ही मूर्छा जैसी अवस्था हो जाती थी, आधे घण्टे के अनन्तर मेरी आँखें बड़ी मुश्किल से खुलती थी। मैंने सोचा इससे क्या लाभ है, निद्रा तो रोक ही आती है। फिर मैंने अध्ययन किया कि इसका काम, क्रोध के नियन्त्रण से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यह तो दुनिया को मूर्ख बनाने की विद्या है।

हमेशा एक बात ध्यान में रखो कि जीवन में कभी भी धर्मध्वजित्व नहीं आना चाहिए। छिपाने की या गलत दिखावे की वृत्ति नहीं आनी चाहिए। लोग हमारे विषय में समझें कि कुछ खाता नहीं है पर हम चोरी से खा लेते हैं। ऐसा जीवन तो बहुत ही निकृष्ट होता है। जीवन में जहाँ दिखावा आया वहाँ बहुत

जटिलता आ जाती है। फिर जीवन इतना जटिल हो जाता है कि व्यक्ति को बाहर से हँसना पड़ता है और अन्दर से रोना। इसलिए स्पर्श मात्र से यदि कोई समाधि लगवाता है तो इन बातों पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए।

जिज्ञासा :- भगवान् का ध्यान कैसे करें?

समाधान :- जैसे विषय का ध्यान करते हो वैसे ही भगवान् का भी ध्यान करो।

जिज्ञासा :- मन में अनेक प्रकार के संस्कार रहते हुए ध्यान कैसे लग सकता है?

समाधान :- इसी प्रकार का प्रश्न सनत्कुमार ने ब्रह्माजी से पूछा था। उन्होंने कहा, 'शास्त्र कहता है - ध्यानं निर्विषयं मनः, (मैत्रेय्युपनिषद्-२.२) पर मन आत्यन्तिक निर्विषय कैसे हो सकता है? जब इन्द्रियाँ खुली हों तो दृश्य दीखेगा ही तब निर्विषय मन कैसे होगा? यदि इन्द्रियों को रोक भी लें तो जो पहले देखा था उसके संस्कार उदित होने से वह मन में दीखता है। फिर मन निर्विषय कैसे हो, ध्यान कैसे लगे?' इस प्रश्न से ब्रह्माजी भी विचार में पड़ गए क्योंकि वे सृष्टिकर्ता हैं, रजोगुणी हैं, इससे सृष्टि में ही उनका चित्त रहता है। ध्यान की बात से वे घबरा गए। उन्होंने परमेश्वर से प्रार्थना की तब भगवान् का हँसावतार हुआ। हँसरूप से भगवान् ने उनको उपदेश दिया।

इसी प्रकार का प्रकरण श्रुति में भी आता है - 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (छा.उप.-३.१४.१)। यह सम्पूर्ण नामरूपात्मक प्रपञ्च ब्रह्म है, अन्य कोई वस्तु है ही नहीं। इसमें हेतु दिया तज्जलान् - यह प्रपञ्च अग्नि, जल आदि क्रम से ब्रह्म से उत्पन्न होता है, ब्रह्म में स्थित है और उसी में लीन होता है। जैसे मिट्टी से घड़ा, सकोरा आदि उत्पन्न

होते हैं, मिट्टी में स्थित हैं और उसी में लीन होते हैं। घड़ा आदि भिन्न-भिन्न प्रतीति होते हैं, पर वे सब मिट्टी ही हैं। दृष्टि मिट्टी में केन्द्रित करो तो वहाँ भेद कहाँ है! स्वर्ण में दृष्टि केन्द्रित करो तो आभूषण कहाँ हैं! इसी प्रकार परमात्मा में दृष्टि केन्द्रित हो तो जगत् कहाँ है! एक परमात्मा ही अनेक रूपों में दीख रहा है। अब मन भी नारायण हो गया, विषय भी नारायण हो गया, जाननेवाला भी नारायण हो गया। ऐसी दृष्टि होने पर मन निर्विषय हो ही सकता है क्योंकि विषय रहा ही नहीं। इसी को माण्डूक्य में कहा - आत्मसत्यानुबोधेन न संकल्पयते यदा (कारिका, अद्वैत.-३२)- एक तत्त्व में मन को केन्द्रित कर दो तो संकल्प बन्द हो जाएगा।

जो ध्यान की प्रक्रिया भगवान् ने ब्रह्माजी के समक्ष कही उसका सार यही है। परन्तु यदि इस प्रकार की दृष्टि बनाने का बल नहीं है तो पहले नीचे की सीढ़ी (कर्मयोग) से चलना पड़ता है। इस बात को साधना के समय हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए। किसी को चाहे इंजीनियर बनना हो या डॉक्टर - प्राइमरी पास करनी ही पड़ेगी।

जिज्ञासा :- सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।
(गीता -६.१३) यहाँ नासिकाग्र का क्या अर्थ है? भगवान् ने नासिकाग्र में ही दृष्टि केन्द्रित करने के लिए विशेष बल दिया है, इसका मन से क्या सम्बन्ध है?

समाधान :- दृष्टि का जीवन में बहुत प्रभाव है। सुनने का इतना स नहीं है, पर देखने का ज्यादा है। लोग पहले रेडियो से समाचार आदि सुनते थे, पर जब से टी.वी. आया तो रेडियो छूट गया। नेत्र से ही हमें विषयों का अधिकांश बाह्य ज्ञान होता है। इसलिए पहले दृष्टि को ही केन्द्रित करना पड़ता है, तभी अन्य इन्द्रियों पर नियन्त्रण हो सकता है। यदि बाह्य नेत्र को आप केन्द्रित नहीं कर सकते तो मन को केन्द्रित कर लेंगे इसमें कैसे विश्वास किया जाए! इसलिए यह एक क्रम है, जिसकी इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं तो वह पहले नेत्र को संयमित करे। दृष्टि का केन्द्र भ्रूमध्य है, इसलिए वास्तव में यही नासिकाग्र है।

यदि नासिका के अन्तिम छोर को नासिकाग्र माने और वहाँ दृष्टि केन्द्रित करें तो श्री भ्रूमध्य में ही उसकी परिसमाप्ति होगी। भ्रूमध्य में ही आज्ञा चक्र है और यही मन का केन्द्र है। इसलिए यहाँ दृष्टि केन्द्रित करने से मनःसंयम में सरलता होती है।

जिज्ञासा :- ध्यान-साधना ठीक से होने के लिए क्या आवश्यक है?

समाधान :- ध्यान-साधना के लिए दो बातें बहुत आवश्यक हैं - एक तो साधक अपने लक्ष्य में केन्द्रित हो और दूसरी, उसके जीवन की दिनचर्या पूर्णतः नियमित हो। यदि साधक का लक्ष्य निर्धारित है तो वह कहीं भी फँसे तब भी निकल जाता है। किसी पड़ाव पर ठहरे भले ही, पर उस पड़ाव के मोह में नहीं पड़ता। यदि लक्ष्य निर्धारित नहीं है तो जिस पड़ाव पर सुख-सुविधा अधिक मिल गयी वहीं रुक जाएगा।

योगी के जीवन में सोना, उठना, खाना-पीना ये सब एकदम नियमित होने चाहिए। इससे चित्त भी नियमित होता है और चिन्तन भी। उसको ध्यान नियमित रूप से एक निश्चित समय पर प्रतिदिन करना चाहिए। देखो, यदि घड़ा पत्थर पर पटकें तो पत्थर नहीं टूटता, बल्कि घड़ा ही फूट जाता है। परन्तु प्रतिदिन घड़ा भरकर पत्थर पर रखते रहें तो धीरे-धीरे पत्थर पर भी निशान बन जाता है। ऐसा ही ध्यान के विषय में समझना चाहिए। एक मिनट भी ध्यान लगता है तो उसे बढ़ाकर दो मिनट, दस मिनट, आधे घण्टे या उससे भी अधिक समय तक ले जाया जा सकता है यदि साधक धैर्य न छोड़े तो। इसलिए ध्यान करनेवाले साधक को धैर्य और नियमितता को नहीं छोड़ना चाहिए। इसके साथ ही यदि जीवन में यम, नियम प्रतिष्ठित नहीं हैं तो भी ध्यान नहीं लगेगा। इसलिए ध्यानयोगी के लिए यम-नियम का पालन बहुत आवश्यक है। आज के युग में तो ध्यान या कोई भी साधना करनी हो उसके लिए ईश्वर शरणागति भी अनिवार्य है क्योंकि व्यक्ति बड़ा कमजोर हो गया है।

जिज्ञासा :- वास्तविक योगी कौन है?

समाधान :- हयग्रीवजी ने शक्तिसूत्र में योगी का लक्षण किया है -
निर्मलनिश्चल-अन्तःकरणोपेतो योगी (५.१.२) अर्थात् जिस मन में कोई मल आदि दोष न हों और साथ ही विक्षेप भी न हो। ऐसा मन जिसका हो वही योगी हो सकता है। योगी के चित्त में जो निर्मलता है वह पूर्व में किए गए निष्काम कर्म का फल है तथा जो निश्चलता या एकाग्रता है वह उसके द्वारा की गई उपासना का फल है।

जिज्ञासा :- योगसूत्र में जिस एकेन्द्रियसंज्ञक वैराग्य की चर्चा आती है उसका स्वरूप क्या होगा?

समाधान :- किसी ने एक इन्द्रिय को छोड़कर शेष सभी इन्द्रियों को वश में कर लिया, ऐसा जो वैराग्य है उसे वहाँ **एकेन्द्रियसंज्ञक** वैराग्य कहा गया है। एक इन्द्रिय के विषय में वैराग्य की पूर्णता नहीं है, इतनी कमी है। उस विषय से भी वैराग्य कर ले तो अगली कक्षा में पहुँच जाएगा। तब उसका वैराग्य **वशीकार संज्ञक** कहलाएगा। जैसे कोई विद्यार्थी छः में से पाँच विषयों में तो पास हो जाता है, पर एक में नहीं हो पाता। कई बार तो उस एक विषय को पास करने में उसे कुछ वर्ष लग सकते हैं। जब उसको भी पास कर ले तब सर्टिफिकेट मिल जाता है। ऐसे ही यहाँ समझना चाहिए।

जिज्ञासा :- ध्यान में बैठने पर निद्रा आती है। मन ध्यान में लगे कृपया इसका कोई सरल उपाय बताएँ?

समाधान :- एक बात समझने की है कि यदि आपके चित्त की मूढ़ अथवा क्षिप्त अवस्था है तो आपसे ध्यान नहीं हो सकता। आपको पहले कोई दूसरा साधन करना चाहिए। आसन पर बैठते ही जिसे निद्रा आती है वह ध्यान कैसे करेगा? पर वह झाड़ू लगा सकता है, खड़ा होकर कीर्तन कर सकता है,

अन्य कोई सेवा कर सकता है। उसे ध्यान लगाने की अपेक्षा ध्यान लगाने की योग्यता प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। जिसका चित्त तमोगुणी है, वह व्यक्ति शान्त बैठने पर निद्रा में पहुँच जाता है। उस व्यक्ति को रजोगुणी साधन अपनाना चाहिए। मन्दिर को, आश्रम को या सार्वजनिक रास्ते को झाड़ू से बुहारे, उसमें लज्जित क्यों होता है? जब उसमें ध्यान की योग्यता नहीं है तो उसे परमेश्वर की सेवा मानकर ऐसे कार्य करने चाहिए। आपका चित्त यदि क्षिप्त अर्थात् जगत् में फेंका हुआ है तो ध्यान में बैठने पर भी आपको जगत् का ही चिन्तन होगा। ऐसे में आपको चित्त-निरोध का प्रयास छोड़कर गुरु के विषय में, सेवा के विषय में, देवता के विषय में चिन्तन करना चाहिए।

देवमूर्ति के मानसिक श्रृंगार और पूजन का अभ्यास करे अथवा नाम-जप, स्तोत्रपाठ या कीर्तन करे, साथ-साथ सत्संग भी सुने - ये सब करने से मन के संस्कार बदलेंगे। मन एक नदी के समान है, जैसे नदी बहती रहती है ऐसे ही मन भी चलता रहता है। बरसात की नदी और शरत्काल की नदी में कुछ अन्तर होता है। वर्षाकालीन नदी के जल में मिट्टी मिली रहती है, साथ ही उसका पानी दोनों किनारों को तोड़ता हुआ चलता है। आपकी मनरूपी नदी के भी दो किनारे हैं। एक तरफ शास्त्र-मर्यादा तो दूसरी ओर लोक-मर्यादा। आपका मन इन दोनों मर्यादाओं के बीच में चलता है या इनको तोड़ता हुआ चलता है, यह विचार करना होगा। यदि तोड़ता है तो अभी बरसाती नदी के समान है। इसमें जो विचार उठते हैं उनमें राग-द्वेष, काम-क्रोधरूप मिट्टी मिली हुई है। विषय-चिन्तन से मन की सात्विकता पर काई जम गयी है। ऐसा मन बड़ा खतरनाक है। जरा से आप असावधान हुए तो बरसाती नदी के समान वह पता नहीं आपको कहाँ फेंक देगा।

ऐसे मन से साधन नहीं हो सकता। पहले उसे शरत्कालीन नदी के समान स्वच्छ और मर्यादित करना पड़ेगा। तब आप उसपर बाँध और नहर बना सकते हैं। वैराग्य ही बाँध बनाना है और अभ्यास ही नहर खोदना है। मन की वृत्तियों को जगत् की ओर से रोकना और एक लक्ष्य की ओर ले जाना - ये दोनों काम एक साथ करने पड़ेंगे। इसके बाद आपका मन धीरे-धीरे नियन्त्रित

होता जाएगा। मन जब आपके हाथ में आ जाए तब आप ध्यान-साधना को अपना सकते हैं, उससे पहले नहीं।

जिज्ञासा :- मन्त्र का आधार लेकर साधना करनेवाले साधक के लिए ध्यान-धारणा का स्वरूप क्या होगा?

समाधान:- मन्त्र जपते समय साधक की चित्तवृत्ति यदि इधर-उधर जाती है तो उसे अपने चित्त को एकाग्र करना पड़ेगा और अपने इष्ट में लाकर बाँधना होगा। यही मन्त्र साधक की धारणा है कि चित्त जहाँ भी बाहर जाए, वहाँ से पकड़कर आराध्य देवता में बाँध दे।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ (गीता-६.२६)

वृत्ति को आराध्य से हटने न दे, बस उसी का चिन्तन करता रहे। जब यही धारणा दृढ़ हो जाएगी तो साधक का ध्यान लग जाएगा। ध्यान के दृढ़ होने पर वह समाधि में पहुँचेगा। समाधि लगने पर -

‘गुरुमन्त्रदेवतात्ममनःपवनानामैक्यनिष्कालनादन्तरात्मवित्तिः’।
(परशुरामकल्पसूत्र - १.११) गुरु, मन्त्र, इष्टदेवता, मन, प्राणवायु और स्वयं साधक ये सब एक ही भूमिका में पहुँच जाएँगे तब मन्त्र सिद्ध हो जाएगा। इस प्रकार मन्त्र-साधना में धारणा-ध्यान का बड़ा उपयोग है। बिना एकाग्रता के कोई भी आध्यात्मिक साधना हो ही नहीं सकती।

जिज्ञासा :- मेरी वृत्ति विचार-प्रधान है, तो मुझे ध्यान हृदय में करना चाहिए अथवा आज्ञाचक्र में?

समाधान :- ऐसे साधक को हृदय में ही ध्यान करना चाहिए और बुद्धि से विचार करना चाहिए। आज्ञाचक्र में ध्यान करेंगे तो विशेष फल होगा,

हृदय में करेंगे तो कम फल होगा ऐसी कोई बात नहीं है। शास्त्र के अनुसार ध्यान का मुख्य स्थल तो हृदय ही है। यद्यपि शास्त्र में विभिन्न चक्रों में अथवा सूर्य-चन्द्र आदि में भी ध्यान की बात बताई गयी है, परन्तु वह एकाग्रता की वृद्धि के लिए अथवा कुछ विशेष फलों के लिए है। विचार करने पर मालूम पड़ता है कि ध्यान में बुद्धि को केन्द्रित किया जाता है और बुद्धि का स्थान हृदय है, अतः आप कहीं भी ध्यान करें उसका पर्यवसान हृदय में ही होगा। उचित यही है कि हृदय में ही ध्यान करें। आप विचार-प्रधान हैं परन्तु जिस बुद्धि से आपको विचार करना है, शास्त्र के अनुसार वह भी हृदयस्थ ही है।

गीता में जो आज्ञाचक्र में ध्यान की बात आती है उसका तात्पर्य अलग है। साधक की बहिर्मुखता में सबसे बड़ा कारण है - चक्षु इन्द्रिय। हम लोगों को अधिकांश बाह्य विषय ज्ञान चक्षु से ही होता है। इसका निरोध करने से अन्तर्मुख होने में बहुत सहायता मिलती है। आज्ञाचक्र में दृष्टि केन्द्रित करने से धीरे-धीरे चक्षु इन्द्रिय का निरोध हो जाता है। इसी दृष्टि से गीता में आज्ञाचक्र में ध्यान की बात कही गयी है।

जिज्ञासा :- कुछ वर्षों से मैं ध्यान करता हूँ तो आँखों में इन्द्रधनुष जैसा प्रकाश दिखाई देता है। कभी-कभी वह प्रकाश इतना तेज हो जाता है कि अन्दर कुछ विचित्र-सा अनुभव होता है। कई जानकार लोगों से पूछा तो किसी ने इसे मेरी कल्पना बताया और किसी ने कहा कि यह कोई बीमारी है। आपसे जानना चाहता हूँ कि मैं क्या करूँ?

समाधान :- आपको क्या लगता है, यह कोई बीमारी है अथवा इस ध्यान से आपके जीवन में कुछ सुधार आया है? आपका ईश्वर-विश्वास बढ़ा है, काम-क्रोधादि विकार कम हुए हैं, वासनाएँ शिथिल हो रही हैं, चित्त एकाग्र हो रहा है, दुनिया की व्यर्थ बातें आपको प्रभावित नहीं कर पा रहीं, यदि ऐसा हो रहा है तो आपका ध्यान ठीक है। साधक को दुनिया से क्या मतलब! आँखों में जो इन्द्र-धनुष जैसा प्रकाश दीख रहा है, उसकी ओर ध्यान ही मत दो,

भगवान् की इच्छा होगी तो और कुछ भी दिखाई देगा। यदि उसमें फँस जाओगे तब तो वह रोग ही बन जाएगा। जो कुछ दीख रहा है वह सब माया है, उसकी उपेक्षा करके अपनी दृष्टि को ध्येय में केन्द्रित करोगे तभी कुछ आन्तरिक अनुभूति होगी। अभी जो अनुभव हो रहा है, उसमें फँसो मत, बल्कि अपनी परीक्षा करो - इससे हमें लाभ हो रहा है या नहीं? दुनिया तो कुछ भी कह सकती है।

जो इस नगरी में रहते हैं उन्हें बावरे बावरे कहते हैं।

जो ताने जग के सह न सके वो इस नगरी में आवे क्यों॥

दस लोग दस प्रकार की बातें तुम्हें कहेंगे, उन सबकी उपेक्षा करो।

जो छोड़ खुदी खुद मर न सके प्रियतम से नैन मिलावे क्यों - यह अहंकार साधक को प्रियतम का होने नहीं देता, प्रियतम (ईश्वर) का वही हो सकता है जो संसार की परवाह न करके, अपने अहंकार को छोड़कर उसकी शरण ग्रहण करे, अपने लक्ष्य का ही ध्यान रखे।

दोष-विचार एवं उनका निवारण

जिज्ञासा :- जब जानते हैं कि संसार की सभी वस्तुएँ नष्टप्राय या मृत्यु के मुख में हैं तो उनके प्रति लोभ क्यों उत्पन्न हो जाता है और आसक्ति क्यों हो जाती है?

समाधान :- यही माया है कि यह सब कुछ जानते हुए भी लोभ और आसक्ति हो जाती है। विचार करके देखो तो नहीं होनी चाहिए। जगत् में देखा जाता है कि व्यक्ति का शरीर छूटता है और उसके पुत्र कहते हैं पिताजी स्वर्ग चले गये तो सिद्ध होता है कि पिताजी शरीर नहीं थे। जाते समय उन्हें कोई देख नहीं पाया, इससे सिद्ध होता है कि वे निराकार थे। परन्तु माया इस ज्ञान को कहाँ पचने देती है! 'मैं' कहते ही शरीर ही आ जाता है, यही माया है। माया कहीं अन्यत्र नहीं रहती - अनात्मनि शरीरादौ आत्मबुद्धिस्तु या भवेत् सा माया, तथा एव ईशः संसारश्च परिकल्पितः। (परम्परया)

यह शरीर आत्मस्वरूप नहीं हो सकता, पर मैं कहते ही यही आ जाता है। शरीर में मैं होगा तो इससे सम्बन्धित जड़-चेतन में मेरा हो जाएगा। इससे अलग संसार कहाँ है? जो दीखता है यह संसार नहीं है और बन्धन का हेतु भी नहीं है। शरीर में जो मैं हो गया है और इसके सम्बन्धियों में जो मेरा हो गया है - यही संसार है। क्या कहा जाए कि आसक्ति क्यों होती है! व्यक्ति देख रहा है, शरीर चिता पर पड़ा है, शरीर और उससे सम्बन्धित सारी वस्तुएँ छूटना निश्चित है, फिर भी इनकी आसक्ति छोड़ने को तैयार नहीं है।

वस्तुतः किसी वस्तु को बनाने की अपेक्षा छोड़ना सरल है क्योंकि बनाने में बहुत परिश्रम है। एक आश्रम बनाना हो तो जमीन चाहिए, पैसा चाहिए, कारीगर चाहिए, बड़ा भारी झंझट है। कठिन तो बनाना ही दिखाई देता है। पर, अनुभव में क्या आता है? छोड़ना ही कठिन क्यों लगता है? इसमें हेतु यही है कि जब तक आपकी आसक्ति है तब तक बनाना जितना भी कठिन हो, सरल ही लगेगा, रात-दिन आप उसमें लगा देंगे और छोड़ना कठिन हो जाएगा। पर यदि आपकी आसक्ति टूट गई तो छोड़ने में कुछ करना नहीं पड़ता, उसमें कुछ समय भी नहीं लगता। बस, इतना ही समझिए कि जो सरल है, वह कठिन प्रतीत हो रहा है और जो कठिन है, वह सरल। यही माया है।

अब यह दूर कैसे हो? ताकत तो इस जीव में है, जब विचार में लगेगा, शरीर को साधना में लगाएगा, तभी इसे पता लगेगा कि मेरी जो यह सृष्टि है, मुझे ही छोड़नी पड़ेगी, दूसरा कोई उपाय नहीं है। भगवान् ने यह शरीर बनाया और जीव ने कह दिया - मैं, भगवान् ने जगत् बनाया, जीव ने कहा - मेरा, ये दो सृष्टि इस जीव की हैं, इसको ही छोड़नी पड़ेगी। ये छूट गयीं तो कोई समस्या नहीं है। यही बन्धन है और यही माया है।

हम सचाई को स्वीकार नहीं कर पाते। इसलिए आसक्ति हो जाती है। विद्यार्थी कॉलेज में वर्षों तक पढ़ता है, पर पास होने के बाद कभी कॉलेज जाता है तो क्या उसको आसक्ति होती है? किराएदार जीवन भर किराए के मकान में रहता है, पर उस मकान में आसक्ति जो उसमें नहीं रहता है (मालिक) उसको होती है। रहने और व्यवहार करने मात्र से आसक्ति नहीं होती है, बल्कि गलत समझ से होती है और गलत समझ ही बन्धन का हेतु है। जो चीज जैसी है, उसको वैसी न समझ करके हम व्यवहार करते हैं। वस्तुतः सब पदार्थ मृत्यु के मुख में हैं, पर हम समझते हैं ये सदा रहेंगे। हमारी समझ ही गलत है।

जगत् का कोई पदार्थ तुम्हारा हो नहीं सकता, इस बात को तुम समझते नहीं हो। माया सचाई को ढँक देती है। इसी कारण से आसक्ति होती है। सचाई को स्वीकार करने पर माया गायब हो जाती है। इसलिए व्यक्ति को सचाई स्वीकार करने में डरना नहीं चाहिए। झुठलाने से तुम्हारा जीवन थोड़े ही बन जाएगा। झूठ के सहारे जीने से कैसे काम चलेगा!

जिज्ञासा :- आपके उपदेशानुसार मैं सूर्योदय और सूर्यास्त के समय सोता नहीं हूँ, फिर भी मेरा तम नहीं मिटता। ऐसा क्यों?

समाधान :- मिटेगा, अभी धैर्य धारण करो। कम-से-कम हमारी एक बात मान ली, कुछ तो बलवान हो गए। तुमसे अपराध नहीं हो रहा, इतना लाभ तो हो ही रहा है। जैसे, भूमि में सब जगह पानी है, परन्तु कहीं सौ फीट पर निकलता है और कहीं दौ सौ फीट पर। इसी प्रकार किसी के जीवन में प्रतिबन्ध

ज्यादा हो सकता है और किसी के कम भी। इसलिए मानव जीवन में हार मानने के लिए कोई जगह नहीं है। बस, निष्ठापूर्वक लगे रहो, फल अवश्य ही मिलेगा।

जिज्ञासा :- शरीर की बाह्य-आभ्यन्तर-शुद्धि कैसे हो? कृपया समझाइए।

समाधान :- आप कुछ भी कर लो, यह शरीर शुद्ध नहीं हो सकता। इस शरीर में हाड़, माँस इत्यादि एक-एक चीज अशुद्ध है। इसमें शुद्ध नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। यह शरीर इतना निकम्मा है कि इसको बढ़िया-से-बढ़िया सुगन्धियुक्त मलाई खिलाओ पर वह इसके संग से विष्टा हो जाती है। कितनी अशुद्धि है इसमें! इस शरीर में आकर्षण नाम की कोई वस्तु नहीं है। इस शरीर में शुद्धि का हेतु चैतन्य ही है, यदि वह इस शरीर से निकल जाए तो इसको छूने मात्र से लोग स्नान करते हैं और चैतन्य की उपस्थिति मात्र से इसकी देवता के समान पूजा करते हैं।

हाँ, इसको शुद्ध करने का एक उपाय है - भगवान् का नाम। यह इतना पवित्र है कि इसे यदि व्यक्ति सतत स्मरण करता है तो उसका शरीर भीतर-बाहर सब ओर से शुद्ध रहता है। अब कोई कहे कि यदि भगवत्स्मरण मात्र से शुद्धि हो जाती है तो स्नानादि बाह्य-शुद्धि की क्या आवश्यकता है? पर ऐसा नहीं है। यदि स्नानादि बाह्य शुद्धि नहीं करेगा तो व्यक्ति इतना आलसी हो जाएगा कि वह हाथ-पैर इत्यादि भी नहीं धोएगा। एकदम तमोगुणी हो जाएगा। दूसरी बात, स्नानादि के लिए शास्त्र की आज्ञा भी है, इसलिए इनकी भी आवश्यकता है।

जिज्ञासा :- मनुष्य जीवन में कितने प्रकार के अपराध होने की सम्भावना है?

समाधान :- वैसे तो मनुष्य जीवन में बहुत प्रकार के अपराध होते हैं, पर उनको स्थूलरूप से तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। मनसा, वाचा और कर्मणा - मन से, वाणी से और शरीर से होनेवाले अपराध। इसी

प्रकार समस्त पुण्यों को भी इन्हीं तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है।

मानस-अपराध भी तीन प्रकार के होते हैं -

१) किसी दूसरे की वस्तु को देखकर उसको पाने के लिए मन में लालच उत्पन्न होना - अर्थात् परवस्तुलोभ।

२) किसी व्यक्ति के अपने प्रति थोड़ा-सा भी प्रतिकूल होने पर उसके विषय में अनिष्ट चिन्तन करना।

३) शरीर को ही आत्मा मानना अर्थात् शरीर में मन का अभिनिवेश।

इसी प्रकार वाणी से भी चार प्रकार के अपराध होते हैं -

१) झूठ बोलना :- तुलसीदासजी ने कहा है - संसार के जितने पाप हैं वे यदि एक गुज्जा के समान हैं तो असत्यभाषण का दोष पहाड़ के समान है। जिस प्रकार करोड़ों गुज्जा मिलकर भी पहाड़ की बराबरी नहीं कर सकती, उसी प्रकार करोड़ों पाप मिलकर भी असत्य-वचन से होनेवाले पाप की बराबरी नहीं कर सकते।

२) कठोर बोलना :- कठोर बोलना भी एक बड़ा अपराध है। जैसे - किसी के नेत्र नहीं हैं और उसको कहें, 'ऐ अन्धे! इधर आओ।' यह सत्य होते हुए भी कठोर है।

३) निन्दा :- किसी के दोष को जानकर उसका दुनिया भर में प्रचार करना। यह एक बहुत बड़ा दोष है। उसने पाप किया या नहीं, परन्तु आपने तो अपने मन में उसको ले ही लिया। निन्दा करना वैसा ही है जैसे दूसरे के घर का कचरा अपने घर में लाकर रखना।

४) अप्रसंग बोलना :- दो व्यक्ति बात कर रहे हों और बिना कारण उनके बीच में बोल पड़ना। यह भी वाणी का अपराध है।

इसी प्रकार शरीर के भी सभी दोषों को मिलाकर तीन विभाग हैं -

१) चोरी, २) हिंसा, ३) व्यभिचार।

इस प्रकार मनुष्य-शरीर में होनेवाले सम्पूर्ण अपराधों को तीन कोटियों में रखा जा सकता है।

जिज्ञासा :- शरीर ग्रहण करना बन्धन क्यों कहा है?

समाधान :- शरीर ग्रहण करना बन्धन ही है। इसकी कितनी बेगारी करनी पड़ती है। खिलाना, पिलाना, शौच ले जाना, जीवन भर इस शरीर की सेवा करते-करते मर जाना। इस जड़ शरीर की सेवा में लगे रहना, इससे बड़ा बन्धन और क्या हो सकता है!

जिज्ञासा :- मन के दोषों को कितने दिनों में नष्ट किया जा सकता है? सभी दोषों को एक साथ नष्ट करने का अभ्यास करना चाहिए या एक-एक करके?

समाधान :- मन के दोषों को कितने दिनों में नष्ट किया जा सकता है इसका कोई नियम नहीं है। यह तो मन में कितने दोष हैं और अभ्यास की तीव्रता कितनी है, इन दोनों पर निर्भर करता है। इस अभ्यास में धैर्य की अत्यन्त आवश्यकता है, यह कोई दस-बीस दिन का काम नहीं है। मन के दोषों को नष्ट करने से पहले उनको पहचानना चाहिए क्योंकि शत्रु को पहले पहचाना जाता है, फिर उस पर आक्रमण किया जाता है। यदि इकट्ठे नष्ट करने की सामर्थ्य नहीं है तो पहले एक को पहचान कर उसको दूर करने का प्रयास करना चाहिए। इसके पश्चात् दूसरे को नष्ट करना आसान हो जाता है।

जिज्ञासा :- मन को स्थिर करने का जितना प्रयत्न करते हैं उतना ही वह बाहर भागता है। कृपया कोई एक ऐसा उपाय बताइए जिससे मन स्थिर हो जाए?

समाधान :- यह स्वाभाविक बात है कि जिसको जहाँ रस मिलता है वह उसी ओर दौड़ता है। जिस आवारा पशु को खेतों में खुला चरने की आदत होती है, उसको एक जगह बाँधना बहुत कठिन है। परन्तु इसकी भी एक तरकीब है। एक स्थान पर उसकी पसन्द का चारा रखकर धीरे-धीरे उसको आकर्षित

किया जाता है। जब उसको चारे के रस का अनुभव होगा, तब वह भगाने से भी नहीं भागेगा। इसी प्रकार यह बिगड़ा हुआ मन आवारा पशु की भाँति इधर-उधर रस लेता है। यदि कोई आन्तरिक रस इसे मिल जाए तो यह भगाने से भी बाहर नहीं जाएगा। मन को अध्यात्म-चिन्तन या इष्टलीला-चिन्तन में इतना डुबा दो कि इसको बाहर आने की फुर्सत न मिले क्योंकि खाली मन में ही नाना प्रकार के फालतू विचार आते हैं।

जिज्ञासा :- आत्मा में अज्ञान कब से आया है?

समाधान :- अज्ञान कब से आया है, कहाँ से आया है, इस विचार से कोई लाभ नहीं है। उसका अनुभव हो रहा है या नहीं? जैसे, किसी कमरे में चाहे सौ वर्ष से अँधेरा हो या एक दिन से, प्रकाश लाते ही वह समाप्त हो जाता है। वहाँ ऐसा नहीं होता कि यह सौ वर्ष से है तो समाप्त होने में भी अधिक समय लगेगा। इसी प्रकार अज्ञान कितने दिन से है, यह जानने का कोई प्रयोजन नहीं है, प्रयोजन इस बात से है कि वह दूर कैसे हो।

जिज्ञासा :- शास्त्रों में अहं-मम के त्याग पर बहुत जोर दिया जाता है, ये अहं-मम क्या हैं? क्या ये ईश्वर-प्राप्ति में बाधक हैं?

समाधान :- अहं-मम ही तो संसार है। परमात्मा का बनाया संसार किसी के बन्धन का हेतु नहीं है। उसमें मनुष्य ने जो अहं-मम कर लिया, वही बन्धन का हेतु है। जिस समय साधक सचाई से घर छोड़ता है, उस समय उसको बहुत बड़ी उपलब्धि होती है क्योंकि उसने अपने सम्पूर्ण ममत्व को ईश्वर के आधार पर एक क्षण में तोड़ दिया। उसका आधा काम तो यहीं पर हो गया। अब आधा काम बचा है और वह है, शरीर के साथ जो मैं है उसको तोड़ना। पर यदि वह सावधान नहीं रहा और मैं को नहीं तोड़ पाया तो फिर नया संसार बना लेगा। पहले लोहे का महल था, अब सोने का महल बना लेगा।

योगवाशिष्ठ में एक कथा आती है। चुड़ाला ने शिखिध्वज से कहा, 'हे राजन, एक बहुत बलवान हाथी था, एक महावत ने उसे जंजीर में बाँध लिया। एक दिन हाथी ने विचार किया कि किसी प्रकार मैं इस बन्धन से मुक्त होऊँ, ऐसा सोचकर उसने अपना पूरा बल लगाया तो जंजीर टूट गई। महावत भी बेहोश होकर ऊपर से उसके सामने गिर गया। पर हाथी ने उसे मारा नहीं। वह जंगल में चला गया। वहाँ निर्भय होकर रहने लगा। कुछ समय पश्चात् महावत की बेहोशी दूर हुई, उसने फिर से हाथी को पकड़ने का निश्चय किया।

वह पैर के निशान देखते-देखते हाथी के पास पहुँच गया और कुछ दिनों तक देखता रहा कि वह रोज किस मार्ग से निकलता है। एक दिन उसके रास्ते में खाई बनाकर ऊपर से घास डाल दी। हाथी जब उस मार्ग से आया तो खाई में गिर पड़ा। महावत ने उसको जंजीर में बाँधकर फिर वश में कर लिया। कथा सुनाकर चुड़ाला ने कहा, 'हे राजन, वह हाथी तुम ही हो और तुम्हारा अहंकार ही महावत है। एक दिन तुमने सारा ममत्व तोड़ दिया था। राज-पाट, स्त्री-संग छोड़कर जंगल में आए थे। पर जिससे इनको छोड़ा था उस अहंकार को नहीं मारा। इसलिए अभी तक मुक्त नहीं हुए।' व्यासजी ने भी कहा - येन त्यजसि तत्पुत्रं। (महा. शान्ति. - ३२९.४०) अहंकार सबसे बड़ा शत्रु है। इसको मारा नहीं तो वह फिर से जाल बिछा लेगा। अतः अहं-मम ईश्वर प्राप्ति में बहुत बड़ी बाधा है। उसको तोड़ना ही पड़ेगा।

जिज्ञासा :- मुझे क्रोध बहुत आता है, क्या करूँ?

समाधान :- क्रोध आता है तो छोड़ दो उसे। पर अभी तुमको क्रोध कम आता है क्योंकि कभी क्रोध पर क्रोध नहीं आया तुमको। जिस दिन क्रोध पर क्रोध आ जाएगा उस दिन तुम्हारा क्रोध छूट जाएगा।

जिज्ञासा :- मन को निर्वासनिक कैसे बनावें?

समाधान :- जब तक विषयों में रस मिलता है तब तक मन निर्वासनिक नहीं बन सकता। इसलिए विषयों में दोष-चिन्तन करके उधर के रस से मन को हटाना पड़ेगा और परमात्मा में लगाने का अभ्यास करना पड़ेगा। जब परमात्मा के चिन्तन, नाम-जप और विचार में रस मिलने लगेगा, तो धीरे-धीरे मन निर्वासनिक हो जाएगा।

जिज्ञासा :- मैं जीवन की दिनचर्या को नियमित बनाने का बहुत प्रयत्न करता हूँ, पर कुछ दिन ठीक चलकर फिर बिगड़ जाती है। ऐसी परिस्थिति में क्या करूँ?

समाधान :- यह तुम्हारी कमजोरी है। अरे! मनुष्य की दिनचर्या नियमित क्यों नहीं हो सकती? क्या मनुष्य की चेष्टा पशु के समान होगी! मनुष्य का सब कार्य नियमित होना चाहिए। जीवन का एक-एक क्षण नियमित हो और उसको फालतू काम के लिए फुर्सत ही नहीं मिलनी चाहिए। मैं इस विषय में क्या उपाय बताऊँ! इसका उपाय तो तुम्हीं को करना पड़ेगा। नियमितता को महत्व देना पड़ेगा। एक बात समझकर रखो - योगी वही हो सकता है जिसके सभी काम नियमित हों, जीवन का एक-एक क्षण नियमित हो। नियमितता का इतना महत्व है। यदि नियमितता को महत्व दोगे तो वह नहीं टूटेगी। टूटती है, इसका अर्थ है कि तुमने उससे अधिक महत्व किसी और वस्तु को दे दिया है।

जिज्ञासा :- किसी वस्तु को देखकर उसके प्रति राग उत्पन्न न हो कृपया ऐसा कोई उपाय बताइये।

समाधान :- संसार में किसी वस्तु के प्रति पहले शोभन-बुद्धि होती है, तब उसका महत्व व्यक्ति के मन में बैठ जाता है। महत्व बैठने पर उसमें राग होता है, फिर मन में उसकी कामना हो जाती है। साधक को यह विचार करना चाहिए कि संसार में शोभन कहीं है ही नहीं। परमार्थदृष्टि से तो एक ब्रह्म

से भिन्न दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है। मान लो वस्तु है भी तो जो स्वयं प्रतिक्षण मृत्यु के मुख में जा रही है, विनाशी है वह हमें क्या सुख देगी! इस बात का बारम्बार विचार करना चाहिए। ऐसा अभ्यास दृढ़ होने पर किसी वस्तु के प्रति महत्वबुद्धि नहीं होगी, तो उसके प्रति राग उत्पन्न नहीं हो पाएगा। ऐसा होने के बाद भी यदि व्यक्ति आदत (पूर्व संस्कार) के कारण व्यवहार करता है तो उससे हानि नहीं। उससे राग बढ़ेगा नहीं बल्कि घटेगा, धीरे-धीरे अन्त में नष्ट हो जाएगा।

जिज्ञासा :- जगत् में व्यवहार करते हुए सङ्गदोष से कैसे निवृत्त हों?

समाधान :- जितना आप विचार से छोड़ सकते हो उतना सङ्ग तो छोड़िए, बाकी के लिए ईश्वर-शरण के बिना कोई उपाय नहीं है, यह मेरा स्वयं का अनुभव है। जब मैं महात्मा बनकर प्रारम्भ में उत्तरकाशी में रहने लगा तो कई बड़े महात्माओं से मेरा अन्तरङ्ग परिचय हो गया था। उनके साथ रहने पर सत्सङ्ग तो मिलता, पर कभी-कभी राग-द्वेष की बातें भी सुनने को मिल जाती थीं। तब मेरे मन को ठेस लगती कि साधु बनकर भी यही सब सुनना पड़ रहा है, तो इससे लाभ क्या हुआ! यही सब सोचते हुए एक बार रात भर निद्रा नहीं आई। यहाँ तक विचार आ गया कि हिमालय में आने पर भी राग-द्वेष का वातावरण मिल रहा है, तो गङ्गा में शरीर छोड़े बिना अब दूसरा कोई उपाय नहीं है। ऐसा विचार करते-करते कुछ झपकी लग गयी, तब ऐसा अनुभव हुआ कि एक माता आई और मुझे जोर से एक थप्पड़ मारा। फिर कहा, 'तुम बाजार जाते हो तो अपनी चीज खरीदकर आ जाते हो या वहाँ झगड़ा करते हो कि इतनी सब चीजें क्यों रखी हैं? इसी प्रकार तुम्हें अपने काम की ही बातें सुननी चाहिए, राग-द्वेष की बातें क्यों सुनते हो!'

देखो, हमने मन से गङ्गा का आश्रय लिया तो उसने इस प्रकार का उपदेश कर दिया। उस उपदेश में कुछ अलग ही शक्ति थी। उसका मुझपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि कोई मुझसे कितनी ही देर बात करे मुझे केवल अपने मतलब की बात ही सुनाई पड़ती, अन्य बातें सुनाई ही नहीं देती थीं। बहुत काल तक

ऐसी स्थिति थी। इसी प्रकार सङ्ग-दोष से बचने के लिए व्यक्ति स्वयं भी प्रयास करे और भगवान् से प्रार्थना करे तो काम बन सकता है।

जिज्ञासा :- आजकल विषयों से वैराग्य का प्रयत्न करने पर भी पूर्ण सफलता क्यों नहीं मिलती?

समाधान :- इसका मतलब यह है कि आपको विषयों में ठीक से दोष दिखाई नहीं दे रहे हैं। शास्त्र हमें बताता है कि हम चेतन हैं, स्वतन्त्र हैं पर विषयों ने हमें पराधीन बना रखा है। जेल में बन्द करने से भी ऐसी पराधीनता नहीं होती जैसी विषयों में बँधने से होती है। इस प्रकार विचार करते-करते विषयों में दोष-दर्शन होगा। किसी में दोष देखने से मन में आता है कि इसने हमको बहुत कष्ट दिया है तो उसके प्रति एक प्रकार का द्वेष उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार विषयों से एक प्रकार का द्वेष हो जाता है। इसलिए प्रारम्भिक वैराग्य द्वेषात्मक होता है। परन्तु विषय-चिन्तन की जो आदत पड़ी है वह जल्दी छूटती नहीं।

जब विषय उसको अपनी ओर खींचता है, उस समय यदि साधक मन को और पक्का करता है, तब विषय रहने पर भी विशेष रस नहीं रहता। धीरे-धीरे जब उसका मन बलवान् हो जाता है, तो भोगों के प्रति उसमें दीनता नहीं रहती। फिर विवेकजन्य वैराग्य उत्पन्न हो जाता है तो अन्दर से राग नहीं रहता। एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की है कि किसी विषय के व्यसन को छोड़ना हो तो पहले छोड़ने की प्रतिज्ञा भी करनी पड़ती है और निर्व्यसनी का संग भी। इसलिए प्रारम्भ में जहाँ वह विषय सुलभ न हो ऐसे स्थान पर रहने से छोड़ने में सुविधा रहती है।

जिज्ञासा :- हम प्रयास करने पर भी काम, क्रोध इत्यादि को जीत नहीं पाते। हमें संशय होता है कि हमारी आध्यात्मिक उन्नति कैसे होगी? कृपया मार्गदर्शन करें।

समाधान :- काम-क्रोधादि को सहने की शक्ति आपके अन्दर विद्यमान तो है, परन्तु उसका उपयोग आप नहीं कर पाते। ऑफिस में काम करते समय आपका अफसर कभी बिना कारण ही आपको डाँट देता है। तब आपको क्रोध तो आता है पर आप सह लेते हो या नहीं? आपमें यदि शक्ति नहीं होती तो उसे कैसे सहन करते? इस बात को समझना चाहिए कि यदि पैसे के लोभ से हम क्रोध को सहन कर लेते हैं तो परमार्थ के लोभ से क्यों नहीं कर सकते! बात यह है कि पैसे का जितना महत्व हमारे मन में बैठा है उतना परमार्थ का नहीं है। गीता में भगवान् ने कहा - भाई! नरक के तीन ही दरवाजे हैं - काम, क्रोध और लोभ। ये परमार्थ मार्ग के शत्रु हैं। यदि परमार्थ का सच्चा महत्व आपमें हो तो इनको सहने की शक्ति आपके अन्दर आ ही जाएगी।

जब परमेश्वर का महत्व आपके लिए जगत् से अधिक हो जाएगा तब यह शक्ति आएगी। अभी तो परमेश्वर का भजन किये बिना आपका काम चल जाता है, पर जगत् का कार्य किए बिना नहीं चलता क्योंकि आपको मृत्यु याद नहीं रहती। विचार करो कि उस समय सम्पूर्ण जगत् से रहित होकर काम चलाना पड़ेगा। इसलिए शास्त्र और ईश्वर का महत्व अपने मन में बढ़ाते रहो तो एक दिन काम, क्रोध, लोभ को जीतने में समर्थ हो जाओगे।

जिज्ञासा :- अच्छा मन किसे कहते हैं?

समाधान :- जिसमें दुःख, भय, लोभ, काम, क्रोध, मोह इत्यादि न हों और जो परमात्मा के भजन में लगता हो, वही अच्छा मन है। माला जपते समय व्यक्ति का मन मन्त्र में ही रहता है या नहीं? यदि मन इधर-उधर चला गया तो इसका मतलब वह एकाग्र नहीं है। यदि भजन में, परमात्म-चिन्तन में एकाग्र होता है तो वह ठीक मन है। वास्तव में जगत् की कामना ही मन की अशुद्धि है, वह न रहे तो आपका मन अच्छा है।

जिज्ञासा :- बाइबल में लिखा है कि पवित्र हृदयवाले धन्य हैं क्योंकि वे ईश्वर का दर्शन करेंगे। पवित्र हृदय का लक्षण क्या है?

समाधान :- जिसको भगवान् का दर्शन सर्वत्र होता है उसका हृदय तो पवित्र है ही इसमें कोई संशय नहीं है। स्वामी विवेकानन्दजी कहते थे, 'अन्य सभी शास्त्र नष्ट हो जाएँ और संसार में मात्र यह एक वाक्य बचा रहे, तो यही मानवजाति को बचा सकता है।'

सीय राममय सब जग जानी... । (मानस, बाल.-७.१) ऐसा आपको प्रतीत हो तो समझना चाहिए कि आपका हृदय पवित्र है। धर्म की सरल व्याख्या है - आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्। (महाभारत) दूसरों का जो व्यवहार तुम्हें अच्छा नहीं लगता वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति मत करो। भगवान् तुम्हारे हृदय में बैठा हुआ है जब भी तुम गलत काम करने जाते हो तो वह तुरन्त टोक देता है, पर तुम बार-बार उसकी अनसुनी करोगे तो टोकना बन्द कर देगा। जैसे, माता-पिता बच्चे को समझाते हैं कि बेटा, ऐसा मत करो, पर जब वह बार-बार अनसुनी करता है तो अन्त में वे चुप हो जाते हैं। यही धर्म की ग्लानि है।

हृदय में राग-द्वेष न हों, यह पहली पवित्रता है और केवल सचाई दीखे, यह दूसरी पवित्रता है। ये दोनों पवित्रताएँ हृदय में आ जाएँ तो सारा काम ही बन जाएगा। जब राग-द्वेष-राहित्य होगा तो व्यक्ति प्रकृति के नियन्त्रण से मुक्त हो जाएगा क्योंकि प्रकृति राग-द्वेष उत्पन्न करके ही व्यक्ति को प्रवृत्त करती है। राग-द्वेष-रहित व्यक्ति की प्रवृत्ति हमेशा शास्त्रानुसार ही होती है। शास्त्रानुकूल आचरण करते हुए धीरे-धीरे जगत् की कामना समाप्त हो जाएगी। हृदय में कोई कामना न रहे यही उसकी पवित्रता है।

जिज्ञासा :- आप कहते हैं कि मन में कोई बुरा विचार आता है तो उसे काटने की अपेक्षा उससे उदासीन रहना उचित है। कृपया इसे स्पष्ट कीजिए।

समाधान :- मन में कोई संकल्प आए और आप उससे लड़ाई करने लगें तो वह बलवान हो जाता है, जल्दी जाता नहीं है। जैसे, आप किसी मन्दिर से दर्शन करके बाहर आते हैं तो माँगनेवाले पीछे पड़ जाते हैं। यदि आप उसे नहीं-नहीं करेंगे तो वह आपके पीछे आता जाएगा क्योंकि आपने उसके अस्तित्व

को तो स्वीकार कर लिया। अब उसे आशा है कि कुछ दूर जाकर आप पैसा दे सकते हैं। इसकी अपेक्षा यदि आप न तो उसकी ओर देखें, न कुछ बोलें, सीधे चलते जाएँ तो वह सोचेगा कि यह तो मेरे अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं कर रहा है, इससे रुपये नहीं निकलेंगे। तब वह आपके पीछे नहीं आएगा।

इसी प्रकार कोई गलत संकल्प मन में आता है और आप उसे निकालने का प्रयास करते हैं, नहीं-नहीं करते हैं तो उसको बल मिल जाता है क्योंकि आपने उसके अस्तित्व को तो स्वीकार कर लिया। आप जब उसे निकालने के लिए बल लगाएँगे तो वह भी बल लगाएगा, इसलिए जल्दी नहीं निकलेगा। यदि आप उससे उदासीन रहें, उसकी ओर ध्यान न दें तो उसे शक्ति नहीं मिलेगी, वह धीरे-धीरे कमजोर पड़ जाएगा और आसानी से आपके मन से चला जाएगा। जब मन में गलत संकल्प आए तो उससे झगड़ा मत करो, उदासीन हो जाओ तब वह स्वतः शान्त हो जाएगा, यही मेरे कहने का तात्पर्य है।

जिज्ञासा :- लोग कहते हैं कि भगवान् के दर्शन से बुद्धि शुद्ध हो जाती है। दुर्योधन, शिशुपाल आदि ने भी कृष्ण का दर्शन किया था, फिर उनकी बुद्धि शुद्ध क्यों नहीं हुई?

समाधान :- अहंकारी व्यक्ति की बुद्धि शुद्ध नहीं होती क्योंकि वह भगवान् के सामने भी अहंकार करता है और अहंकार बुद्धि को समर्पित नहीं होने देता। असमर्पित बुद्धि कैसे शुद्ध होगी! एक बार फकीरों को बड़ी चिन्ता हुई कि सबका कल्याण तो हो जाएगा क्योंकि वे खुदा के सामने जाते हैं पर शैतान का कल्याण कैसे होगा? कितना भी समझाओ वह मस्जिद में जाता ही नहीं और जाता भी है तो तनके खड़ा हो जाता है, झुकता नहीं। फकीरों ने विचार किया कि मस्जिद का दरवाजा छोटा कर दिया जाए, जब वह आएगा तो उसे सिर झुकाना ही पड़ेगा, तभी उसकी इबादत स्वीकार करा देंगे। वे लोग किसी प्रकार समझा-बुझाकर शैतान को मस्जिद तक ले आए। जब उसने देखा कि सिर झुकाना पड़ेगा तो उसने पहले पाँव ही अन्दर रखा। यह अहंकार समर्पण करने नहीं देता है, फिर बुद्धि शुद्ध कैसे होगी!

जिज्ञासा :- कुछ लोग कहते हैं कि वेदान्त-श्रवण से ही चित्तशुद्धि और मन की एकाग्रता दोनों सम्पन्न हो जाएँगे। क्या यह बात ठीक है?

समाधान :- यदि ऐसा होता है तो साधक को स्वयं ही इस बात का पता लग जाएगा और नहीं हो रहा है तो उसका कारण खोजना पड़ेगा। ऐसे बहुत-से लोग मिलते हैं जो जीवन भर रामायण, भागवत आदि कथाओं का श्रवण करते रहे, पर उनका मन सुलझा हुआ नहीं दीखता। इसका अर्थ यही है कि उनका मन कहीं और रस ले रहा है। साधक को श्रवण करते समय सतत अनुसन्धान करना चाहिए कि मेरा मन निष्काम हो रहा है या नहीं? जगत् से वैराग्य हो रहा है अथवा नहीं? खाने-पीने में रस कहीं बढ़ तो नहीं रहा, मन भगवच्चिन्तन में लगा है या कहीं और? चाणक्य ने राजनैतिक लोगों के विषय में एक विलक्षण वचन कहा था - **जो मछली पानी में रहती है वह पानी पीती है या नहीं, इसको कौन प्रमाणित करेगा!** राजनीति में रहनेवाला व्यक्ति जनता से पानी पीता है या नहीं - इसे कौन प्रमाणित करे!

इसी प्रकार साधक को समझना चाहिए कि संसार में व्यवहार करते हुए मन यहाँ पानी पी रहा है या नहीं? अर्थात् इस जगत् के व्यवहार में विभिन्न प्रकार के भोग और मान-सम्मान हैं, मन इनमें रस ले रहा है या नहीं, यह साधक को स्वयं ही समझना पड़ेगा। मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि वेदान्त-श्रवण से भी चित्त शुद्ध हो सकता है, पर आपका लक्ष्य ठीक होना चाहिए। आपको परीक्षा करनी चाहिए कि श्रवण के बाद हमारा वैराग्य बढ़ रहा है या नहीं? राग-द्वेष समाप्त हो रहे हैं अथवा नहीं? चलते-फिरते मन में वेदान्त का विचार हो रहा है अथवा जगत् का, यह परीक्षा आपको ही करनी पड़ेगी। यदि मन में अधिकांश समय वेदान्त-चिन्तन होता है तो समझना चाहिए कि मन शुद्ध हो रहा है।

जिज्ञासा :- कोई व्यक्ति शिवमहिम्न, गीता या अन्य स्तोत्रों का संस्कृत में पाठ करता है, जिनमें कुछ अशुद्धियाँ भी हो जाती हैं। अन्त में वह कह देता है - **यदक्षरं पदभ्रष्टं ...**, तो क्या इतने मात्र से अशुद्ध पाठ का दोष दूर हो जाता है?

समाधान :- देखो भाई! तुम जान-बूझकर गलती मत करो, पर भूल से गलती हो जाए और सचाई से भगवान् के चरणों में क्षमा-प्रार्थना कर लो तो अशुद्ध-पाठ का दोष दूर हो सकता है। यदि तुम जान-बूझकर दिनभर झूठ बोलो और शाम को पूजा करके क्षमा माँगो तो वहाँ क्षमा नहीं मिलती। हाँ, तुम पूरा प्रयास करो कि शुद्ध पाठ करें, फिर भी कुछ अशुद्धि हो जाए तो देवता के सामने सच्चे मन से क्षमा माँगने पर दोष दूर हो जाएगा।

जिज्ञासा :- किसी साधक में यदि दम्भरूपी दोष हो तो उसे क्या करना चाहिए?

समाधान :- दिखावा दूसरा और अन्दर से कुछ दूसरा, इसी का नाम है दम्भ अर्थात् धर्म-ध्वजित्व। दम्भ एक आसुरी वृत्ति है और साधक को प्रयास करके विचारपूर्वक उसे दूर करना चाहिए। गीता में भगवान् कहते हैं - **दम्भो दपोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च (१६.४)** ये सब दोष हैं, इनपर विचार करना चाहिए एवं इनसे बचने का उपाय करना चाहिए। कलि में दम्भ अर्थात् दिखावे को ही प्रधान माना गया है। जगत् में दिखावा करना पड़ता है क्योंकि जगत् के लोग आपके मन की बात नहीं जानते। पर परमार्थ में तो दिखावे से कुछ काम नहीं चलेगा। ईश्वर आपके मन के प्रत्येक भाव को जानता है। उसके सामने दिखावा करने से क्या लाभ होगा! उसकी कृपा तो प्राप्त नहीं होगी।

इसीलिए इस सचाई को स्वीकार करना चाहिए और हमें स्वयं से भी प्रश्न करना चाहिए कि हम किसको प्रसन्न करने के लिए दम्भ कर रहे हैं? दम्भ लोगों को प्रभावित करने के लिए किया जाता है। पर उससे क्या लाभ होगा? क्या लोग आपको मुक्ति का सर्टिफिकेट देंगे? यदि कोई दम्भ करता है, इसका अर्थ यह हुआ कि वह लोगों को प्रसन्न करना चाहता है, परमात्मा को प्रसन्न करना नहीं चाहता। इसीलिए साधक को विचार करके दम्भ छोड़ देना चाहिए।

जिज्ञासा :- क्रोध के विषय में तो समझ में आता है कि वह अनर्थकारक है। परन्तु गीता में भगवान् ने लोभ और इच्छा की भी निन्दा की है। इनमें क्या अनर्थ है?

समाधान :- व्यक्ति को जैसे किसी अन्य का दोष दीखता है उसी प्रकार कभी-कभी अपने में भी दोष दिखाई देता है। पर वह इस रूप में दिखाई देना चाहिए कि सहन ही न हो। काम, क्रोध, लोभ, दम्भ आदि को देख लेना, जान लेना, यह एक बात है पर देखकर सहन नहीं होना दूसरी बात है। साधक को अपना दोष सहन नहीं होना चाहिए और पूर्ण प्रयास करके उसे निकालना चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने कहा है -

त्रिविधं नरकस्येदं

द्वारं नाशनमात्मनः।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥ (१६.२१)

भगवान् ने तो स्पष्ट ही कह दिया है कि किसी को नरक में जाना हो तो इन तीनों की सहायता से जा सकता है। वस्तुतः एक कामना ही ये तीनों रूप धारण कर लेती है। जैसे किसी की कामना में किसी ने विरोध किया तो उसको क्रोध आ जाएगा और कामना पूरी हो गई तो लोभ हो जाएगा। इसीलिए एक काम ही त्रिविध हो गया। एक मोक्षार्थी इनको इस रूप में अनुभव करे कि यह तो नरक में ले जाने का रास्ता है, तब वह इनको कैसे सहन करेगा! इसलिए भगवान् ने क्रोध के साथ-साथ इच्छा और लोभ की भी निन्दा की है।

जिज्ञासा : किसी व्यक्ति की बाहर से बहुत प्रसिद्धि है कि ये अच्छे वक्ता हैं, सिद्ध पुरुष हैं। पर वह स्वयं जानता है कि मेरे मन की स्थिति ठीक नहीं है। ऐसे में उसको क्या करना चाहिए?

समाधान : लोगों के कहने से ही व्यक्ति सिद्ध नहीं बन सकता। उसे सचाई से अपने मन की स्थिति का अध्ययन करना चाहिए और उसका समाधान ढूँढना चाहिए। इस सन्दर्भ में विनयपत्रिका में कहे गए गोस्वामीजी के ये उद्गार मननीय हैं।

वे कहते हैं, **कैसे देउ नाथहिं खोरि** - भगवान् को मैं कैसे दोष दूँ! भगवान् को दोष नहीं दे सकता। बन तो गया हूँ साधु, पर - **काम लोलुप भ्रमत मन हरि! भगति परिहरि तोरि।** माला लेकर बैठता हूँ तो मन में यही आता है, कुटी कैसे बनेगी, आश्रम कैसे बनेगा? **बहुत प्रीति पुजाइबे पर, पूजिबे पर थोरि।** सदा मन में यही रहता है भक्त लोग ज्ञानी मानकर मेरी पूजा करें, परन्तु तुम्हारी पूजा करने में मेरी रुचि बहुत कम है। **लोभ मनहिं नचावै कपि ज्यों गरे आसा-डोरि,** जैसे मदारी गले में रस्सी बाँधकर बन्दर को नचाता है, वैसे ही लोभ आशारूपी डोरी से बाँधकर मन को नचाता रहता है। उसी लोभ में पड़कर व्यक्ति कथा-प्रवचन करना शुरू कर देता है। कथा करना तो अच्छा ही है, पर निमित्त क्यों गलत बना लिया।

किये सहित सनेह जेअघ

हृदय राखे चोरि।

संग बस किये सुभ, सुनाये सकल लोक निहोरि॥

आसक्तिवश जानबूझकर जो भी पाप किए उनको तो हृदय में छिपा लेता है और किसी पुण्यात्मा के संग से कदाचित् कोई पुण्य कर लिया तो लोक में उसका प्रचार करता रहता है। अब बताओ बाँटना किसको था! फेंकना तो पाप को था। पर जो भी अच्छा काम किया उसे सबके सामने कहेगा कि मैंने यहाँ भण्डारा करवा दिया, वहाँ दान कर दिया। पर कोई पाप हुआ तो उसको कभी नहीं कहेगा।

करों जो कछु धरों सचि पचि सुकृत सिला बटोरि।

पैठि उर बरबस दयानिधि! दंभ लेत अजोरि॥

जो कुछ भी पुण्य करता है, उसे खेत में पड़े हुए अन्न के दानों के समान

बटोरकर रखता है। परन्तु उसका दम्भ जबरन हृदय में घुसकर उसे बाहर फेंक देता है। दम्भ के कारण उसके सारे पुण्य नष्ट हो जाते हैं। उसका व्यवहार दिखावा बन जाता है। अहंकार अलग से बढ़ जाता है। इन सबसे साधक पतित हो जाता है। पर गोस्वामीजी तो गोस्वामीजी हैं, वे कहते हैं - **एतेहूँ पर तुम्हरो कहावत, लाज अँचई घोरि।** मेरी ऐसी स्थिति होने पर भी जगत् में यही विख्यात है कि तुलसीदास राम का भगत है। मैं लज्जा को भी घोलकर पी गया। ऐसी स्थिति में मैं भला क्या कर सकता हूँ! अब तो एक ही आशा है - **निलजता परहि रिझि रघुबर, देहु तुलसिहिं छोरि॥** (विनयपत्रिका-१५८)

हे भगवन्! और तो मेरे पास कुछ है नहीं, मेरी निर्लज्जता को देखकर ही मुझे संसार से छुड़वा दीजिए। इसीलिए साधक को लोकप्रसिद्धि में न फँसकर अपने मन की स्थिति को पहचान लेना चाहिए और आत्मग्लानि करते हुए दम्भ से दूर रहकर सच्चे मन और दीनभाव से भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिए। यदि ऐसा करे तो धीरे-धीरे मन की स्थिति में सुधार हो सकता है।

जिज्ञासा :- जगत् में व्यवहार करते समय काम, क्रोध से सम्पर्क होना स्वाभाविक है। व्यवसाय में धन-उपार्जन के लिए लोभ होना भी स्वाभाविक है। माता-पिता का पुत्र के प्रति स्नेह होने से उनको मोह भी हो जाता है। इन प्रवृत्तियों से मन को दूर रखते हुए कर्म कैसे करें?

समाधान :- शरीर रहते हुए कोई व्यवहार रहित तो हो नहीं सकता है। जब तक शरीर का भान है, तब तक उससे व्यवहार तो होगा ही। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि कुछ युक्तियाँ होती हैं जिनके द्वारा अपना बचाव किया जा सकता है। जैसे, विद्युत के तार में करंट चलता है, उस तार को पकड़ने पर व्यक्ति मर भी जाता है, परन्तु इससे बचने की एक युक्ति है - यदि व्यक्ति काष्ठ पर खड़ा रहे और हाथ में रबड़ पहन ले तब करंट नहीं लगता। ऐसे ही जगत् के कण-कण में माया व्याप्त है और व्यवहार तो आपको वहीं करना पड़ेगा। भेद को लेकर ही व्यवहार होता है, अभेद में तो कोई व्यवहार नहीं होता। कोई ऐसी युक्ति हो जिससे व्यवहार करते हुए भी मायारूपी करंट न लगे, वह युक्ति शास्त्र

बताता है। शास्त्र जो युक्ति देता है वह किसी के द्वारा कोई थोपी हुई चीज नहीं है। हम सचाई और शास्त्र की आज्ञा को स्वीकार नहीं करते, बस यही समस्या है।

शास्त्र की आज्ञा है कि पहले आप धर्म पर खड़े हो जाओ, तब अर्थ को पकड़ो, तो आप फँसोगे नहीं। उस अर्थ का सदुपयोग होगा, वह आपको मोह या कुप्रवृत्ति में नहीं डाल सकेगा, बल्कि जगत् से उदासीन बना देगा, साथ ही उससे आपमें अलम् (पर्याप्त) भाव उत्पन्न हो जाएगा। तब आप मुख्य पुरुषार्थ की ओर अपने-आप लग जाएँगे। शास्त्र अर्थ-अर्जन और व्यवहार का किसी को निषेध नहीं करता, परन्तु कहता है कि धर्म पर खड़े होकर आचरण करना चाहिए।

दूसरी बात, सभी के सामने यह सचाई है कि मरने के बाद किसी के साथ जगत् की कोई वस्तु जाती नहीं। यह भी सचाई है कि जिस शरीर को चिता पर रखा गया, उसका लड़का ही उसको जलाता है और कहता है कि पिताजी स्वर्ग चले गये। यह विचार करने की बात है कि पिताजी यदि शरीर नहीं हुए तो हम शरीर कैसे हो जाएँगे! सचाई को झुठलाने से ही सारी विडम्बनाएँ आती हैं। जिसने शरीर बनाया, नेत्र दिए, जो हमारा प्राण चला रहा है, उससे बड़ा हमारा सम्बन्धी भला कौन हो सकता है! पर अन्दर से इस बात की धारणा ही नहीं होती।

इसीलिए व्यक्ति को सचाई स्वीकार कर लेना चाहिए और शास्त्र के बताए मार्ग पर खड़ा होकर व्यवहार करना चाहिए। इस विषय में यदि अपने को कमजोर समझो तो परमेश्वर की शरण ग्रहण करो और उसके नाम का आधार ले लो। इसके लिए अपने जीवन का हिसाब प्रतिदिन परमेश्वर को देना पड़ेगा, उसी को घर का मालिक बना लेना पड़ेगा। तब आपकी सब झंझट दूर हो जाएगी। यदि इतना भी कोई न कर सके तो अन्य कोई उपाय नहीं है।

जिज्ञासा :- आजकल बच्चों में बढ़ती कुप्रवृत्ति को कैसे रोका जाए?

समाधान :- सबसे पहले पालकों को यह सोचना होगा कि क्या वे बच्चों के लिए त्याग करने के लिए तैयार हैं? आप बच्चों को जैसा बनाना चाहते

हैं, पहले आपको वैसा बनना पड़ेगा। गर्भवती होते ही माता को खाने, सुने और देखने आदि सभी विषयों में सावधान हो जाना चाहिए। माता यदि टी.वी. देखेगी तो बच्चा गलत संस्कार ग्रहण करेगा ही। आज का समाज बच्चों के लिए केवल मोह कर सकता है और कुछ नहीं। यदि आप अपने बच्चों को सुबह चार बजे उठाना चाहते हैं तो आपको भी सुबह चार बजे उठना पड़ेगा। पहले स्वयं कुछ त्याग करो तो बच्चा आपका कहना मान सकता है अन्यथा नहीं।

एक लड़के को खाँसी बहुत आती थी। उसकी माता उसे वैद्यजी के पास ले गई। वैद्यजी ने उसे दवा दी और माता से कहा कि इसको मीठा नहीं देना अन्यथा खाँसी दूर नहीं होगी। माता के रोकने पर भी वह बालक कहीं-न-कहीं से मीठा खा ही लेता था। माता कहते-कहते हैरान हो गयी, बच्चा कहना मानता ही न था। एक दिन रविवार को माता बालक को लेकर एक महात्मा के पास गई। उनसे बच्चे की समस्या बताई। महात्मा ने उसे अगले रविवार को आने के लिए कहा। सात दिन बाद जब माता फिर बच्चे को महात्मा के पास ले गई, तो उन्होंने बच्चे से पूछा, 'बेटा, क्या तुम्हें खाँसी आती है?' बच्चे के हामी भरने पर महात्मा ने पूछा, 'क्या तुम मिठाई खाते हो?' बच्चे ने हाँ कहा तो महात्मा बोले, 'यदि तुम मेरी बात मानकर मीठा छोड़ दो, तो तुम्हारी खाँसी दूर हो जाएगी।' बच्चा बात मान गया और खाँसी दूर हो गई। माता ने बाद में आकर महात्मा से पूछा कि केवल इतना ही उपदेश करना था तो पहले रविवार को ही क्यों नहीं कर दिया? तब महात्मा बोले, 'उपदेश तो तुमने भी इसको बहुत दिए। पर इसने बात क्यों न मानी? मैंने पहले रविवार को इसे इसलिए उपदेश नहीं किया क्योंकि तब मैं स्वयं मीठा खाता था। पर उसके बाद बालक के निमित्त से मैंने उसका त्याग कर दिया। इसीलिए मेरी वाणी में ताकत आ गयी तो बालक ने भी मान लिया। बालक के भीतर भी मीठे को त्याग करने की शक्ति आ गई।'।

आजकल माता-पिता बालक के लिए कौन-सा त्याग करते हैं? यदि बालक किसी से गाली न सुने तो वह गाली कैसे देगा! मनुष्य का बालक पशु के बालक के समान नहीं है, वह तो जैसा देखेगा वैसा करेगा, जैसा सुनेगा वैसा बोलेगा। ये सारी बातें विचारणीय हैं। इस समय ऐसी समस्या है कि माता-पिता

का बालकों से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। बालक की कोई समस्या हो तो वह माता-पिता से बता नहीं सकता। इससे बड़ी और कौन-सी विडम्बना होगी? माता-पिता से बड़ा हितैषी अन्य कोई होता है? पर जब वह अपनी समस्या ही बता नहीं सकता तो उनका उपदेश भला क्या गृहीत करेगा!

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि जिन पालकों को बालक के विषय में चिन्ता है, उनको बालक के लिए त्याग करना चाहिए, तभी बालक में ताकत आएगी। उसके संकल्प में भी ताकत आएगी और शरीर में भी। तब आप निश्चित ही उसमें परिवर्तन कर सकते हैं। जब तक आप बालक का मन अपने हाथ में नहीं लेते तब तक आप अपनी बात उससे नहीं मनवा सकते और बालक भी तब तक अपना मन आपको नहीं देता, जब तक वह यह नहीं समझ लेता कि ये हमारे सच्चे हितैषी हैं। बस, इतनी ही कला है। उसके बाद बालक से कहो कि २४ घण्टे यहीं खड़े रहो तो वह खड़ा रहेगा। वह इतना आज्ञा-पालक हो जाता है। आपका उसके साथ अपनत्व जम जाना चाहिए। इस विषय में माता-पिता सावधान रहेंगे तो बच्चों में कुप्रवृत्ति की सम्भावना समाप्त हो सकती है।

धर्म - जिज्ञासा

जिज्ञासा :- भस्म किसलिए लगाते हैं, इसे शरीर में कहाँ-कहाँ लगाना चाहिए? लगाते समय भावना कैसी रहनी चाहिए?

समाधान :- भस्म महादेव को बहुत प्रिय है। इसलिए महादेव के भक्तों को इसे अवश्य लगाना चाहिए। एक बार हनुमानजी माँ सीताजी के पास बैठे हुए थे, माँ सीता अपने ललाट में लाल रंग का तिलक कर रही थीं। हनुमानजी ने पूछा, 'माँ, आप इसे क्यों लगाती हैं?' सीताजी ने कहा, 'यह भगवान् राम को बहुत प्रिय है, इसलिए मैं लगाती हूँ।' हनुमानजी ने सोचा जो वस्तु भगवान् राम को प्रिय है, उसको शरीर में थोड़ा क्यों लगाना। हनुमानजी अपने पूरे शरीर में सिन्दूर का लेपन करके रामजी के पास चले गए। रामजी ने कहा, 'हनुमान, आज तुमने यह क्या स्वरूप बना लिया?' हनुमानजी ने कहा, 'भगवन्! हमने सुना है आपको यह लाल रंग बहुत प्रिय है, इसलिए अपने पूरे शरीर में इसका लेपन कर लिया है।' यह भक्त की अपनी भावना है कि जो वस्तु भगवान् को प्रिय होती है वह उसको प्रिय होती ही है।

दूसरा कारण यह है कि शरीर आगे जाकर भस्म होना ही है, इसलिए पहले से ही शरीर में भस्म लगाकर रखते हैं जिससे सचाई की स्मृति बनी रहे। वैसे भी उपनिषदों और पुराणों में भस्म-धारण का बहुत माहात्म्य बताया गया है। भस्म-धारण करने की कई प्रकार की विधियाँ हैं। केवल मस्तक में त्रिपुण्ड्र लगा सकते हैं अथवा ललाट, हाथ, हृदय, कण्ठ इत्यादि अङ्गों में भी लगा सकते हैं। सम्पूर्ण शरीर में भस्मोद्भूलन का विधान भी शास्त्र में मिलता है। भस्म पवित्र करनेवाला है, इसको मन्त्रपूर्वक ही धारण करना चाहिए। जो मन्त्र नहीं जानता, वह नमः शिवाय से या अपने गुरुमन्त्र से धारण कर सकता है।

जिज्ञासा :- शास्त्रों में भिन्न-भिन्न देवताओं के भिन्न-भिन्न वार निर्धारित किए गए हैं, ऐसा क्यों? शिवपुराण में रविवार को शिवजी का वार कहा गया है, पर लोक में सोमवार की प्रसिद्धि है। इसके पीछे क्या कारण है?

समाधान :- बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं जिनके विषय में तर्क नहीं करना चाहिए। जिसको अपनी बुद्धि या तर्क से हम नहीं जान सकते उसको शास्त्र बताता है - अज्ञातज्ञापकं शास्त्रम्। प्रत्यक्ष एवं अनुमान से जिसको हम नहीं जानते उसको बतानेवाला शास्त्र है। इसलिए यदि शास्त्र ने बता दिया कि इस देवी-देवता का अमुक दिन है तो इसको मान लेना चाहिए, तभी आप ठीक से देवपूजन आदि साधना कर पाएँगे। जैसे, शास्त्र ने कहा - मृगचर्म या बाघम्बर पर बैठकर भजन करो। इसमें यदि कोई तर्क करे कि भेड़ या गीदड़ की चर्म पर बैठकर भजन क्यों न करें तो क्या यह उचित है!

शिवपुराण में शिवजी का दिन रविवार कहा, यह बात ठीक ही है, रविवार शिवजी का दिन है। सोमवार की प्रसिद्धि इसलिए है कि चन्द्रमा ने महादेव के उद्देश्य से घोर तप किया जिससे महादेव प्रसन्न हो गए और अपना नाम ही चन्द्रमा को दे दिया। सोम महादेव का नाम है, चन्द्रमा का नहीं, उमया सह सोमः - जो उमा के साथ है, वही सोम है। इसलिए सोमवार महादेव को विशेष प्रिय है।

जिज्ञासा :- रामराज्य का क्या तात्पर्य है?

समाधान :- रामराज्य का मतलब है ऐसा राज्य जिसमें सबका नियन्त्रण हृदय से होता है। जिस व्यक्ति का नियन्त्रण हृदय से है उसमें धर्म प्रतिष्ठित है, उस पर बाहरी नियन्त्रण की कोई आवश्यकता नहीं है। रामराज्य में प्रत्येक व्यक्ति का नियन्त्रण धर्म से होता था, शास्त्र से होता था। शास्त्र जैसी आज्ञा देता है उसी प्रकार लोग प्रवृत्त होते थे। इस विषय में एक कथा है -

रामजी के राज्य में एक सेठ था। उसके पास अपार सम्पत्ति थी, परन्तु कोई सन्तान नहीं थी। पण्डितों से पूछा क्या दोष है? पण्डितों ने कुण्डली देखकर कहा, 'तुम्हारे भाग्य में सात जन्म तक पुत्र नहीं है।' सेठ के उपाय पूछने पर पण्डितों ने विचार किया और कहा, 'देखो, हमारे राजा साक्षात् नारायण हैं और रानी महालक्ष्मी। उनको निमित्त मानकर एक मनौती मान लो तो शायद पुत्र हो जाए।' पण्डितों के बताए अनुसार सेठ ने मन में संकल्प किया, 'यदि

हमारे पुत्र हो जाए तो मैं अपने राजा और रानी को साक्षात् नारायण-लक्ष्मी मानकर उनका विधिवत पूजन करके भोजन कराऊँगा और बहुत सत्कार करूँगा।

एक वर्ष के भीतर सेठ के घर पुत्र उत्पन्न हो गया। तब वह रामजी के पास गया और कहा, 'आप दोनों हमारे घर पर निमन्त्रण स्वीकार करें क्योंकि यह धर्म की बात है। आप नहीं जाएँगे तो हमारा धर्म टूटेगा।' भगवान् राम ने कहा, 'हम अवश्य चलेंगे।' दोनों सेठ के घर गए। सेठ ने बहुत सत्कार किया, पूजन किया, भोजन कराया और चलते समय एक स्वर्ण के थाल में रत्न भरकर भगवान् के सामने ले आया और कहा, 'भगवन्, यह मेरी तरफ से उपहार है।' भगवान् ने कहा, 'हमने इसे स्वीकार किया, आप इसको ब्राह्मणों में बाँट देना।' अब सेठ जिस ब्राह्मण के पास जाए वही ब्राह्मण कहे, 'सेठ, तू पागल हो गया है! तूने राजा को दान दिया, यह राजा की सम्पत्ति है, हम इसको नहीं लेंगे।' इस प्रकार सेठ ने वर्ष भर प्रयास किया, परन्तु किसी भी ब्राह्मण ने उसे स्वीकार नहीं किया।

फिर वह सेठ भगवान् के पास गया और सब कह सुनाया। भगवान् ने कहा, 'अच्छी सूचना दी। मुझे निश्चय हो गया कि मेरे राज्य में कोई भी ब्राह्मण लोभ से प्रवृत्त होनेवाला नहीं है। अब इन रत्नों को गरीबों में बाँट दो।' सेठ साल भर रत्नों को लेकर गरीबों के मुहल्ले में घूमा। लोग हँसते और कहते, 'सेठ, तुम पागल हो गए हो! शास्त्र हमको दान लेने के लिए आज्ञा नहीं देता है, हम दान कैसे ले सकते हैं। हम तो परिश्रम करके जो मिलता है, वह लेते हैं और उसी से अपना जीवन चलाते हैं।' इस प्रकार रत्नों को लेने के लिए कोई भी तैयार नहीं हुआ।

फिर सेठ भगवान् के पास गया और कहा, 'भगवन्, कोई इसको लेता ही नहीं।' भगवान् ने कहा, 'अच्छी बात है, मुझे प्रसन्नता हुई कि हमारे राज्य में गरीब भी धर्म का उल्लंघन नहीं करते हैं। परन्तु एक बात है, बहुत लोगों को धन की जरूरत तो होती है पर वे समाज के डर से नहीं लेते। इसलिए तुम ऐसा करो इन रत्नों को अयोध्या के उत्तर दिशा के द्वार पर रख दो। वहाँ लोगों का आवागमन कम रहता है। एकान्त देखकर जिसको जरूरत होगी वह ले लेगा।' सेठ ने रत्नों को वहाँ रख दिया। बहुत दिन बीत गए, पर किसी ने रत्नों

को हाथ तक नहीं लगाया। इसको कहते हैं रामराज्य! जिसको नहीं छूना चाहिए व्यक्ति उसको नहीं छूएगा, भूखा भले ही मर जाए। वह सोचता है शरीर तो एक दिन छूटना ही है, खाएँगे तो भी छूटेगा और नहीं खाएँगे तो भी छूटेगा, हम अपना धर्म क्यों छोड़ें।

राजा से लेकर प्रजा तक सब पर धर्म का नियन्त्रण है। राजा प्रजा को अपने पुत्र के समान देखता है। ऐसे राज्य को ही रामराज्य कहते हैं।

जिज्ञासा :- भगवान् राम ने प्रजा के सन्तोष के लिए अपनी निर्दोष एवं परमभक्त पत्नी सीताजी को त्याग दिया था। प्रजासुख के लिए एक निर्दोष भक्त को बिना गलती के छोड़ देना क्या मर्यादा पुरुषोत्तम राम के लिए उचित है?

समाधान :- देखो, जब कहीं बाँध बनता है, रेलवे लाईन या सड़क बनती है तो कुछ गाँव उजाड़ दिए जाते हैं। एक गरीब व्यक्ति जो झोपड़ी बनाकर गाँव में रहता है उसे उस झोपड़ी का मुआवजा क्या सरकार दे सकती है! वह झोपड़ी मात्र से नहीं जी रहा है, वहाँ के लोगों से उसका जो सम्बन्ध बना है उससे उसका जीवन निर्वाह हो रहा है। बाहर कहीं पर उसे जगह मिल जाए तो भी उसे बहुत परेशानी होगी, इसलिए गाँव उजड़ने पर बहुत लोग दुःखी होते हैं। फिर भी इसे हम खराब नहीं कहते क्योंकि व्यापक हित के लिए थोड़े लोगों को तो कष्ट सहना ही पड़ता है। नीति-शास्त्र में कहा है - परिवार के सुख के लिए एक व्यक्ति का त्याग करना पड़े तो कर देना चाहिए। यदि एक परिवार के त्याग से गाँव सुखी होता है तो उस त्याग में दोष नहीं। यदि एक गाँव को हटाने से पूरा राज्य सुखी होता है तो राजा को मोह किए बिना उस गाँव का त्याग कर देना चाहिए।

रामजी अवध देश के राजा थे। पूरे राज्य की प्रजा को सुखी करने के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करना उनका कर्तव्य था। इसी दृष्टि से उन्होंने अपनी निर्दोष और प्रिय पत्नी का परित्याग किया, क्रोध से या अन्यायपूर्वक नहीं। दूसरी बात, आज भी लोग अपने बच्चों से प्रेम होने पर भी उनको पढ़ने के

लिए दूर विद्यालय के छात्रावास में रख देते हैं, जिससे उनका जीवन सुधर जाए। रामजी सर्वज्ञ थे, वे जानते थे कि हमारे उत्पन्न होनेवाले पुत्र ऋषि-आश्रम में रहकर उत्कृष्ट संस्कार प्राप्त करेंगे।

हमारे सामने जानकी के जीवन का आदर्श और सर्वोत्कृष्ट भाग भी वही है। ऐसी स्थिति में भी राम के प्रति उनकी पूर्ण निष्ठा बनी रही और लव-कुश का पालन उन्होंने इतने अच्छे प्रकार से किया कि उन दो बच्चों से रामजी की पूरी सेना भी हार गई। जब सीताजी को कभी प्रतीत नहीं हुआ कि उनके साथ अन्याय हुआ है तो आपको ऐसा क्यों लग रहा है?

जिज्ञासा :- व्यक्ति शास्त्र-स्वभाववाला कैसे बने?

समाधान :- व्यक्ति को पहले अपने हृदय की बात मानना चाहिए। मनुस्मृति में इस विषय में कहा है -

वेदःस्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ (२.१२)

वेद जो कहता है वह करो अन्यथा मनमुखी हो जाओगे। तुम्हारा मन पूर्वसंस्कारों से बना हुआ है जिसमें रजोगुण और तमोगुण भी हैं। उसका कहना मानोगे तो वह तुमको पता नहीं कहाँ ले जाएगा!

पर समस्या यह है कि वेद तो सभी पढ़ते नहीं हैं, पढ़ भी लें तो उनका निर्णय करना कठिन है - **श्रुतयो विभिन्नाः।** फिर धर्म का पालन कैसे होगा? इस समस्या के समाधान के लिए वेद के सार को लेकर स्मृतिकारों ने एक ढाँचा बनाया। व्यक्ति जब उस ढाँचे में ढलता है, स्मृति के अनुसार आचरण करता है तो वेद का तत्त्व उसके जीवन में स्वतः आ जाता है। समय पर उठना, समय पर स्नान करना, माता-पिता को प्रणाम करना, ऐसा आचरण करते-करते **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव...** (तैत्ति. उप.-१.११.२) माता-पिता में देवत्व दिखाई देगा। ढाँचा भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है, परन्तु प्राण एक ही है।

प्रश्न हो सकता है कि सभी लोगों को स्मृतियों का ज्ञान भी नहीं है

और अलग-अलग ऋषियों द्वारा प्रणीत स्मृतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं, किसकी बात मानें- **नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।** एक कहता है हमारा मत ठीक है तो दूसरा कहता है कि हमारा। इससे सामान्य लोग बड़ी कठिनाई में पड़ जाते हैं। अब धर्म का पालन कैसे करें? इसके उत्तर में कहा - **सदाचारः।** सज्जन लोग जैसा आचरण करते हैं उसी प्रकार का आचरण करें, तो धर्म का पालन हो जाएगा। परन्तु कलियुग में तो सज्जन-दुर्जन का निर्णय करना भी मुश्किल है।

तब कहा - **धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।** (महा. वन.-३.१३.११७) तुम्हारी हृदयगुफा में धर्म का तत्त्व रखा हुआ है, उसे पढ़ लो। मनुष्य किसी के साथ अन्याय कर रहा है तो वह जानता है कि मैं अन्याय कर रहा हूँ अन्यथा वह छिपाता क्यों? झूठ बोलनेवाले को भी ज्ञान है कि झूठ बोलना अपराध है। मनुष्य के हृदय में भगवान् ने ऐसा ज्ञान रखा है कि वह झूठ बोले भले ही पर जानता है कि झूठ नहीं बोलना चाहिए। झूठ किसी को प्रिय नहीं है, सत्य ही प्रिय है। सत्य बोलना हमारा स्वभाव है, वही धर्म है। इसलिए शास्त्र कहता है - सत्य बोलो। हमारा शास्त्र हमारे ऊपर कोई नई वस्तु नहीं थोपता, हमारे स्वभाव को ही प्रकट करता है।

जिज्ञासा :- जीवन में सचाई को कैसे स्वीकार करें?

समाधान :- साधक को अपने जीवन में सचाई स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना जगत् में तो काम चल सकता है परन्तु परमार्थ में काम चलनेवाला नहीं है। आजकल जगत् में सचाई ढँकती जा रही है और दिखावा अधिक हो रहा है। जैसे, कपड़ा सूत से बना है, उसमें रंगबिरंगे फूल भी दिखाई दे रहे हैं। पर वहाँ सूत ही सच्चा है क्योंकि उसके बिना कपड़ा नहीं बन सकता। फिर भी रोज देखते हैं कि लोग रंगबिरंगे कपड़ों की ओर ही आकर्षित होते हैं क्योंकि दृष्टि माया पर है, रंग पर है सूत पर नहीं। आज विज्ञान ने गुलाब का फूल बनाया है परन्तु सुगन्धि कहाँ गई? **माया के विकास से सचाई ढँकती जा रही है।**

जिसने इस शरीर का निर्माण किया है, जो हमारी श्वासों को चला रहा है उससे बढ़कर हमारा सम्बन्धी या हितैषी कौन हो सकता है! यही सचाई

है। साधक जब जीवन में इसे स्वीकार कर लेता है तब उसका जीवन कर्तव्य-प्रधान हो जाता है, उसका आधार ईश्वर हो जाता है और अन्त में उसी की विजय भी होती है।

साधक को परमात्मा के नाम का जप करते रहना चाहिए। चौबीस घण्टे में क्या-क्या किया, प्रतिदिन सोने के पूर्व परमात्मा के सामने उसका हिसाब रखे। हिसाब कितना भी कमजोर क्यों न हो, फिर भी निवेदन करे। छान्दोग्योपनिषद् में कथा आती है कि नारदजी सनत्कुमारजी के पास जाकर बोले, 'भगवन्! मुझे ब्रह्मतत्त्व का उपदेश कीजिए।' सनत्कुमार जी ने कहा, 'अच्छा, यह बताओ कि आप क्या-क्या जानते हो?' तब नारदजी ने कहा, 'मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, नक्षत्रविद्या (ज्योतिष), भूतविद्या, तन्त्रविद्या इत्यादि जानता हूँ।' सनत्कुमारजी ने कहा आप तो सबकुछ जानते हैं फिर मैं क्या उपदेश करूँ? नारदजी ने कहा, 'भगवन्! मैंने सुना है कि जिसको आत्मज्ञान हो जाता है उसको शोक-मोह इत्यादि नहीं होते हैं। पर, मुझे तो होते हैं। इसको मतलब अभी मुझे आत्मज्ञान नहीं हुआ है।' देखो, इसे कहते हैं सचाई स्वीकार करना।

एक बहुत प्रसिद्ध कथाकार हैं, जिनके लाखों शिष्य हैं। एक दिन वे एक विरक्त महात्मा से एकान्त में मिले और कहा, 'महाराज! हमारा प्रचार-प्रसार तो बहुत अधिक हो गया पर मन में शान्ति नहीं है। इसके लिए कोई उपाय बताइए?' विरक्त महात्मा ने कहा - 'देखिए, आपने अभी तक जो कुछ भी किया है वह अशान्ति का ही उपाय है, शान्ति का नहीं। अब मैं आपको शान्ति का उपाय कहाँ से बताऊँ!' भाष्यकार भगवान् कहते हैं -

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।

वैदुष्यं विदुषां तद्वद् भुक्तये न तु मुक्तये॥ (विवेकचूडामणि-६०)

किसी व्यक्ति की वाणी में ऐसा सामर्थ्य होता है कि वह शब्दों की झड़ी लगा देता है, दुनिया को आकर्षित कर लेता है। उसके अन्दर शास्त्र वाक्यों का अर्थ करने की अतिकुशलता है। परन्तु ऐसे विद्वानों की विद्वत्ता भोग के लिए हो सकती है, मोक्ष के लिए नहीं। चमत्कार, ऐश्वर्य भोग के लिए सहायक हो सकते

हैं पर परमार्थ के लिए तो बाधक ही हैं। परमार्थ में यदि किसी को आगे बढ़ना है तो उसको सचाई स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि परमेश्वर का आश्रय लिये बिना मैं आगे नहीं बढ़ सकता। जो आदत बिगड़ी है उसको सुधारना ही पड़ेगा, निन्दा-स्तुति करने की आदत छोड़नी पड़ेगी। इसके लिए सन्तों के पास बैठना पड़ेगा, सत्संग सुनना पड़ेगा, तभी जीवन में सचाई स्वीकार करने का सामर्थ्य आएगा।

जिज्ञासा :- सत्यानृते मिथुनीकृत्य प्रवर्ततेऽयं लोकव्यवहारः। (ब्र.सू. अध्यासभाष्य) यहाँ कहा कि सत्य और झूठ को मिलाकर जो किया जाता है उसे ही लोकव्यवहार कहते हैं। फिर कहते हैं सत्य बोलो, यह कैसे सम्भव होगा?

समाधान :- व्यवहार झूठ और सच मिलाकर ही चलता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यवहार में झूठ बोलना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि जैसे वास्तव में आप शरीर नहीं हैं पर व्यवहार में बोलना पड़ता है कि मैं देवदत्त हूँ, यशदत्त हूँ इत्यादि इत्यादि। यही सत्य और झूठ को मिलाना है कि मैं का अर्थ शरीर न होने पर भी समस्त व्यवहार 'मैं शरीर हूँ' इसी को लेकर चल रहा है। इस भाष्य-पंक्ति का कोई दूसरा अर्थ नहीं लेना चाहिए।

जिज्ञासा :- जीवन में सत्य बोलने का क्या महत्व है?

समाधान :- जीवन में सत्य बोलने का बहुत बड़ा महत्व है। पहले विद्यार्थी पढ़ने के लिए गुरुकुल में जाता था तो अध्ययन पूर्ण होने पर समावर्तन-संस्कार के बाद गुरु पहला उपदेश यही देता था - सत्यं वद (तैत्ति. उप.-१.११.१)। वाणी का इतना बड़ा महत्व था। फिर कहता था - धर्मं चर (तैत्ति. उप.-१.११.१)। यद्यपि धर्माचरण के अन्दर सत्य बोलना भी आ जाता है, फिर भी सत्य का महत्व दिखाने के लिए श्रुति ने सत्यं वद यह अलग से कहा।

गोस्वामीजी ने भी कहा है - न हि असत्यं सम पातकं पुंजा। गिरि सम होइ कि कोटिकं गुंजा॥ (मानस, अयोध्या.-२७.३) देखिए, सत्य का कितना बड़ा महत्व है। संसार के जितने भी पाप हैं सब मिलाकर असत्य के एक अंश के बराबर भी नहीं हो सकते। भारतीय परम्परा में आदर्श देखिए, पिता की एक वाणी के लिए रामजी वन में चले जाते हैं। युधिष्ठिर की वाणी के लिए पाण्डव वन में चले जाते हैं। जो सत्य नहीं बोल सकता वह चाहे कितना भी यज्ञ करे, धर्म करे, उसको स्वर्ग भी नहीं मिल सकता। फिर उसे मोक्ष कहाँ से मिलेगा!

जिज्ञासा :- रुद्राक्ष को भगवान् ने क्यों बनाया? इसके क्या-क्या लक्षण हैं? इसे धारण करने की विधि और इसका महत्व क्या है?

समाधान :- परमेश्वर की कृपाशक्ति ने संसार में ऐसी-ऐसी वस्तुओं को प्रकट करके रखा है जो जीवों के कल्याण का हेतु बनती हैं। उन्हीं में एक रुद्राक्ष भी है। एक बार कृपाशक्ति-संवलित महादेव जीवों के लिए कल्याण के लिए एक हजार दिव्य वर्षों तक समाधि में बैठे रहे। समाधि से उठकर जीवों की पीड़ा को देखकर एक स्थान पर बैठकर उन्होंने सोचा - अहो! इन जीवों ने इतना कष्ट पाया। उस समय उनके नेत्रों से अश्रु गिर गए। वे अश्रु मूर्तिमान् होकर उनके समक्ष खड़े हो गए और बोले, 'भगवन्! हमारी उत्पत्ति किस निमित्त से हुई है?' तब भगवान् ने कहा, 'तुम लोग जीवों के कल्याण के निमित्त वृक्ष बनकर पृथ्वी पर रहो, तुम्हारा नाम रुद्राक्ष होगा। जो व्यक्ति रुद्राक्ष को धारण करेंगे उनका न्याय मेरे दरबार में होगा। उनको यमदूत नरक में नहीं ले जा सकेंगे। उनकी कभी दुर्गति नहीं होगी।'

रुद्राक्ष के विषय में १ मुख से लेकर १४ मुख तक का शास्त्र में वर्णन आता है। उनके धारण करने के अलग-अलग मन्त्र हैं एवं शास्त्र में अलग-अलग फल भी बताया है। रुद्राक्ष धारण करनेवाले व्यक्ति के लिए कुछ वस्तुओं का त्याग बताया है -

मद्यं मांसं तु लशुनं पलाण्डुं शिगुमेव च।

श्लेष्मान्तकं विड्वराहं भक्षणे वर्जयेत् ततः॥

(शि.पु. विद्ये.सं.-२५.४३)

'शराब, मांस, लहसुन, प्याज, सहजन, लसोड़ा और विड्वराह का भक्षण रुद्राक्ष धारण करनेवालों को नहीं करना चाहिए।'

रुद्राक्ष में भी चार प्रकार की जातियाँ हैं - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। एक बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए कि नियमपूर्वक रुद्राक्ष धारण करनेवाले व्यक्ति की कभी दुर्गति नहीं हो सकती है। रुद्राक्ष के विषय में विशेष जानना हो तो शिवपुराण की विद्येश्वर संहिता के २५वें अध्याय में देख सकते हैं।

जिज्ञासा :- ब्राह्मण को नित्य किसका स्वाध्याय करना चाहिए?

समाधान :- ब्राह्मण ने यदि वेद पढ़ा है तो उसे उसका ही स्वाध्याय करना चाहिए। स्वाध्याय का अर्थ जप भी होता है, इसलिए उसे गायत्री मन्त्र का विधिपूर्वक यथाशक्ति प्रतिदिन जप करना चाहिए। उसी से उसे सिद्धि प्राप्त हो जाएगी। 'जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।' (मनु.-२.८७) अतः ब्राह्मण को पूर्ण निष्ठा से गायत्री मन्त्र का अनुष्ठान करना चाहिए। चलते-फिरते किसी भी समय भगवन्नाम का चिन्तन करना चाहिए जिससे जगत् का प्रभाव उसपर न पड़े। उसे अन्तरंगरूप से भी अर्थानुसन्धानपूर्वक गायत्री मन्त्र का जप करना चाहिए क्योंकि ब्राह्मण शरीर तपस्या के लिए ही होता है, भोग के लिए नहीं।

जिज्ञासा :- गो-सेवा का क्या महत्व है?

समाधान :- शास्त्र कहता है तैत्तीस कोटि देवता गौ में निवास करते हैं। यदि कोई सचाई से गो-सेवा कर ले, तो निश्चित ही तैत्तीस कोटि देवताओं को प्रसन्न कर सकता है। कई वर्ष पहले मैंने जंगल के एक अनपढ़ व्यक्ति को देखा। उसका चेहरा देखकर ऐसा लगता था मानो इसके अन्दर कोई विशेष ज्ञान और आनन्द प्रकट हो गया है। मैं उससे बात करने लगा तो देखा बड़ी ज्ञान की

बातें करता है। मैंने पूछा, 'अरे भई! यह ज्ञान तुमने कहाँ से प्राप्त किया?'

उसने उत्तर दिया, 'एक महात्मा ने मुझसे कहा था कि गोसेवा करो, उसी से तुम्हें सबकुछ मिल जाएगा। मैं विचार करता रहा कि ठीक से गो-सेवा कैसे करूँ? विचारकर मैंने पहले प्रतिज्ञा ली कि आज से दूध, दही और घी नहीं खाऊँगा। फिर कुछ गायों को लेकर जंगल में चला गया। वे जिधर जाना चाहें उधर ले जाता, उन्हें चराता और रात भर जागता। जब वे गोबर करतीं तो मैं तुरन्त फेंक देता, उनके बैठने का स्थान हमेशा स्वच्छ रखता। उनको कैसे सुख मिले यही मेरा एक चिन्तन चलता था। दूध निकालता नहीं था क्योंकि पीना ही नहीं था। इस प्रकार कुछ वर्ष गो-सेवा करने से मुझे यह सब मिला है।' देखो, गो-सेवा करने से इतना बड़ा फल मिल सकता है यदि वह सचाई से की जाए तो।

जिज्ञासा :- पराया अन्न खाना चाहिए अथवा नहीं?

समाधान :- भगवान् ही हमारे माता-पिता हैं, सारी सृष्टि भगवान् की है तो पराया अन्न कहाँ हुआ! जिसकी ऐसी दृष्टि है उसके लिए पराए अन्न का निषेध नहीं है। इसी प्रकार संन्यासी के लिए भी कोई अन्न पराया नहीं है क्योंकि भिक्षा का उसे अधिकार है। शास्त्र विहित होने से भिक्षात्र उसके लिए पराया नहीं है। पर जिसकी दृष्टि ऐसी नहीं है कि सब कुछ भगवान् का है उसके लिए तो शास्त्र विधान करता है कि पराया अन्न न खाए।

जिज्ञासा :- गोधूलि-स्नान क्या है?

समाधान :- पहले सभी लोगों के घरों में गायें हुआ करती थीं। उनको चरने के लिए जंगल भेजते थे। शाम के समय सभी गायें एक झुण्ड के रूप में वापिस गाँव आती थीं, उस समय उनके पैरों के खुरों से बहुत धूल उड़ती थी, उस धूल में खड़े होकर मन्त्र जप कर लेने से ही एक प्रकार का स्नान हो जाता था। इसी को कहते हैं - गोधूलि-स्नान।

जिज्ञासा :- प्रातःकाल उठकर सर्वप्रथम क्या करना चाहिए?

समाधान :- प्रातःकाल उठकर सर्वप्रथम हाथ-मुँह धोकर सावधान होकर बैठ जाओ। पहले सहस्रार (मस्तक) में गुरुचरणों का ध्यान करके उन्हें प्रणाम करो, फिर हृदय में देवता का ध्यान करो। इसके बाद देवता से प्रार्थना करो कि आप मुझे ज्ञान और शक्ति दीजिये जिससे आज दिनभर मैं शास्त्रानुसार अपने कर्तव्यों को कर सकूँ। फिर शौच-स्नान आदि सम्पन्न करके माता-पिता और अन्य बड़ों को प्रणाम करना चाहिए। तदुपरान्त वैदिक सन्ध्या करके देवता-पूजन और प्रणाम करें। इसके बाद अपने अन्य दैनिक कार्यों में प्रवृत्त होना चाहिए।

जिज्ञासा :- मानवता और सत्य को अपनाना ठीक है या कर्मकाण्डरूपी आडम्बरवाद को?

समाधान :- मानवता और सत्य तो जीवन में आवश्यक हैं ही। अपनी परम्परा में तो मानवता जिसमें है उसी की मनुष्य-संज्ञा होती है। मानवता अर्थात् धर्म। धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः। (हितोपदेश) धर्मरहित व्यक्ति मनुष्य जैसा दीखता है पर वस्तुतः वह पशु ही है।

मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छति वानरः।

श्रुतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छति वै नरः॥ (श्लोक वार्तिक)

अपनी बुद्धि की अनुकूलता के अनुसार आप चलते हैं तो अभी आपके मनुष्य होने में संशय है। शास्त्र और अपनी अन्तरात्मा के अनुसार यदि चलते हैं तो आप मनुष्य हैं। आपका हृदय कहता है कि सत्य बोलो पर मन में लोभ आने से आप झूठ बोल देते हैं, तो आपमें मानवता कहाँ रही! सत्य और मानवता यही तो वास्तविक धर्म है। तुलसीदासजी कहते हैं - सत्य के समान कोई धर्म नहीं और असत्य के समान कोई पाप नहीं।

नहि असत्य सम

पातक पुंजा।

गिरि सम होहि कि कोटिक गुंजा॥ (मानस, अयोध्या. - २७.३)

आडम्बरवाद को शास्त्र कभी ठीक नहीं कहता। आडम्बर अर्थात् अन्दर से कुछ और बाहर से कुछ और। आडम्बर को शास्त्र कभी प्रतिपादित नहीं करता। मानवता और सत्य तो जीवन में होने ही चाहिए। शास्त्रीय कर्मकाण्ड आडम्बरमात्र

नहीं है। इसके अनुष्ठान का भी परमार्थ में अपना महत्व है। इसकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए, चित्तशुद्धि में इसका उपयोग होता है। दिखावे के लिए शास्त्रीय कर्म न करके सत्यतापूर्वक उन्हें किया जाए तो परमार्थ में लाभ होता ही है।

जिज्ञासा :- भौतिक लाभार्थ किए गए जपादि से लाभ होता है क्या?

समाधान :- यदि शास्त्रीय विधिपूर्वक सम्यक् प्रकार से जपादि किए जाएँ और इतने किए जाएँ कि प्रतिबन्ध से ज्यादा हों तो अवश्य लाभ होगा। जैसे जमीन में पचास फीट नीचे पानी है और आप दस फीट तक खोदकर रुक गये तो पानी कैसे मिलेगा! पचास फीट तक मिट्टीरूप जो प्रतिबन्ध है उससे ज्यादा पुरुषार्थ करें तो पानी मिलेगा। कहीं पानी बहुत गहराई पर है तो वहाँ बहुत बड़ा पुरुषार्थ भी करना पड़ेगा। इसी प्रकार कर्मकाण्ड में भी प्रतिबन्ध से अधिक पुरुषार्थ विधिपूर्वक करने पर लाभ अवश्य होता है।

जिज्ञासा :- आजकल धार्मिक आयोजन बिना शास्त्रविधि के भी किए जाते हैं। क्या उनका विरोध करना चाहिए?

समाधान :- यदि कोई व्यक्ति किसी भी माध्यम से लोगों के दुर्गुणों को छुड़ा रहा है और उनको सन्मार्ग में लगा रहा है, तो उसकी सीधी आलोचना हम नहीं कर सकते। उसके कार्यों से यदि लोगों के जीवन में सुधार होता है तो वह उपकार ही कर रहा है। जैसे शास्त्रीय विधि से अश्वमेध-यज्ञ करना आजकल सम्भव ही नहीं है। पर आजकल भी कुछ संस्थाएँ अश्वमेध-यज्ञ का आयोजन करती हैं जिसमें बहुत लोग भाग लेते हैं और अपने व्यसनों का त्याग करते हैं तो वह व्यावहारिक है, उसका विरोध हम नहीं करते। परन्तु शास्त्रीय अश्वमेध-यज्ञ से एक अदृष्ट (पुण्य) बनता है जो यजमान को ब्रह्मलोक ले जाता है। शास्त्रविधि को छोड़कर मनमानी करने पर वह अदृष्ट नहीं बनता, इतना अन्तर है। साथ ही शास्त्रीय विधि से विपरीत होने पर कर्ता को प्रत्यवाय भी लग सकता है। हाँ, समाज-सुधार के लिए कोई आयोजन करता है तो हमारा उससे विरोध नहीं है।

जिज्ञासा :- धर्म की पहचान कैसे करनी चाहिए?

समाधान :- धर्म की पहचान करने की कोई आवश्यकता नहीं, उसका पालन करने की आवश्यकता है। धर्म तो आपके हृदय में बैठा है। 'आत्मनः प्रतिकूलानि णे' , समाचरेत्'। (महाभारत) दूसरों का जो-जो व्यवहार अपने को अच्छा नहीं लगता है वैसा व्यवहार दूसरों से नहीं करना चाहिए। कोई हमारी निन्दा करता है तो हमें वह अच्छा नहीं लगता, अतः दूसरे की निन्दा कभी न करें। दूसरे का झूठ बोलना हमें अच्छा नहीं लगता है तो स्वयं भी झूठ न बोलें। हमारी गलती को दूसरा कोई क्षमा कर देता है तो हमें वह अच्छा लगता है। अन्य कोई गलती करे तो हमें भी उसको क्षमा कर देना चाहिए। कोई हमें आदर देता है तो अच्छा लगता है, इसलिए दूसरे को आदर देना चाहिए। धर्म का लक्षण स्पष्ट है, जो आपका सहज स्वभाव है उसी का नाम धर्म है। दूसरों का जो व्यवहार हमें नहीं पचता ऐसा व्यवहार कभी नहीं करेंगे, इस वृत्ति को आप धारण कर लेंगे तो आपको धर्म भी समझ में आ जाएगा और शास्त्र भी।

जिज्ञासा :- धर्म-पालन के लिए क्या कोई विशेष वेश धारण करना आवश्यक है?

समाधान :- धर्म के लिए शास्त्राज्ञा का पालन जरूरी है। वेश तो जहाँ भी रहेंगे, वहाँ कुछ-न-कुछ रहेगा ही। पर वेश धर्म का द्योतक नहीं है। सचाई से धर्म का पालन करना ही महत्वपूर्ण है।

जिज्ञासा :- यज्ञोपवीत (उपनयन) संस्कार का महत्व क्या है? इस संस्कार के समय गायत्री मन्त्र का ही उपदेश क्यों करते हैं?

समाधान :- बहुत-सी बातें ऐसी हैं जिन्हें हम शास्त्र से ही जान सकते हैं, बुद्धि से नहीं। जैसे स्वर्गलोक, ईश्वर, पितृलोक आदि के अस्तित्व के विषय में शास्त्र ही प्रमाण है। स्वर्गप्राप्ति का यह साधन है, पितरों को प्रसन्न करने का अमुक साधन है, इन सब बातों को शास्त्र ही बताता है। अज्ञातज्ञापकं शास्त्रम् - जो विषय आप प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से नहीं जान सकते, उसी

को शास्त्र बताता है। पैसा कमाने के लिए या जगत् के भोग प्राप्त करने के लिए शास्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। पशु-पक्षी भी अपने-अपने व्यवहार में प्रत्यक्ष और अनुमान से सारे काम कर लेते हैं। पर यदि आप मनुष्य-योनि से ऊपर उठना चाहते हैं, देवता बनना चाहते हैं या उससे भी ऊपर आत्मज्ञान की इच्छा रखते हैं तो ये सब बिना शास्त्र के सम्भव नहीं है।

कोई यदि कहे कि एकादशी को ही उपवास क्यों करें? किसी भी दिन कर सकते हैं, तो यह बात ठीक नहीं। शास्त्र के अनुसार व्रत करोगे तभी उसका अदृष्ट बनेगा, विशेष फल होगा। इसी प्रकार शास्त्र कहता है कि ब्राह्मण का बालक पाँच वर्ष का हो जाए तो उसे विद्याध्ययन के लिए गुरुकुल भेज देना चाहिए, उसका उपनयन संस्कार करा देना चाहिए। पाँच वर्ष में सम्भव न हो तो आठवें वर्ष में भेज दे और यदि सोलह वर्ष तक नहीं भेजा तो उस बालक का ब्राह्मणत्व ही समाप्त हो जाएगा, उसकी ब्रातृ संज्ञा हो जाएगी। किसी शास्त्रीय कर्म में उसका अधिकार नहीं रहेगा, ऐसा शास्त्र कहता है। इस बात को तुम प्रत्यक्ष या अनुमान से कैसे जानोगे? इसी प्रकार शास्त्र बताता है कि क्षत्रिय बालक का बीस वर्ष की आयु तक उपनयन नहीं हुआ तो वह ब्रातृ कहलाएगा और वैश्य बालक का चौबीस वर्ष की आयु तक उपनयन न होने पर उसकी ब्रातृ संज्ञा हो जाती है।

प्राचीन काल में बच्चे को पढ़ने के लिए गुरुकुल भेजा जाता था, वहाँ गुरु उसका एक संस्कार करता था उसी का नाम है - यज्ञोपवीत संस्कार। इस संस्कार में बालक को विधिपूर्वक सूत्र (जनेऊ) धारण कराया जाता था। उसके बाद उसे नित्यकर्म, सन्ध्योपासना आदि करना सिखाया जाता था और साथ ही गायत्री-मन्त्र का उपदेश दिया जाता था। यज्ञोपवीत बनाने की भी एक विधि होती है, उसे बनाने के लिए ९६ चावा (अंगुल) का शुद्ध सूत से बना एक त्रिवृत्त धागा लिया जाता है। वह धागा सूत को तकलियों से कातकर कुँवारी कन्या बनाती है। ९६ चावा का धागा इस बात का प्रतीक होता है कि चारों वेदों का अधिकार इस बालक को प्राप्त हो गया। वेद में ८०,००० मन्त्र कर्म-विषयक, १६,००० मन्त्र उपासना विषयक तथा ४,००० मन्त्र तत्त्वज्ञान विषयक

हैं। कर्म और उपासना सम्बन्धी सभी ९६,००० मन्त्रों का अधिकार उसे प्राप्त हो जाता है, यही इस धागे का वैज्ञानिक महत्व है।

फिर वह बालक गुरुकुल में ही रहकर गुरुसेवा, वेदाध्ययन और गायत्री-मन्त्र का जप करता था। गायत्री-उपासना एक सार्वभौम उपासना है। एक व्यक्ति गायत्री जप करता है, पर उसका प्रभाव समष्टि पर पड़ता है। नः धियः प्रचोदयात् - यहाँ बहुवचन है। इसका तात्पर्य है- हे परमात्मा! हम सभी की बुद्धिवृत्तियों को सन्मार्ग में प्रेरित करो।

आपने पूछा कि दूसरा मन्त्र क्यों नहीं देते? अरे! शास्त्र गायत्री की महिमा बताता है, शास्त्र पढ़ो तो मालूम पड़े कि गायत्री की उत्पत्ति कैसे हुई! सम्पूर्ण वेदों का सार गायत्री है ऐसा शास्त्र में कहा गया है। इसे वेदमाता भी कहते हैं। विद्यार्थी के लिए इसके समान लाभदायक दूसरी उपासना नहीं है। यह बुद्धि को शुद्ध करती है, यदि व्यक्ति की बुद्धि ही शुद्ध नहीं है तो उसका सब कुछ व्यर्थ है। बुद्धिनाशात् प्रणश्यति - गीता में भगवान् ने भी कह दिया कि व्यक्ति की बुद्धि नष्ट हो गयी तो वह पुरुषार्थ ही नहीं कर पाएगा, उसका पूरा जीवन व्यर्थ हो जाएगा। बालक यदि गायत्री उपासना करता है तो उसकी बुद्धि मर्यादित रहेगी, न्याययुक्त रहेगी। अतः गायत्री का जीवन में बड़ा महत्व है।

जिज्ञासा :- कोई व्यक्ति नर्मदा में आत्महत्या करे तो उसे मुक्ति मिलेगी या नहीं?

समाधान :- देखिये, आत्महत्या करने से मुक्ति नहीं मिलती। मुक्ति तो ज्ञान और भक्ति से मिलती है। आत्महत्या से तो अभी तक किसी की मुक्ति सुनी नहीं। परन्तु किन्हीं विशेष परिस्थितियों में नर्मदा में शरीर छोड़ देने का विधान शास्त्र में मिलता है। यदि किसी व्यक्ति के शरीर में कोई असाध्य रोग हो जाए तो वह पहले नर्मदा में स्नान करके नर्मदा से प्रार्थना करे और फिर अनशन-व्रत करे। अन्न-जल छोड़ दे या केवल थोड़ा-सा नर्मदा-जल लेता रहे। नर्मदा को अपना अभिप्राय बता दे। यदि नर्मदा की आज्ञा मिल जाए तो उसी समय शरीर छोड़ सकता है अन्यथा अनशन करते-करते कुछ काल पश्चात् शरीर छूट जाएगा

और लोग उसे नर्मदा में प्रवाहित कर देंगे तो नरकादि फल नहीं मिलेगा, अपितु दिव्य लोकों की प्राप्ति होगी। परन्तु ऐसा करने पर भी मुक्ति नहीं होगी।

इसी प्रकार ओंकारेश्वर में भृगुपतन नाम का एक पहाड़ है, उसके ऊपर से नर्मदा की आज्ञा लेकर नर्मदा में कूदकर शरीर छोड़ने का विधान शास्त्र में मिलता है। परन्तु यह सब विशेष परिस्थितियों के लिए है। सामान्य परिस्थिति में तो आत्महत्या को शास्त्र में बहुत बड़ा अपराध माना गया है। मनुष्य शरीर ही तो साधन है। कोई चाहे मुक्त हुआ हो चाहे वैकुण्ठ या कैलास गया हो, इसी शरीर में पुरुषार्थ करके गया है। यह शरीर ही नहीं रहेगा, मरकर पशु-पत्थर बन जाओगे, तब क्या पुरुषार्थ होगा? ऐसे मनुष्य-शरीर को स्वयं समाप्त कर रहे हो तो कितना बड़ा अपराध कर रहे हो, यह स्वयं ही सोच लो।

जिज्ञासा :- क्या पति-पत्नी एक ही जगह से दीक्षा ले सकते हैं?

समाधान :- जहाँ से पति ने दीक्षा ली है, पत्नी भी वहीं से दीक्षा ले सकती है। उसे स्वतन्त्ररूप से गुरु बनाने का अधिकार नहीं है। पति की आज्ञा से पति के साथ उसकी दीक्षा एक ही गुरु से हो सकती है। अब यदि कहो कि वे तो परस्पर गुरुभाई-गुरुबहन हो गए, फिर व्यवहार कैसे चलेगा? इस विषय में शास्त्र ने निर्णय दिया है कि दीक्षा के बाद जो साधक-शरीर होता है वह इस व्यावहारिक शरीर से पृथक् होता है, उसका इस व्यावहारिक शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका पति-पत्नी का सम्बन्ध व्यावहारिक शरीर से है और साधक-शरीर अलग है। अतः उनके व्यवहार में किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं होगा।

देवपूजन तथा कर्मकाण्ड

जिज्ञासा :- शिवकवच के महत्व के विषय में कृपया कुछ बताइए।

समाधान :- जिसको आप शिवकवच कह रहे हैं उसका पूरा नाम अमोघ शिवकवच है। उसमें दो भाग हैं - पहला पद्यात्मक और दूसरा गद्यात्मक। इनमें से पद्यात्मक भाग सभी पुस्तकों में समानरूप से मिलता है, परन्तु गद्यात्मक भाग में पाठभेद मिलता है। इस कवच के ऋषि ऋषभ हैं जो भगवान् शिव के अवतारों में से एक हैं। किसी-किसी परम्परा में ब्रह्माजी को भी इस कवच का ऋषि मानते हैं। इस कवच का बड़ा भारी महत्व है। इस विषय में एक कथानक आता है।

एक भद्रायु नामक राजकुमार और उसकी माता दोनों के शरीर में कोई विशेष व्याधि हो गई। राजा ने उन दोनों का परित्याग कर दिया। वे दोनों जंगल में गये जहाँ उन्हें ऋषभ ऋषि मिले। उन्होंने अपना कष्ट ऋषि को सुनाया। तब ऋषि ने कहा, 'मैं तुम्हें एक कवच देता हूँ, इसका पाठ करना, इससे आगे कोई कष्ट नहीं होगा।' ऋषि ने उनके शरीर में विभूति लगा दी जिससे उनका रोग चला गया। फिर कहा कि इसका नित्य पाठ करने से तुम्हारे शरीर में १२ हजार हाथियों का बल आ जाएगा। इसके पाठ का फल बड़ा अद्भुत है।

जिज्ञासा :- महादेव को बिल्वपत्र क्यों प्रिय है? इसे चढ़ाने की विधि क्या है? कितनी पत्तीवाले बिल्वपत्र का विशेष माहात्म्य है?

समाधान :- एक बार लक्ष्मीजी ने महादेव को प्रसन्न करने के लिए विन्ध्याचल पर्वत पर जाकर कठोर तपस्या की। जब बहुत काल के बाद भी महादेव प्रसन्न न हुए तो अन्त में उन्होंने भावाविष्ट होकर अपने स्तन को काटकर महादेव को चढ़ा दिया। महादेव प्रसन्न होकर प्रकट हो गए, उसी चढ़ाए गए स्तन से बिल्ववृक्ष उत्पन्न हुआ। महादेव ने कहा, 'मैं आपपर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। इस वृक्ष का एक नाम श्रीवृक्ष भी होगा। आज के बाद मेरी पूजा बिल्वपत्र के बिना पूर्ण नहीं होगी।' इसलिए बिल्वपत्र महादेव को अतिप्रिय है।

बिल्वपत्र को वृक्ष से निकालते समय टहनी का थोड़ा-सा भाग

(डण्डल) उस बिल्वपत्र से मिला रहता है जिसे वज्र कहते हैं। उस डण्डल के अन्दर तीन रेशे रहते हैं। जब उसका मुख खोलते हैं तब वे तीनों रेशे दिखाई देते हैं। इस मुख खोलने को ही वज्र हटाना कहते हैं। वज्र हटाकर ही बिल्वपत्र महादेव को चढ़ाना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो छिद्रयुक्त और कटे-फटे बिल्वपत्र महादेव को नहीं चढ़ाने चाहिए। परन्तु अच्छे पत्र न मिलने पर बिल्वपत्र का चूर्ण भी शिवलिङ्ग पर चढ़ाने का विधान है।

बिल्वपत्र को अधोमुख करके ही चढ़ाना चाहिए, बिल्वपत्रं अधोमुखम् - ऐसा शास्त्रों में विधान है। बिल्वपत्र को मन्त्रपूर्वक ही महादेव पर चढ़ाना चाहिए क्योंकि देवता से किसी भी वस्तु का सम्बन्ध मन्त्र द्वारा ही बनता है। वैसे तो बिल्वपत्र चढ़ाने का अलग से मन्त्र है, परन्तु यदि कोई उसे नहीं जानता है तो अपने गुरुमन्त्र से चढ़ा सकता है। यदि वह भी नहीं है तो नमः शिवाय मन्त्र से चढ़ा सकता है। संन्यासी के लिए तो प्रणव-मन्त्र से ही विधान है।

तीन पत्तीवाले बिल्वपत्र का ही महत्व है। चार-पाँच या उससे अधिक पत्तीवाले बिल्वपत्र दुर्लभ होने से उनका भी विशेष महत्व मानते हैं, पर तीन पत्तीयुक्त बिल्वपत्र का ही सर्वत्र विधान है।

जिज्ञासा :- मन्दिर में आरती होते समय बीच में ही अन्य लोगों के आगे जाकर क्या भगवान् को प्रणाम कर सकते हैं?

समाधान :- आरती के समय बीच में जाकर प्रणाम करने की विधि नहीं है। उस समय तो दूर से ही प्रणाम करे। अन्त में जाकर प्रणाम कर सकते हैं।

जिज्ञासा :- जपमाला का संस्कार कैसे किया जाता है? उसमें एक सौ आठ दाने ही क्यों होते हैं?

समाधान :- जपमाला के संस्कार में अक्षरमाला (वर्णमाला) का प्रयोग होता है। संस्कार में न्यास अक्षरों (वर्णों) का ही होता है। कुल चौवन मातृकाएँ (वर्ण) हैं। सोलह स्वर, तैंतीस व्यञ्जन, एक ल, एक जिह्वामूलीय, एक उपध्मानीय, एक क्ष और एक ङ, इस प्रकार इनकी कुल संख्या चौवन हो

जाती है। चौवन की अनुलोम और विलोम क्रम से गणना करने पर एक सौ आठ संख्या होती है, इसलिए जपमाला में १०८ दाने होते हैं। संस्कार प्रक्रिया में इन्हीं दानों में अनुलोम और विलोम क्रम से बीजसंयुक्त चौवन मातृकाओं का न्यास किया जाता है।

जिज्ञासा :- विद्वान् लोग कहते हैं कि सभी शास्त्रीय कर्म मन्त्रपूर्वक ही करने चाहिए, परन्तु विभिन्न कर्मों के लिए भिन्न-भिन्न मन्त्र हैं। सभी मन्त्र याद नहीं होते तो क्या करें?

समाधान :- यदि सभी मन्त्र याद नहीं हैं, तो कोई बात नहीं। गुरुमन्त्र से ही समस्त कार्य हो सकते हैं क्योंकि गुरुमन्त्र सर्वमन्त्रभूत है। परन्तु एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि पण्डित के द्वारा कोई कर्मकाण्ड करवाना है तब तो अलग-अलग विधान के अनुसार अलग-अलग मन्त्र बोलने ही पड़ेंगे।

जिज्ञासा :- दुर्गासप्तशती का पाठ करने का क्या विधान है?

समाधान :- कोई भी पाठ करते समय एक बात अवश्य ध्यान में रखें, उसका उच्चारण शुद्ध होना चाहिए। न तो ज्यादा जल्दी पाठ करें और न ही धीमी गति से, छन्द-भंग भी नहीं होना चाहिए। न तो बहुत उच्च स्वर में पाठ करें और न ही अधिक मन्द स्वर में। सप्तशती में तेरह अध्याय हैं, उनका अङ्गसहित पाठ करना चाहिए। तीन अङ्ग पहले हैं और तीन अङ्ग बाद में हैं। पहले तीन अङ्ग हैं-कवच, अर्गला और कीलक। बाद के तीन अङ्ग हैं - प्राधानिक रहस्य, वैकृतिक रहस्य और मूर्तिरहस्य। सप्तशती पाठ से पहले रात्रिसूक्त का पाठ और नवार्ण-मन्त्र का जप करना चाहिए। पाठ पूरा होने पर नवार्ण-मन्त्र जप और देवीसूक्त का पाठ करना चाहिए। यदि किसी कारण से कोई पूरा पाठ नहीं कर सकता तो केवल मध्यमचरित्र (दूसरा, तीसरा और चौथा अध्याय) का पाठ कर ले।

यदि इतना भी न कर सकें तो केवल स्तुति भाग का पाठ कर लें। प्रथम चरित्र में रात्रिसूक्त, मध्यमचरित्र में महिषान्तकरीसूक्त तथा उत्तरचरित्र में देवीसूक्त एवं नारायणीसूक्त, इन चार सूक्तों के पाठ का भी बड़ा महत्व है। अगर इतना भी न कर सकें तो केवल नवार्णमन्त्र का जप ही करें।

जिज्ञासा :- गंगोत्री का गंगाजल रामेश्वर में चढ़ाने की क्या विधि है और इसका क्या महत्व है?

समाधान :- गंगोत्री का जल रामेश्वर लिङ्ग पर चढ़ाने का शिव-सायुज्य मुक्तिरूपी फल शास्त्रों में बताया गया है। पर इसमें एक पारम्परिक विधान है कि वह जल नर्मदा नदी का उल्लंघन करके नहीं ले जाना चाहिए। यदि वह जल नर्मदा का उल्लंघन करता है तो उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। इस नियम का ध्यान रखते हुए व्यक्ति शिव-भक्तिपूर्वक गंगोत्री-गोमुख से रामेश्वर तक की यात्रा करे और जल चढ़ाए तो उसे शिव-सायुज्य प्राप्त होता है।

जिज्ञासा :- रुद्राष्टाध्यायी के चमकाध्याय में भगवान् से बहुत-सी वस्तुओं की माँग की गई है। ऐसे में क्या निष्काम व्यक्ति को रुद्राष्टाध्यायी से शिव-पूजन करना चाहिए?

समाधान :- निष्काम व्यक्ति भी रुद्राष्टाध्यायी से महादेव की अर्चना कर सकते हैं। कोई भी मन्त्र हो या पाठ, यह उसके विनियोग पर निर्भर करता है कि वह सकाम है या निष्काम। विरक्तों के लिए विशेष रूप से रुद्राष्टाध्यायी के पञ्चम अध्याय के पाठ का शास्त्र में विधान किया गया है। नमस्ते रुद्र मन्यव ...आदि पञ्चम अध्याय के ६६ मन्त्र और इसी अध्याय के कुछ मन्त्रों की पुनरावृत्ति एवं कुछ अन्य मन्त्र मिलाकर एक सौ मन्त्रों को शतरुद्रीय कहते हैं। कैवल्योपनिषद् में कहा गया है कि इस शतरुद्रीय से जो महादेव की नियमित अर्चना करता है उसे वैराग्यपूर्वक ज्ञानोद्भव हो जाता है क्योंकि इन मन्त्रों से

सीमित अहंता का समर्पण किया जाता है।

देखो, एक ही पुरुषसूक्त से महादेव, विष्णु या किसी भी देवता का पूजन आप करना चाहो तो हो जाएगा। मन्त्र का विनियोग जैसा होता है, उसी प्रकार का उसका फल होता है। आप रुद्राष्टाध्यायी का पाठ जिस उद्देश्य से करेंगे, उसी में उसका विनियोग हो जाएगा। यदि आप निष्काम भाव से शिव-प्रीत्यर्थ सम्पूर्ण रुद्राष्टाध्यायी का पाठ करेंगे तो उसका शिव-प्रीति ही फल होगा। इसलिए निष्काम व्यक्ति के लिए रुद्रीपाठ में कोई विरोध नहीं है।

जिज्ञासा :- मन्दिर में जो धूप दी जाती है उसके निर्माण के बारे में कुछ नियम हैं क्या?

समाधान :- मन्दिर में जो धूप या अगरबत्ती जलाई जाती है उसमें बाँस की लकड़ी का प्रयोग नहीं होना चाहिए। दूसरी बात, आजकल प्रायः मुस्लिम सम्प्रदाय के लोग अगरबत्ती बनाते हैं तो उसमें लोहबान डालते हैं। वह उनके मस्जिद-मजार के लिए तो ठीक है, पर मन्दिर में उसे जलाना निषिद्ध है। इसलिए गुग्गल और चन्दन इत्यादि से बनी धूप का प्रयोग करें। सबसे अच्छा यही है कि स्वयं धूप बनाए। यदि कुछ और न मिले तो चन्दन और घी से ही बना ले।

जिज्ञासा :- महात्माओं की पुण्यतिथि क्यों मनाते हैं? आजकल उनकी जयन्ती भी मनाई जाती है, क्या यह उचित है? महात्माओं की पादुका का पूजन करना चाहिए अथवा मूर्ति का?

समाधान :- महात्माओं की मृत्यु सफल होती है। वे मृत्यु के समय सबके सामने एक आदर्श रख देते हैं कि हमने तुम लोगों के समान ही जन्म लिया और मानव-जीवन में प्राप्तव्य सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त कर लिया। उनकी मृत्यु सफल है क्योंकि उन्हें फिर जन्म नहीं लेना पड़ेगा। इसलिए हम उनकी पुण्यतिथि मनाते हैं। सन्तों की पुण्यतिथि ही मनाने की परम्परा है, परन्तु आजकल कोई उनकी जयन्ती मनाए तो हम क्या कर सकते हैं! लोग कहते हैं

कि हम तो उन्हें भगवान् मानते हैं, यदि ऐसी बात है तो जरूर जयन्ती मनाओ क्योंकि भगवान् की जयन्ती मनाई ही जाती है।

इसी प्रकार महात्माओं की पादुका का पूजन, यह एक शास्त्रीय परम्परा है, परन्तु उनकी पाषाण-मूर्ति की पूजा शास्त्रीय नहीं है। यह हमारी अपनी दृष्टि है, बाकी व्यक्ति अपने भाव से कुछ भी करता है तो हम क्या कर सकते हैं।

जिज्ञासा :- आजकल लोग दोने में दीपक जलाकर नर्मदा या गंगा में छोड़ देते हैं। क्या यह पूजन-विधि शास्त्रीय है?

समाधान :- हमें तो शास्त्र में ऐसी विधि कहीं नहीं मिली। नर्मदाजी की आरती करने की विधि है, दीपक जलाकर किनारे पर रखने की भी विधि है, परन्तु जलाकर जल में बहाने की विधि नहीं है। आजकल तो 'अच्छा लगना, अच्छा दीखना' यही लोगों को अधिक पसन्द है। यज्ञ-मण्डप भले ही शास्त्रीय विधि से न बने, पर सुन्दर दीखना चाहिए। नर्मदेश्वर दीखने में चमकदार होना चाहिए चाहे वह मशीन से बनाया गया हो। शास्त्रीय महिमा तो सीधे नर्मदा से निकाले गए शिवलिङ्ग की ही है। पर यह आज का युगधर्म ही समझ लीजिए शास्त्रीय न होने पर भी वस्तु का सुन्दर दीखना यही लोगों को पसन्द है। युगधर्म में पाप भी होता है पर क्या किया जाए?

नर्मदा के जल में जब सैकड़ों दीपक जलाकर छोड़ते हैं तो यह विचार करना चाहिए कि यह जल नहीं, माता का शरीर है, क्या माता के शरीर पर दीपक जलाना ठीक है? यह परम्परा कब से है यह हम नहीं कह सकते? नर्मदा तो माता है, वह सब सहन कर लेती है। पर यदि आप उसे माता मानते हो तो उसके शरीर पर दीपक जलाना ठीक है या नहीं, आप ही सोच लीजिए?

प्रारब्ध, पुण्य-पाप तथा संस्कार

जिज्ञासा :- सञ्चित और प्रारब्ध कर्म में क्या अन्तर है?

समाधान :- जीव जब मृत्यु को प्राप्त होता है तो बाहर से लोगों की दृष्टि में बेहोश दिखाई देता है, परन्तु अन्दर से होश में रहता है। उसने जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त जितने कर्म किए हैं और पूर्व जन्मों के भी वे शुभ या अशुभ सभी कर्म जिनका अभी तक फल नहीं मिला है, उसके सामने 'रील' के समान घूमते हैं। उस समय उसको फल देने के लिए जो तैयार होते हैं चाहे पुण्यकर्म हों या पापकर्म, वे उसके सामने आकर ठहर जाते हैं और शेष विस्मृति में चले जाते हैं। ठहरे हुए कर्मों का जिसमें सम्यक् प्रकार से भोग हो सकता है ऐसा शरीर उसके सामने आकर स्थिर हो जाता है और उसे उसका मन पकड़ लेता है कि यही मैं हूँ। फिर जीव वर्तमान शरीर छोड़ देता है। जिन कर्मों के द्वारा नया शरीर बनता है, वे प्रारब्ध कर्म कहलाते हैं और शेष सञ्चित कर्म।

जिज्ञासा :- प्रारब्ध और भाग्य में क्या अन्तर है?

समाधान :- एक दृष्टि से विचार किया जाए तो प्रारब्ध और भाग्य में कोई अन्तर नहीं है। परन्तु शब्दों के प्रयोग में अन्तर पड़ता है। जिन कर्मों के फलभोग के लिए वर्तमान शरीर मिला है उन्हें प्रारब्ध कहते हैं। वे कर्म पाप भी हो सकते हैं और पुण्य भी। जिनमें पाप और पुण्य लगभग समान हों ऐसे मिश्रित कर्मों का फलभोग मनुष्य-शरीर में होता है, पर इसका मतलब यह नहीं है कि पचास प्रतिशत पाप है और पचास प्रतिशत पुण्य। जैसे १०० में से ३३ प्रतिशत अंक प्राप्त करनेवाला विद्यार्थी भी उत्तीर्ण होता है और ७० प्रतिशतवाला भी उत्तीर्ण होता है। परन्तु जो ३३ प्रतिशतवाला है, उसकी गलतियाँ ज्यादा हैं और ७० प्रतिशतवाले की कम हैं। ऐसे ही पाप और पुण्यकर्म का मिश्रित फल यह मनुष्य शरीर है। यदि पाप ज्यादा हैं तो जीवन में दुःख ज्यादा होंगे और पुण्य ज्यादा हैं तो सुख।

केवल शुभकर्मों के फल को भाग्य कहते हैं और अशुभ कर्मों के फल को दुर्भाग्य कहते हैं। दोनों ही प्रारब्ध के अन्तर्गत हैं।

जिज्ञासा :- कभी-कभी देखा जाता है कि कोई व्यक्ति बहुत दुःख भोगता है परन्तु उसके संस्कार बहुत अच्छे हैं। इसी प्रकार ऐसा भी देखा जाता है कि कोई व्यक्ति बहुत सुख भोगता है और उसके संस्कार बहुत बुरे हैं। इससे यह शंका होती है कि दुःख तो पापकर्म का फल है, फिर उसमें अच्छे संस्कार कहाँ से आए? इसी प्रकार सुख पुण्यकर्म का फल है तो उसमें बुरे संस्कार कहाँ से आए?

समाधान :- सुख-दुःखरूपी भोग तो प्रारब्ध कर्म से होता है और प्रारब्ध कर्म उसके सभी कर्मों का एक अंशमात्र होता है। परन्तु संस्कार तो प्रारब्ध और सञ्चित दोनों कर्मों से बनते हैं क्योंकि सभी कर्मों का कर्ता तो एक ही होता है, और जहाँ संस्कार रहते हैं वह मन भी एक ही है। वर्तमान शरीर में जैसे संस्कारों को बढ़ाने के योग्य वातावरण मिलता है वैसे संस्कार प्रबल हो जाते हैं और दूसरे संस्कार कमजोर हो जाते हैं। संस्कारों के अनुसार ही व्यक्ति में इच्छा उत्पन्न होती है और उसी के अनुसार फिर आगे वह कर्म करता है।

जिज्ञासा :- कोई व्यक्ति बहुत परिश्रम करता है पर फल से वञ्चित रह जाता है और कोई व्यक्ति बहुत कम परिश्रम करने पर भी वही फल प्राप्त कर लेता है। इसमें क्या हेतु है?

समाधान :- यदि किसी पात्र में कोई वस्तु है तो करछी डालने पर वह निकलेगी। परन्तु यदि पात्र में कोई वस्तु ही नहीं है तो कितनी भी करछी डालो, वह नहीं निकलेगी। जब तक पात्र में वस्तु नहीं भरेंगे, तब तक कैसे निकलेगी! वर्तमान शरीर में भोग के लिए लोगों का जो प्रयास है वह तो करछी डालने के समान है और उसमें जो लाभ होता है, वह प्रारब्ध के रूप में होता है।

जैसे, व्यापार आदि में किसी व्यक्ति को तो जिधर हाथ मारता है, उधर धन मिलता है और कोई अन्य व्यक्ति जहाँ भी धन लगाता है वहीं डूब जाता है। कभी-कभी देखा जाता है कि व्यक्ति उल्टा व्यवहार करता है तो भी लक्ष्मी उसके पास दौड़ी हुई आती है और कोई बड़ा सत्कर्म करता है तो भी लक्ष्मी उसके घर से चली जाती है।

व्यक्ति का यदि पूर्वजन्म का पुण्य नहीं है तो उसके पास धन नहीं आता, दरिद्रता ही बनी रहती है। अब वह किसी मन्दिर में जाएगा, पूजा करेगा, किसी

महात्मा की सेवा करेगा या व्रत, उपवास, जप, तीर्थ-यात्रा जो कुछ भी करेगा, इनके बदले जीवन भर धन ही माँगता रहेगा। इस प्रकार करते हुए उसका शरीर छूटने पर वह अगले जन्म में किसी करोड़पति के घर में उत्पन्न होगा। जिधर देखेगा वहाँ धन-ही-धन दिखाई देगा। उसने पूर्वजन्म में भगवान् से, सन्तों से कभी भी भक्ति, सद्बुद्धि इत्यादि तो माँगे नहीं, सिर्फ धन-ही-धन माँगा। अब जीवन भर भोगवृत्ति में लगा रहेगा, भगवान् को ही भूल जाएगा। मरने के बाद अगले जन्म में फिर दरिद्र हो जाएगा।

इस प्रकार किसी व्यक्ति ने पहले बोया है तो अब फसल काट रहा है और कोई अब बो रहा है वह आगे काटेगा। बस, भेद इतना ही है।

जिज्ञासा :- लोग कहते हैं - समय बलवान है। फिर प्रारब्ध का क्या महत्व हुआ?

समाधान :- प्रारब्ध ही समय पर उपस्थित होकर फल देता है दूसरा कोई नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। यही काल की बलवत्ता कहलाती है। पाण्डवों को भी जंगल में जाना पड़ा, यह समय का ही प्रभाव था। रावण का एक समय था जब देवता भी उसके आगे हाथ जोड़कर खड़े रहते थे, परन्तु जब विपरीत समय आया तो उसका अन्त हो गया। यही काल की महिमा है।

जिज्ञासा :- यदि दो व्यक्तियों का प्रारब्ध एक समान है तो क्या उनको सुख-दुःख का भोग भी समान रूप से होगा?

समाधान :- यह कोई आवश्यक नहीं है कि दो व्यक्तियों के प्रारब्ध एक समान होने से उनको सुख-दुःख का भोग भी एक समान ही होगा। सुख-दुःख का भोग प्रारब्ध के साथ-साथ उनके संस्कारों पर भी निर्भर करता है। एक व्यक्ति विवेक द्वारा दुःख के प्रभाव को कम कर सकता है या अपने अनुकूल बना सकता है।

प्रारब्ध कर्म भले ही भोग लेकर आवे, परन्तु विवेक होने पर आपका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। एक साधक ने अपना जीवन भगवान् को समर्पित कर

दिया है। यदि कभी प्रारब्धवश उसको भोजन नहीं मिला तो वह सोचता है कि भगवान् कृपा कर रहे हैं, हमारी दवा कर रहे हैं, आसक्ति छुड़ा रहे हैं। अब प्रारब्ध क्या करेगा उसका! तुकारामजी की पत्नी बड़ी तेज स्वभाव की थी। पर तुकारामजी भगवान् से कहते थे, 'भगवन्! आपने मेरे ऊपर बहुत कृपा की। ऐसी पत्नी दी जो दिन-रात लगाम खींचे रखती है कि साधु कच्चा है या पक्का।' दूसरी ओर एकनाथजी की पत्नी बहुत अनुकूल थी। पर वे भी यही कहते थे, 'हे भगवन्! बहुत कृपा की आपने, अनुकूल पत्नी दी जो भजन में विघ्न नहीं करती।'

भक्त नरसी मेहता की पत्नी मर गयी, तब उन्होंने कहा, 'भला हुआ छूटा संसार। बस, जीवन में एक ही कर्तव्य था, उससे भजन में प्रतिबन्ध था। भगवान् ने बड़ी कृपा की जो कोई व्यावहारिक कर्तव्य शेष नहीं रहा। अब जीवन भर भजन ही करेंगे।' देखिए, तीन अलग-अलग परिस्थितियाँ हैं, परन्तु तीनों भक्तों में भगवत्कृपा का अनुभव एक समान ही है। इसलिए शास्त्र का यह विचार मार्ग बड़ा ही विलक्षण और उत्तम है। जीवन में कितना भी कष्ट आ जाए, साधक विचार के बल पर सहन कर लेता है और अपने धर्म से विचलित नहीं होता। परन्तु निम्न संस्कारवाले व्यक्ति को यदि थोड़ा भी दुःख आ जाता है तो वह घबरा जाता है और रोने लगता है। इसलिए प्रारब्ध एक समान होने पर भी सुख-दुःख का अनुभव एक समान होना अनिवार्य नहीं है।

जिज्ञासा :- शरीर में रोग होने पर इलाज करवाना चाहिए या उसे प्रारब्ध पर छोड़ देना चाहिए?

समाधान :- शरीर में रोग प्रायः तीन कारणों से होते हैं। एक रोग तो आहार-विहार की विषमता से हो जाता है जैसे- ज्वर या जुकाम। ऐसे रोग उचित दवा लेने पर शीघ्र ठीक हो जाते हैं। एक रोग ऐसा भी होता है जिसका कारण कोई पाप-विशेष होता है। दवा करने पर उस रोग का कारण जो पाप है उसके साथ दवा का संघर्ष होता है। इसलिए दवा करने पर भी कभी-कभी ऐसे रोग ठीक नहीं होते। तब महामृत्युञ्जयमन्त्र-जप आदि दैवी प्रयोग करने चाहिए। इनके द्वारा पाप दबने पर उससे उत्पन्न हुआ रोग ठीक हो जाता है।

कुछ रोग ऐसे भी होते हैं जिनके पीछे कठिन (प्रबल) प्रारब्ध होता है। उस प्रारब्ध को काटने लायक पुरुषार्थ प्रायः व्यक्ति कर नहीं पाता। दवा या मन्त्रों का यथाशक्ति प्रयोग करने पर भी ऐसे रोग प्रायः दूर नहीं होते हैं। तब समझना चाहिए कि यह रोग भी भगवान् की कृपा ही है, शरीर के साथ ही जाएगा। ऐसा विचारकर उसे सह लेना चाहिए। पर प्रारम्भ में तो व्यक्ति को पूर्ण प्रयास करके रोग-निवृत्ति का उपाय कर लेना चाहिए।

जिज्ञासा :- प्रारब्ध को पुरुषार्थ से काटा जा सकता है, अथवा भोगना ही पड़ता है?

समाधान :- पुरुषार्थ से प्रबल प्रारब्ध को तो काटना असम्भव है, परन्तु शिथिल-प्रारब्ध को काटा जा सकता है। उपस्थित हुए प्रारब्ध को पुरुषार्थ के बल पर पीछे कर सकते हैं पर वह नष्ट नहीं होता। उदाहरणार्थ, कहीं-कहीं ऐसा भी देखा जाता है कि प्रारब्धानुसार व्यक्ति मरनेवाला होता है, परन्तु कोई शास्त्रीय उपाय करने पर वह कुछ साल बच भी जाता है। प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों अपनी-अपनी जगह हैं। जैसे, किसी के प्रारब्ध में पुत्र नहीं है, शास्त्र कहता है पुत्रेष्टि-याग करो, उसके प्रभाव से पुत्र उत्पन्न होगा। यदि प्रारब्ध प्रबल नहीं है तो यागरूप पुरुषार्थ के प्रभाव से पुत्र उत्पन्न हो जाता है।

दूसरी बात, प्रारब्ध उपस्थित होने पर भी विचार के प्रभाव से वह आपको विचलित नहीं कर सकता। प्रारब्ध अपनी जगह रह जाता है और आप अपनी जगह। जैसे, प्रारब्धानुसार आपके सामने मृत्यु उपस्थित है, परन्तु आपको मालूम हो रहा है कि भगवान् की कृपा माला लेकर पहनाने के लिए आ रही है। मृत्युरूपी प्रारब्ध भोग में भी आपको कृपा ही दीख रही है। भक्ति में ऐसी दृष्टि आ जाती है। अब प्रारब्ध क्या करेगा!

जिज्ञासा :- इस जन्म में किए गए पाप-पुण्य कर्म अगले जन्म में ही फल देते हैं अथवा इस जन्म में भी?

समाधान :- सामान्यतः तो पाप-पुण्य कर्म आगामी जन्मों में फल देते हैं, परन्तु कुछ विशेष कर्मों का फल इस जन्म में ही मिल जाता है। जैसे किसी व्यक्ति ने पुत्रप्राप्ति के लिए पुत्रेष्टि-याग किया तो उसका फल इसी जन्म

में होगा। इसके अलावा कई तीव्र पुण्य या पाप होते हैं, उनका फल भी इसी जन्म में हो जाता है। पापकर्म जितने छिपे रहते हैं, उतने ही प्रबल हो जाते हैं। पाप प्रकट होने पर यदि कोई उस व्यक्ति की निन्दा करे तो उसके पाप शिथिल हो जाते हैं। छिपाने पर तो निन्दा नहीं हो सकती, अतः वह पाप प्रबल हो जाता है। ऐसे पाप का फल इसी जन्म में हो जाता है।

आनन्द स्वामी ने अपनी पुस्तक में एक अनुभव लिखा है। उन्होंने एक जगह एक साधु को बहुत दुःखी देखा तो पूछा, 'तुम्हें कोई रोग अथवा अन्य कोई समस्या है तो मुझे बताओ मैं कुछ सहायता कर दूँगा।' साधु ने कहा, 'मेरा दुःख कोई भी मिटा नहीं सकता।' आनन्द स्वामी के बार-बार पूछने पर उसने अपने जीवन की घटना सुनाई - 'मैं और मेरा एक साथी पंजाब के एक गाँव से एक-एक हजार रुपये लेकर व्यापार करने बम्बई गए। दस वर्ष वहाँ रहकर हमने बीस लाख रुपये कमाए। फिर निर्णय किया कि अब पैसा लेकर गाँव चलें, वहीं रहकर कोई धंधा करेंगे। जाने के एक दिन पहले मेरे मन में पाप आ गया कि यदि यह मर जाए तो सारा रुपया मेरा हो जाएगा। ऐसा विचार कर मैंने जहर लाकर दूध में मिलाकर उसको पिला दिया। जब उसकी स्थिति खराब हुई तो उसने समझ लिया कि इसने मुझे जहर दिया है। उसके मरते समय मैंने उसकी ओर देखा तो उसकी आँखें क्रोध से मुझे घूर रही थीं। पर वह कुछ कर नहीं सकता था।

उसका शरीर छूटने पर शरीर का दाह-कर्म करके बीस लाख रुपये लेकर मैं लौटकर गाँव आ गया। गाँव के लोग इकट्ठे हुए, मैंने रो-रोकर मित्र के मरने का समाचार उनको दिया और कहा कि हम दोनों ने मिलकर बीस हजार रुपये कमाए। उसके हिस्से के दस हजार रुपये आप उसके घरवालों को दे दीजिए। यह सुनकर उस समय लोगों ने मेरी ईमानदारी की तारीफ की।

गाँव में मैंने मकान बनाया, विवाह किया। फिर एक पुत्र हुआ। दसवें वर्ष में वह पुत्र बीमार हो गया। दिल्ली, बम्बई सब जगह इलाज करवाने पर भी वह ठीक नहीं हुआ। लोगों की सलाह से उसे विदेश ले गया। उस पर मेरा सारा पैसा खत्म हो गया, पर लड़का ठीक नहीं हो पाया। लड़का जब मरणासन्न हो गया तो अन्तिम समय में उसने आँखें खोलीं। मैंने जब 'बेटा' 'बेटा' बार-बार कहा तो वैसे ही नेत्र मेरे सामने आ गये जैसे मरते समय मित्र के थे। उसने कहा, 'अब क्यों रोता है? पहले तो मुझे जहर देकर मार दिया।' ऐसा कहकर उसने

प्राण त्याग दिये। तब मैं घर छोड़कर भागा और साधु बन गया। पर आज भी वो घटना चाहकर भी नहीं भूल पाता हूँ। वे नेत्र आज भी मुझे घूरते हुए दिखाई देते हैं। आनन्द स्वामी, मेरी व्यथा तुम क्या दूर करोगे!' देखिए, उस व्यक्ति ने मित्र से विश्वासघात किया। इस प्रबल पाप ने इसी जन्म में उसे फल दे दिया। इसी प्रकार यदि प्रबल पुण्य हो, उसका फल भी इसी जन्म में मिल जाता है।

जिज्ञासा :- गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है -

कलि कर एक पुनीत प्रतापा।

मानस पुन्य होहिं नहिं पापा॥ (मानस, उत्तर.-१०२.४)

क्या उनका यह कथन सत्य है?

समाधान :- शास्त्रवाक्य पर संशय नहीं करना चाहिए। मानस में यह चौपाई भुशुण्डीजी और गरुड़जी के संवाद में आती है। भुशुण्डीजी ने कहा कलियुग में और तो सभी दोष ही दोष हैं, पर एक गुण यह है कि इसमें मन से किया गया पुण्य कर्म तो सफल होता है, पर मानसिक पाप का फल नहीं होता। यह कथन सत्य ही है। यदि आपके मन में विपरीत संकल्प आ गया तो आप उतने दोषी नहीं होंगे जब तक वह वाणी और शरीर में न आए क्योंकि इस समय वातावरण ही रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता का है। हाँ, वाणी और शरीर में आ गया तो आप अपराधी हो जाओगे।

इसके विपरीत मन से यदि पूजन करेंगे, गोदान करेंगे, यज्ञ करेंगे तो उनका फल होगा। इस समय मन आपके हाथ में नहीं है और मन की एकाग्रता स्थापित किए बिना आप कोई भी साधना नहीं कर सकते हैं। जब तक व्यक्ति मन से अभ्यास नहीं करेगा, तब तक मानसपूजा कर ही नहीं सकता। आज मानस पुण्य करना बड़ा कठिन है, इसलिए उसका फल तो होना ही चाहिए। इसी दृष्टि से यह बात कही गई है।

जिज्ञासा :- व्यक्ति जानता है कि पाप का फल दुःख ही है, फिर भी वह पाप-कर्म क्यों करता है?

समाधान :- यही प्रश्न अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से पूछा था - अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः। (गीता-३.३६) अर्जुन ने कहा,

‘भगवान्! बहुत बार मन में इच्छा न होने पर भी अन्दर से कोई एक कहता है झूठ बोलें और दूसरा कहता है न बोलें। हम दूसरे की कोई वस्तु उठाने चलें तो अन्दर से कोई एक कहता है उठा लो और दूसरा कहता है मत उठाओ। इच्छा न होने पर भी जैसे गला पकड़कर कोई पाप में लगा दे ऐसे लगा देता है, वह कौन है?’

भगवान् ने कहा, ‘अर्जुन! मेरी इच्छा के बिना पता भी नहीं हिलता, परन्तु मैं किसी को पाप में नहीं लगाता हूँ और न ही पाप करना जीव का स्वभाव है।’ फिर जीव पाप क्यों करता है? ऐसी शंका होने पर भगवान् ने कहा - **काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। (गीता - ३.३७)** यह जो जगत् की कामना हृदय में बैठी है, यही जीव को पाप में लगाती है। परमेश्वर एवं धर्म दोनों वहीं हृदय में बैठे हैं, वे उसको पाप से रोकते हैं, पर जीव रजोगुण की प्रबलता से उनकी न सुनकर अपने मन की ही सुनता है और पाप में प्रवृत्त हो जाता है। अब यदि उसकी कामना पूरी हो जाए तो लोभ बढ़ जाता है और कोई उसकी कामना में बाधा डाले तो क्रोध आ जाता है।

भगवान् ने काम के विषय में कहा - **रजोगुणसमुद्भवः**, यह जीव का स्वभाव नहीं है, अपितु अन्दर बैठे रजोगुण से उत्पन्न होता है क्योंकि यदि जीव का स्वभाव होता तो सभी विषयों के प्रति उसके मन में समान रूप से कामना होनी चाहिए थी और यदि विषय का स्वभाव होता तो एक विषय के प्रति सबके मन में समान रूप से कामना होती। पर ऐसा नहीं देखा जाता। इसलिए फिर आगे कहा - **विद्वेचनमिह वैरिणम्।** हे अर्जुन! परमार्थ मार्ग के इस वैरी को तुम जान लो। इतना बड़ा वैरी कोई दूसरा नहीं है। कहने का मतलब है कि जानते हुए भी यदि व्यक्ति पाप करता है तो उसमें हेतु रजोगुण से उत्पन्न हुआ काम ही है।

जिज्ञासा :- कोई व्यक्ति किसी कीड़े को मारता है तो उसकी कीटयोनि समाप्त होगी या नहीं? यदि समाप्त हो जाएगी तो उसकी कीटयोनि समाप्त होने में निमित्त होने से मारनेवाले को पुण्य होगा या पाप?

समाधान :- यह तो उसके कर्म पर निर्भर होगा कि उसकी कीटयोनि

समाप्त होगी या नहीं। वह उस योनि से मुक्त हो जाएगा यह आप नहीं कह सकते क्योंकि उसके कर्मों को आप नहीं जानते। परन्तु आपने उसको मारा तो आपको पाप जरूर लगेगा। उसकी एक योनि समाप्त करने में आप निमित्त बने तो आपको पाप ही होगा। विचार कीजिए, क्या आप मरना चाहते हो? आपको कोई मारे तो उसे पाप लगेगा या नहीं? इसी प्रकार वह कीड़ा भी मरना नहीं चाहता बल्कि जीना चाहता है, आपने उसे मार दिया तो उसे भारी कष्ट होता है। अतः आपको तो पाप लगेगा ही।

जिज्ञासा :- किसी व्यक्ति को कोई असाध्य रोग है जिससे वह बहुत कष्ट में है। यदि वह कहे कि कोई हमें विष दे दे जिससे मैं इस यातना से छूट जाऊँ। ऐसी स्थिति में उसकी इच्छा पूरी करनी चाहिए या नहीं?

समाधान :- हमारी दृष्टि में इस कर्म से दोनों को ही पाप लगेगा। दूसरे को मारना तो पाप है ही, आत्महत्या भी पाप ही है। जो व्यक्ति उसको विष देगा उसे दूसरे को मारने का पाप लगेगा ही, उसने विष देने को कहा इससे क्या फर्क पड़ता है? वस्तुतः जो ऐसा रोगी है, उसमें भी अन्दर से मरने की इच्छा नहीं है, जिजीविषा है, वह तो कष्ट सहन न कर पाने के कारण ऐसी बात बोल देता है। दूसरी बड़ी बात यह है कि आपके विष देने से वह मर गया तो भी उसकी पीड़ा समाप्त नहीं होगी। जो कर्मफल शेष रहेगा, उसे अगले जन्म में उसको भोगना पड़ेगा। इसलिए रोगी को कोई विष देता है तो वह परोपकार नहीं करता है, अपितु पाप ही करता है।

स्वेच्छा से देहत्याग का अर्थ यह नहीं कि किसी कष्ट आदि के निमित्त से शरीर छोड़ा जाए। जैसे भीष्म को इच्छामृत्यु का वरदान प्राप्त था, जब मृत्यु का समय आ गया तब भी उन्होंने कहा कि हम अभी शरीर नहीं छोड़ेंगे, उत्तरायण में छोड़ेंगे। उत्तरायण आते ही उन्होंने स्वेच्छा से शरीर छोड़ दिया। यह स्वेच्छा-मृत्यु है, इसका पाप-पुण्य से कोई सम्बन्ध नहीं। इसी प्रकार से कोई सिद्ध योगी स्वेच्छा से विचरण करता है, चाहे तो वह इच्छा से शरीर छोड़ भी सकता है, इसमें कोई दोष नहीं है।

जिज्ञासा :- प्रारब्ध कर्म का भोग से क्षय हो जाता है। संस्कारों का पूर्णरूप से क्षय कैसे और कब होता है?

समाधान :- संस्कार मन में रहते हैं। जब तक जीव का मन के साथ सम्बन्ध रहेगा तब तक संस्कार भी रहेंगे और जब तक अज्ञान है तब तक मन के साथ सम्बन्ध भी बना रहता है। जब स्वरूपानुभूति होने पर अज्ञान नष्ट हो जाता है तब मन के साथ सम्बन्ध ही नहीं रहता है। फिर संस्कार भी स्वतः ही क्षीण हो जाते हैं।

जिज्ञासा :- अशुभ-संस्कार के जाग्रत होने से पहले ही उसका बीज नष्ट किया जा सकता है क्या?

समाधान :- ईश्वर-शरणागति या ज्ञानप्राप्ति से यह बीज नष्ट हो सकता है, पर यह उतना सरल नहीं है। इसके लिए बहुत प्रयास करना पड़ता है। तुम्हारा भला-बुरा कोई भी संस्कार हो, यदि उसमें तुम्हें ईश्वर-कृपा ही दीखती है तो वह संस्कार तुम्हारा क्या कर लेगा? मृत्यु सामने आ जाए और उसमें भी तुम्हें ईश्वर-कृपा दीख रही है तो वह तुम्हारा क्या बिगाड़ लेगी! इसी प्रकार जब तत्त्वज्ञान हो जाता है तब कर्मों और संस्कारों से सम्बन्ध ही टूट जाता है। अशुभ संस्कारों को नष्ट करने के ये ही दो मार्ग हमें दिखाई देते हैं।

तीर्थ-महिमा

जिज्ञासा :- ओंकार पर्वत की प्रदक्षिणा किस प्रकार करें?

(मध्य प्रदेश के ओंकारेश्वर नामक स्थान में नर्मदा नदी के बीच में ओंकार पर्वत है। उसी पर्वत पर ओंकारेश्वर ज्योतिर्लिंग विद्यमान है।)

समाधान :- ओंकार पर्वत की परिक्रमा काल में यह निश्चय रखना चाहिए कि इसकी परिक्रमा से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की परिक्रमा हो जाएगी क्योंकि ओंकार के भीतर समस्त विश्व है, सम्पूर्ण देवता हैं और सारे शब्द तथा उनके अर्थ भी ओंकार में ही समाए हुए हैं। ओंकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रतीक है, ऐसा अर्थ हृदय में रखकर इसकी परिक्रमा करनी चाहिए।

परिक्रमा विधिपूर्वक करनी चाहिए। स्नान आदि करके, नंगे पैर रहते हुए, मौन होकर प्रत्येक पगपर मन्त्र-स्मरण करते हुए चलना चाहिए। बीच में अन्न-जल आदि कुछ भी ग्रहण न करे क्योंकि यह तपस्या है, इसलिए इसमें सहन करना आवश्यक है। इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति ओंकार पर्वत की परिक्रमा करता है तो वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की परिक्रमा का फल प्राप्त कर लेगा।

जिज्ञासा :- कोई मोक्षार्थी साधक यदि तीर्थ में जाकर साधना करे तो क्या उसका विशेष लाभ होता है?

समाधान :- क्यों नहीं! तीर्थ की महिमा तो है ही। पर तीर्थनिवास के विषय में एक बात का ध्यान रखना चाहिए। तुकारामजी महाराज ने कहा, 'सन्तों के पास मत जाना, सत्संग में मत बैठना।' लोगों ने पूछा, 'क्यों?' तो उन्होंने उत्तर दिया, 'देखो, सन्तों के पास जाने से तुम्हारे पूर्व के तो सब दोष नष्ट हो जाएँगे, पर यदि तुमसे वहाँ पर कोई अपराध हो गया, तो वह कहाँ नष्ट होगा?' ऐसा ही तीर्थ के विषय में भी समझना चाहिए। इसलिए तीर्थ में रहनेवाले साधक को सावधानी की बहुत आवश्यकता होती है। तभी तीर्थ में रहने का उसको लाभ होता है। टी.वी. देखने के लिए तीर्थ में जाने की जरूरत नहीं है। तीर्थ में जिस प्रयोजन से गया है, यदि उसी प्रयोजन में उसका मन लगा हुआ है तो निश्चित ही तीर्थ-निवास का लाभ होता है।

जिज्ञासा :- तीर्थों में क्या ऐसा रहस्य है कि लोग उनके प्रति इतने आकर्षित होते हैं? इनमें जाने से क्या लाभ होता है?

समाधान :- तीर्थ परमात्मा की अनुग्रह शक्ति के माध्यम से ही बने हैं। ये केवल पत्थर या पानी नहीं हैं। कोई बड़ा प्रतापी राजा भी आयोजन करे तो वह इतने लोगों को खींच नहीं सकता क्योंकि समय किसके पास है। परन्तु तीर्थ लाखों लोगों को खींच लेता है। इसमें कोई-न-कोई रहस्य तो मानना ही पड़ेगा। जैसे, दूर दक्षिण भारत के किसी व्यक्ति के मन में आता है, ओंकारेश्वर एक बड़ा तीर्थ है, उसके बारे में उसने चिन्तन शुरू किया। अब जगत् के चिन्तन में से कुछ तो देवता का चिन्तन होने लगा। फिर वह सोचता है, अगले साल तो अवश्य जाएँगे, भले ही कर्ज लेकर जाना पड़े। देखो, उसमें इतना बल आ गया। अब वहाँ से देवता के उद्देश्य से तीर्थ में आया। इतना कष्ट सहन करके, पैसे खर्च करके तीर्थ में आकर स्नान किया। **तीर्थ पापक्षयः स्नानात्** - तीर्थ में स्नान करने से पापों का नाश हो जाता है। तीर्थ में आकर कुछ छोड़ने का नियम है। पर लोग आजकल क्या करते हैं, बैंगन छोड़ देते हैं क्योंकि वह पेट में वायु करता है। कोई कुम्हड़ा छोड़ देता है। अरे, तीर्थ में आकर सर्वसंकल्प छोड़ दो अन्यथा जब महादेव को जल चढ़ाओगे तो बीच में कामना आ जाएगी, तब वह महादेव पर कैसे पहुँचेगा? इसलिए इन कामनाओं को तो तुम तीर्थ में स्नान करते समय ही छोड़ दो क्योंकि तुम्हारे पास इनके अतिरिक्त और है ही क्या? अब महादेव तक आपका जल पहुँच जाएगा।

तीर्थ में देवता का दर्शन करके फिर किसी साधु के पास जाना चाहिए - **तीर्थ साधुसमागमः।** महात्माओं के पास जाएगा तो ईश्वर-चर्चा सुनेगा और यही उसके कल्याण में हेतु बन जाएगी। इसीलिए ये तीर्थ कोई मिट्टी-पत्थर नहीं हैं। देखो, ये कृपाशक्ति की अवतार नर्मदाजी हैं, जो अनन्त जीवों का कल्याण कर रही हैं। ये परमात्मा की साक्षात् कृपामूर्ति ही हैं। इसमें किसी को किसी प्रकार का संशय नहीं करना चाहिए। इसलिए तीर्थों में जाने से लाभ ही लाभ है।

जिज्ञासा :- माँ नर्मदा का प्राकट्य कैसे हुआ और इनका माहात्म्य क्या है?

समाधान :- एक बार जीवों के कल्याण के लिए माँ पार्वती के सहित

महादेव ने अमरकण्टक के मेकल पर्वत पर अस्सी हजार दिव्य वर्षों तक तपस्या की। तपस्या पूरी होने पर उनके मस्तक से पसीना निकला और एक दिव्य कन्या के रूप में मूर्तिमान हो गया। उस कन्या ने महादेव से कहा, 'पिताजी, मेरे लिए क्या आज्ञा है?' महादेव ने कहा, 'जीवों के कल्याण के लिए तुम जल की धारा बनकर पृथ्वी पर रहो।'

कन्या ने सोचा जब मुझमें शक्ति होगी तभी मैं जीवों का कल्याण कर सकूँगी। ऐसा विचार कर उसने काशी में जाकर बहुत उग्र तपस्या की। अपने यहाँ की यही परम्परा है कि यदि कोई बड़ा कार्य करना हो तो पहले तप करो। इस प्रकार कन्या ने तप से महादेव को प्रसन्न करके उनसे बहुत-से वरदान माँगे। मेरे अन्दर जो पत्थर हों, वे भी साक्षात् शिवरूप ही हों, शिवपूजन से जो फल प्राप्त होता है, वही उनकी पूजा से हो और उनमें प्राण-प्रतिष्ठा की भी आवश्यकता न पड़े। इच्छा-अनिच्छा से ही जिसका शरीर मेरे जल में गिरे उसकी कभी दुर्गति न हो, ऐसे और भी अनेक वरदान लिए।

इस प्रकार माँ नर्मदा भगवान् शिव की अनुग्रहशक्ति की ही अभिव्यक्ति है। गंगाजी को पृथ्वी पर रहने का जो अभिशाप था वह कलियुग के पाँच हजार वर्ष तक के लिए था। उसके बाद गंगाजी फिर अपने लोक में चली गई। इस समय वह सारी शक्ति नर्मदा में ही केन्द्रित है। इसलिए इस समय इसका महत्व और बढ़ गया है। माँ नर्मदा सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, इस विषय में कोई संशय नहीं है। इनकी कृपा की अनेकों घटनाएँ देखने-सुनने को मिलती हैं जिन्हें जानकर आश्चर्य होता है। यह साक्षात् शिवपुत्री है, इसे नित्य तत्त्वज्ञान है, इसका पूर्ण माहात्म्य तो बताना असम्भव ही है।

जिज्ञासा :- नर्मदा-परिक्रमा में क्या-क्या नियम रहते हैं?

समाधान:- अमरकण्टक को नर्मदाजी का मस्तक माना गया है और सागर को चरण। पहले माता के चरणों के दर्शन करना चाहिए। इसलिए नर्मदाजी को अपने दाहिनी तरफ रखते हुए पहले सागर की ओर चलना शुरू करते हैं। परिक्रमा कहीं से भी शुरू कर सकते हैं।

जहाँ से परिक्रमा शुरू करते हैं वहाँ से एक बोतल में नर्मदाजल भरा जाता है। उस जल की रोज पूजा की जाती है। कई जगह नर्मदा का तट छूट जाता है तो फिर नर्मदा पूजन कैसे होगा, इसलिए साथ में जल रखा जाता है। समुद्र

लाँघते समय बोतल में से कुछ जल समुद्र में छोड़ा जाता है और पुनः बोतल में समुद्र-जल भर लेते हैं। अमरकण्टक पहुँचकर उसमें से कुछ जल रेवा-कुण्ड में छोड़कर फिर वहाँ से कुछ जल भरते हैं। परिक्रमा पूर्ण होने पर वही जल भगवान् ओंकारेश्वर को चढ़ाया जाता है। परिक्रमा नंगे पैर ही की जाती है। नर्मदा तट पर गंगा दशहरा से लेकर विजयादशमी तक चार महीने का चातुर्मास माना जाता है। परिक्रमावासी को इस काल में एक ही स्थान पर रहना होता है।

यदि कोई बड़ा तीर्थ है तो वहाँ एक सप्ताह रुकना ही चाहिए। कुछ तीर्थों में कम-से-कम तीन दिन रहने का विधान है। इसके अलावा भी कहीं भजन में मन लग जाए तो वहाँ जब तक अनुकूल हो, रुककर भजन करे। वैसे तो तीन वर्ष तीन महीने तेरह दिन में परिक्रमा पूर्ण करने का विधान है, पर आजकल लोग जल्दी कर लेते हैं। परिक्रमा में चलते समय निरन्तर भजन, जपादि करते रहना चाहिए और जब भूख लगे तो कहीं से भिक्षा कर ले। तभी परिक्रमा का पूर्ण लाभ होता है।

परिक्रमा पूर्ण होने पर ओंकारेश्वर आना ही पड़ता है। ओंकारेश्वर पहुँचकर जब ओंकार-पर्वत की परिक्रमा करेंगे और ओंकारेश्वर भगवान् को जल चढ़ाएँगे तब आपकी परिक्रमा पूर्ण होगी। वह पूर्ण होने पर कन्या-भोजन भी करवाना पड़ता है।

जिज्ञासा :- यदि कोई व्यक्ति नर्मदा-परिक्रमा करना चाहता है, पर करने में असमर्थ है तो वह क्या करे?

समाधान:- हमने एक माता का दर्शन किया जो बड़ी वृद्धा थी। परिक्रमा नहीं कर सकती थी। उसने एक स्थान पर ताम्बे के एक बड़े पात्र में नर्मदा का जल भरकर रखा और यह नियम लिया कि तीन वर्ष तीन महीने और तेरह दिन तक हम यहीं पर रहेंगे, कहीं जाएँगे नहीं। इस प्रकार का नियम लेकर उस जल को साक्षात् नर्मदा मानकर प्रतिदिन पूजन करती और उसकी एक सौ आठ परिक्रमा करती थी। वहीं रहकर खूब भजन किया करती थी। हमारे विचार से यदि कोई वास्तव में असमर्थ व्यक्ति इस प्रकार से नियम का पालन करे तो नर्मदा की कृपा उसपर अवश्य होगी और उसे परिक्रमा का फल भी मिल जाएगा क्योंकि नर्मदा तो सर्वज्ञ एवं करुणामयी माता है।

जिज्ञासा :- कोई साधक नर्मदा-परिक्रमा करने का निश्चय करता है तो उसके मन में दो विकल्प उठते हैं - परिक्रमा काल में गाँव आने पर भिक्षा माँग लें अथवा भिक्षा के विषय में सबकुछ माता पर छोड़ दें, प्रारब्ध जैसा होगा वैसा ही होगा। इन दोनों में से क्या उचित है?

समाधान :- प्रारब्ध पर रह जाओ अन्यथा कहोगे कि माता ने नहीं खिलाया। माता को क्यों दोष देते हो? प्रारब्ध पर ही रहना है फिर माता को क्यों बीच में लाना? शास्त्र तो साधु के लिए कहता है कि भूख लगे तो भिक्षा कर लेना चाहिए। जब भूख लगने पर गाँव में माँगने से हमें भिक्षा मिल जाती है तो दुनिया भर का आडम्बर करने की क्या जरूरत है? हमने ऐसे महात्माओं को देखा और उनका सत्संग भी किया है जिन्होंने कभी भिक्षा नहीं माँगी। ऐसे महात्माओं को भी देखा है जो हमेशा मुट्ठी बन्द करके रखते थे, मुख में कोई खिला दे तभी खाते थे अन्यथा नहीं।

परन्तु ऐसा करने के लिए बहुत ताकत चाहिए। हमने ऐसे महात्मा को भी देखा जो अनेक वर्षों तक काष्ठ-मौन रहे, पर अन्त में उन्होंने यही कहा कि ऐसे नियम नहीं लेने चाहिए। हमने भी नर्मदा-परिक्रमा के समय प्रण किया था कि नर्मदा का तट नहीं छोड़ेंगे। नर्मदा ने कैसे भी करके उसे निभाया पर अन्त में हमें सबको यही सलाह देनी पड़ी कि ऐसा नियम न रखें। यह नियम रख सकते हो कि एक गाँव से दूसरे गाँव का रास्ता तट से दूर है तो भी उससे निकल जाएँगे, पर शाम को नर्मदा तट पर अवश्य पहुँच जाएँगे। साधक को देश-काल तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही कोई नियम लेना चाहिए। जैसे भूख लगी तो भिक्षा कर ली, कहीं भिक्षा नहीं मिली तो भी मन में क्षोभ न हो, यह सहज प्रवृत्ति है। तुम बिना भिक्षा किए चुप बैठ जाओगे तो भूख लगने पर तुम्हारा मन भजन में नहीं लगेगा, ऐसे में बहुत उधेड़-बुन होती है, बैठकर देखोगे तो पता लगेगा।

तुम सहज भाव से भिक्षा कर लोगे तो भजन में मन लग जाएगा। जिससे भजन करने में, अन्तर्मुख होने में सहयोग मिले वही काम करना चाहिए। माँ नर्मदा का चमत्कार तो परिक्रमा-काल में प्रतिक्षण मालूम होता है, भिक्षा पहुँचाने से ही मालूम पड़ेगा ऐसी बात नहीं है।

जिज्ञासा :- महाशिवरात्रिपर्व कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को ही क्यों मनाया जाता है? इसका आध्यात्मिक महत्व क्या है?

समाधान :- वैसे तो हर महीने की कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को शिवरात्रि कहते हैं, परन्तु फाल्गुन के कृष्णपक्ष की चतुर्दशी महाशिवरात्रि कहलाती है। शिवरात्रि कृष्णपक्ष में ही क्यों आती है, इसके पीछे भी एक रहस्य है। वैसे तो चन्द्रमा के बहुत-से स्वरूप हैं, परन्तु मुख्य रूप से दो स्वरूप अनुभव में आते हैं - अमावास्या और पूर्णिमा। पूर्णिमा में पूर्ण अभ्युदय है अर्थात् चन्द्रमा षोडशकलायुक्त है और अमावास्या है मोक्ष (निःश्रेयस)। मनुष्य जीवन के दो ही लक्ष्य हैं - अभ्युदय और निःश्रेयस। यतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (वैशेषिक दर्शन) शास्त्र में दो ही प्रकार के साधन बताए गए हैं, पहला अभ्युदय का और दूसरा निःश्रेयस का।

चन्द्रमा की षोडशकलाओं में से पन्द्रह कलाएँ घटने-बढ़नेवाली हैं। उन पन्द्रह कलाओं में भी चौदह ऐसी हैं जो घटती-बढ़ती दिखाई देती हैं, परन्तु एक कला अव्यक्त रहती है, इसलिए अमावास्या की तरह प्रतिपदा को भी चन्द्र-दर्शन नहीं होता है, द्वितीया को होता है। उस दिन चन्द्रमा तीन कलाओंवाला होता है, तभी तो पूर्णिमा को चन्द्रमा षोडशकलाओंवाला होगा। न दीखनेवाली दो कलाएँ कौन-सी हैं? एक स्वरूपभूता नित्याकला और दूसरी जीवकला। कृष्णपक्ष में कलाएँ क्षीण होती रहती हैं। चतुर्दशी (शिवरात्रि) तक जीवभाव के साथ कलारूपी जितनी उपाधियाँ थीं वे समाप्त होती जाती हैं। कृष्णपक्ष की चतुर्दशी में केवल जीवभाव विद्यमान रहता है, उसी का नित्याकला (शिव) में समर्पण होता है - यही है उमा का विवाह। यह एक रहस्य है। महाशिवरात्रि के दिन ही उमा भगवती ने महादेव को अपने जीवन का समर्पण किया था। अतः महाशिवरात्रि अपने जीवभाव के समर्पण का दिन है।

इस समर्पणभाव की प्राप्ति के लिए पहले उमा के समान तपस्या करनी पड़ती है। यह महाशिवरात्रि हमारे आध्यात्मिक जीवन का बहुत महत्वपूर्ण दिवस है। इस दिन इस प्रकार का एक विशेष योग आता है, जिसमें हमारे द्वारा की

जानेवाली चिन्तन, भजन और पूजन सारी क्रियाएँ अत्यन्त बलशाली होकर एक दिव्य लक्ष्य की ओर हमारे जीवन को ले जाती हैं। यही महाशिवरात्रि का बहुत बड़ा आध्यात्मिक महत्व है। यह हमको मोक्ष की ओर अग्रसर होने के लिए बड़ा प्रेरणादायक पर्व है।

पुराणों में आप पढ़ते-सुनते हैं कि जाने-अनजाने में भी किसी ने किसी विशेष मुहूर्त में कोई कार्य किया तो वह बहुत बड़ा फल देनेवाला हो जाता है। शिवपुराण में वर्णित महाशिवरात्रि-माहात्म्य-कथा में ऐसा सुना जाता है कि अनजाने में ही एक भील से रात्रि के चार प्रहर का पूजन हो गया, उसके समक्ष भगवान् शिव ने स्वयं प्रकट होकर उसे वरदान दिया।

इसी प्रकार एक कथा और भी आती है कि एक ब्राह्मण बालक अपने पिता के डाँटने पर घर से भागकर एक जंगल के शिवमन्दिर में चला गया। दैवयोग से उसी दिन महाशिवरात्रि का पर्व था। गाँव के लोगों ने उस मन्दिर में आकर चार प्रहर के चार पूजन किए। दिन भर के भूखे-प्यासे बालक ने रातभर जागकर पूजन देखा। उसकी दृष्टि तो रातभर भगवान् के नैवेद्य पर ही लगी रही कि कब खाने को मिले! चारों प्रहर का पूजन समाप्त होने के बाद लोग थोड़ा विश्राम करने लगे।

उस बालक ने धीरे-से मन्दिर में प्रवेश किया, वहाँ प्रकाश कम था। उसने अपने वस्त्र को जलाकर प्रकाश बढ़ा दिया, जिससे नैवेद्य के भोज्यपदार्थ दिखाई पड़ने लगे। वह प्रसन्न होकर उन्हें लेकर भागा। अन्धेरे के कारण किसी सोए हुए व्यक्ति पर उसका पैर पड़ गया और वह जोर से चिल्ला उठा - चोर! चोर!! लोगों ने उठकर उस भागते हुए बालक को पकड़ा और इतना पीटा कि वह वहीं हरि ॐ तत् सत् हो गया, उसकी मृत्यु हो गयी।

उसे लेने यमदूत पहुँचे, इतने में ही शिवदूत भी आ गए और उन दूतों में परस्पर विवाद होने लगा। यमदूत बोले, 'इसने माता-पिता को धोखा दिया है, अनेकों पाप किए हैं। इसके जीवन में कोई पुण्य नहीं है। इसलिए इसे नरक में ही जाना चाहिए।' शिवदूत बोले, 'तुम लोग नहीं जानते। इसने महाशिवरात्रि के दिन उपवास किया है, चौबीस घण्टे के व्रत का पालन किया है, चारों प्रहर का पूजन देखा है, और रात्रि में अपना वस्त्र जलाकर महादेव की आरती की

है। इसके इतने पुण्य हैं, अतः यह शिवलोक जाएगा।' कहने का तात्पर्य यह है कि यह ईश्वर-आराधना के लिए महापर्व है।

शिव की कृपाशक्ति के माध्यम से महाशिवरात्रि का एक ऐसा काल वर्षभर में आता है जिसमें बोया हुआ पुण्य का बीज बहुत शक्तिशाली होता है। अतः इस काल में बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है, महाशिवरात्रि के अवसर पर रात्रि में जागरण करना चाहिए। मन्त्रजप और शिवपूजन में तल्लीन रहना चाहिए। विवाह-शादी में तुम लोग रातभर जाग सकते हो, परन्तु महाशिवरात्रि की रात में तुमको निद्रा आ जाती है, तो इसे दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। अतः इस महा-अवसर का एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाना चाहिए।

जिज्ञासा :- गुरु-पूर्णिमा क्यों मनाई जाती है? साधक के जीवन में इसका इतना महत्व क्यों माना जाता है?

समाधान :- गुरु-पूर्णिमा को व्यास-पूर्णिमा भी कहते हैं। इसी दिन भगवान् व्यासजी का प्राकट्य हुआ था। इसी उपलक्ष्य में हम लोग गुरु-पूर्णिमा मनाते हैं। भगवान् व्यासजी की आज्ञा है कि जो लोग हमारे जन्मदिन को मनाना चाहते हैं वे अपने गुरुस्थान में जाकर अपने-अपने गुरु का पूजन करें, वह मेरा ही पूजन होगा। भगवान् व्यासजी को गुरुतत्त्व बहुत प्रिय था क्योंकि वे गुरुतत्त्व और परमात्मतत्त्व को अपने से अभिन्न मानते थे।

व्यासजी साक्षात् ज्ञान के अवतार थे। उन्होंने अठारह पुराण, महाभारत और ब्रह्मसूत्र की रचना की एवं वेदों का विभाजन किया। इस प्रकार भगवान् व्यासजी ने धर्म एवं अध्यात्म के विषय में हमें सब कुछ दे दिया। इसलिए गुरु-पूर्णिमा के पर्व पर हम गुरुस्थान में जाकर व्यासजी के रूप में अपने गुरुजनों का पूजन करते हैं।

कोई भी पर्व देश और काल के सम्बन्ध को लेकर होता है। देश-काल का निर्णय शास्त्र करता है, जैसे आप प्रतिदिन उज्जैन में क्षिप्रा-स्नान करें तो उससे लाभ ही है, परन्तु कुम्भ के समय में शास्त्र ने उसका बहुत बड़ा महत्व बताया है। इसी प्रकार पूर्णिमा तो प्रत्येक मास में आती है, पर गुरु-पूर्णिमा गुरुतत्त्व से सम्बन्धित है, इसलिए इसका विशेष महत्व है। यह बात शास्त्र ही बताता है, इसमें बुद्धि लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है। शास्त्र वही बताता

है जिसे हम लोग प्रत्यक्ष एवं अनुमान से नहीं जान सकते और जो हमारे लिए हितकर हो। यह गुरु-पूर्णिमा का समय तो गुरुपर्व हो गया और हमारे हृदय में गुरुतत्त्व का सम्बन्ध जिस स्थान को लेकर बना है, वह स्थान गुरुस्थान हो गया। अपने-अपने गुरुस्थान में जाकर प्रत्येक व्यक्ति एक ही गुरुतत्त्व से सम्बन्धित होता है।

साधक के लिए इस पर्व से बढ़कर कोई भी दूसरा पर्व नहीं हो सकता है, इसे भले ही आज का व्यक्ति न समझे। वर्षभर में इस पर्व पर शिष्य जब गुरुस्थान में पहुँचता है, तो बहुत कुछ प्राप्त कर लेता है। गुरु-पूर्णिमा का सम्बन्ध गुरुस्थान से है, इसमें व्यक्ति विशेष का महत्व नहीं है। साधक वहाँ पहुँचता है तो परम्परागत गुरुशक्ति उसे प्राप्त होती है, जो अन्य कहीं से प्राप्त नहीं हो सकती है। वहाँ जाकर वह अपने अन्दर की 'बैटरी' को 'चार्ज' करता है और सालभर व्यवहार में खर्च करता है। अतः प्रत्येक सम्प्रदाय में गुरुपर्व का अत्यधिक महत्व है।

जिज्ञासा :- व्रत में क्या-क्या अनिवार्य नियम होते हैं?

समाधान :- प्रत्येक व्रत में कुछ सामान्य एवं अनिवार्य नियम होते हैं चाहे वह व्रत छोटा हो या बड़ा। झूठ न बोले, किसी प्राणी की हिंसा न करे, ब्रह्मचर्य का पालन करे, किसी से परिग्रह न ले, क्रोध न करे और चोरी न करे, ये नियम मुख्य रूप से हैं। इनका पालन यदि व्रत करनेवाला नहीं करेगा तो व्रत खण्डित हो जाएगा। जैसे, विश्वामित्रजी यज्ञ की रक्षा करने हेतु रामजी को माँगने के लिए दशरथ के पास गए। दशरथ बोले, 'आप इतने समर्थ हैं, उन राक्षसों को भस्म क्यों नहीं कर देते?' विश्वामित्रजी ने कहा, 'मैंने यज्ञ का व्रत लिया है, अतः मैं क्रोध नहीं कर सकता। क्रोध के बिना वे भस्म नहीं होंगे क्योंकि बिना क्रोध किए शाप नहीं दिया जाएगा और यदि मैं क्रोध करता हूँ तो यज्ञ नष्ट हो जाएगा।'

दूसरा उदाहरण देखिए, रावण तलधर में देवी का तामस यज्ञ कर रहा है, माँसादि की आहुति दे रहा है, रामसेना के वानर यज्ञ में विघ्न करने के लिए उसकी सब सामग्री उठाकर फेंक देते हैं, यज्ञमण्डप में विष्टा कर देते हैं और उसको लात-धूसों से मारते हैं। तब वह आँख बन्द कर लेता है और मन से सामग्री बनाकर हवन करने लगता है। बाहरी सामग्री नष्ट होने पर भी उसका यज्ञ

नष्ट नहीं हुआ। उसने मन से सामग्री और मन ही से अग्रिकुण्ड बनाकर आहुति देना शुरू कर दिया। परन्तु जब वानरों ने मन्दोदरी को परेशान करना शुरू किया, तब रावण को क्रोध आ गया और यज्ञ तुरन्त नष्ट हो गया। देखो, सामग्री नष्ट होने से यज्ञ नष्ट नहीं हुआ पर क्रोध करने से नष्ट हो गया, क्रोध का इतना प्रभाव है। इसलिए चाहे छोटा-सा भी व्रत हो उसमें सावधानी बरतना बहुत आवश्यक है, तभी वह सफल हो सकता है अन्यथा नहीं।

जिज्ञासा :- प्रदोष व्रत कैसे करना चाहिए?

समाधान :- प्रदोष व्रत में व्यक्ति प्रातःकाल स्नान आदि करके नित्य कर्म करे और व्रत का संकल्प करे। दिनभर सतत ध्यान रखे कि आज मेरा व्रत है। किसी भी व्रत के विषय में कुछ अनिवार्य नियम हैं जैसे - झूठ नहीं बोलना, चोरी नहीं करना, क्रोध नहीं करना, हिंसा नहीं करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना और परिग्रह नहीं लेना। इन सबका इस व्रत में भी पालन करें।

इस व्रत में व्यक्ति दिनभर अन्न-जल के बिना रहकर सतत मन्त्र-चिन्तन करता रहे। शाम को स्नान आदि करके प्रदोष काल में महादेव का अभिषेक करे, पूजन करे, पूजा तो संक्षिप्त या विस्तृत दोनों ही प्रकार से हो सकती है। पूजन के बाद भोजन ग्रहण करे। भोजन में एक अन्न ही ग्रहण करे। प्रायः गेहूँ से बने पदार्थ (रोटी या दलिया) ही ग्रहण करते हैं। नमक वर्जित है, अतः दूध ले सकते हैं। व्रत तो दूसरे दिन सुबह पूर्ण होगा, इसलिए रात्रि में भी सचेत रहना चाहिए। सोते समय गद्दा, तकिया, चारपाई आदि का प्रयोग न करे।

जिज्ञासा :- व्रतकाल में भी हमारे अन्दर काम, क्रोध आदि की वृत्तियाँ उठ ही जाती हैं, इसके लिए क्या उपाय करें?

समाधान :- यदि किसी को व्रतकाल में भी काम, क्रोध, लोभ, मोह की वृत्तियाँ उठती हैं तो उचित है कि उन्हें अन्दर ही रहने दे और व्यवहार में प्रकट न करे। इस प्रकार साधक सह ले तो धीरे-धीरे उनका निराकरण हो जाएगा। इन वृत्तियों को सहने का निरन्तर अभ्यास करने पर धीरे-धीरे ऐसी भी स्थिति आएगी कि ये वृत्तियाँ उठेंगी ही नहीं।

जिज्ञासा :- पातञ्जल योगसूत्र में एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् (२.३१) - यह सूत्र आया है। यहाँ कहे गये महाव्रत को स्पष्ट करने की कृपा करें।

समाधान :- लोग कहते हैं कि हम भी अहिंसक हैं, पर कैसे अहिंसक हैं? अपनी जातिवाले को नहीं मारेंगे। मुसलमान कहता है कि मुसलमान को नहीं मारेंगे, पर काफिर को मारेंगे। इसी प्रकार ब्राह्मण को नहीं मारना, साधु को नहीं मारना या किसी भजन करनेवाले को नहीं मारना, यह एक जाति-विशेष से अवच्छिन्न (सीमित) अहिंसा है। इसी प्रकार किसी तीर्थ में हिंसा नहीं करेंगे, उसके बाहर कर सकते हैं, यह देश-विशेष से अवच्छिन्न अहिंसा है। कुछ लोग कहते हैं कि पूर्णिमा, अमावस्या, एकादशी या जन्माष्टमी को हिंसा नहीं करेंगे, अन्य दिनों में करेंगे, ऐसी अहिंसा कालावच्छिन्न अहिंसा है।

सामान्यरूप से काल और समय का अर्थ तो एक ही होता है, पर यहाँ समय का अर्थ नियम लिया गया है। सामान्य परिस्थिति में अहिंसक रहते हुए किसी विशेष परिस्थिति में ही हिंसा करेंगे, ऐसा नियम कोई ले सकता है। जैसे, कोई कहे कि गौ, ब्राह्मण, देवस्थान, साधु इत्यादि की रक्षा के लिए तो हिंसा करेंगे पर अन्य परिस्थिति में नहीं - यह हुई समयावच्छिन्न अहिंसा। इसी प्रकार से सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह, ये यम भी देश-कालादि से अवच्छिन्न हो सकते हैं।

जाति, देश, काल, और समय से जो अवच्छिन्न होता है, वह व्रत हुआ, परन्तु किसी जाति, किसी देश, किसी काल, किसी समय से जो व्रत अवच्छिन्न अर्थात् सीमित नहीं होता, बल्कि जिस व्रत में सभी देश-कालादि में पूर्णरूप से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन यमों का पालन किया जाता है, किसी भी नियम या परिस्थिति को लेकर हिंसा आदि के लिए तनिक भी स्थान नहीं रहता, ऐसा व्रत महाव्रत कहलाता है। सामान्य व्यक्ति के लिए तो सीमित व्रत से काम चल सकता है, पर जिसे समाधि प्राप्त करनी है, ईश्वर-दर्शन करना है, उसके लिए तो महाव्रत का पालन आवश्यक है।

जिज्ञासा :- गिरा अरथ जल बीचिसम कहिअत भिन्न न भिन्न।

बंदउँ सीतारामपद जिन्हहि परमप्रिय खिन्न॥

(मानस, बाल.-१८)

यहाँ सीता और राम में अभेद का कथन करने के लिए इस चौपाई में जो शब्द और अर्थ तथा जल और तरंग के दृष्टान्त दिए हैं, वहाँ तो भेद ही दीखता है। फिर सीता और राम में अभेद कैसे सिद्ध होगा?

समाधान :- शिव और शक्ति में, सीता और राम में कितना भेद है यह विचार इस दोहे में किया गया है। गिरा कहते हैं शब्द को और अर्थ कहते हैं उस वस्तु को जो शब्द के द्वारा समझी जाती है। जैसे, हमने घट कहा तो घट यह शब्द हुआ और कम्बुग्रीवादिमान् अर्थात् एक विशेष आकृतिवाला पदार्थ जिसको हम घड़ा कहते हैं, उसका अर्थ हुआ। शब्द और अर्थ में वस्तुतः भेद नहीं है क्योंकि आपको किसी को अर्थ बताना हो तो शब्द से ही बताना पड़ता है। शब्द श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से जब भीतर जाता है तब अर्थ प्रकट होता है।

दूसरा उदाहरण दिया है जल और बीच। बीच कहते हैं - तरंग को। जल और जल की तरंग में भी कोई भेद नहीं है। सामान्य रूप से जहाँ भी दो शब्दों के बीच में 'का', 'की', लगता है, वहाँ भेद मालूम पड़ता है। जैसे, आपकी पुस्तक, आपका घर, यहाँ पुस्तक और घर आपसे भिन्न होते हैं। पर यहाँ तरंग जलरूप ही है, जल थोड़ा ऊपर उठा हो तो उसी का नाम तरंग हो जाता है। अर्थात् बोलने मात्र को भिन्न है, इसीलिए कहा - कहिअत भिन्न। ऐसे ही शिव की शक्ति, सीता और राम, यहाँ पर भी वस्तुतः भेद बिल्कुल नहीं है। जैसे, सोने का गहना, मिट्टी का घड़ा, यहाँ भी परस्पर भेद दिखाई देता है। पर वस्तुतः भेद नहीं है क्योंकि न तो मिट्टी से अतिरिक्त घड़ा है और न ही सोने से अतिरिक्त गहना। इसी प्रकार तुलसीदासजी कहते हैं - ऐसे ही सीता और राम हैं, दोनों में भेद प्रतीत होने पर भी वास्तविक भेद नहीं है। फिर आगे कहते हैं - जिन्हहि परमप्रिय खिन्न, जिन सीताराम और पार्वती परमेश्वर को दीन-दुःखीजन अतिप्रिय हैं, उनके चरणों को मैं प्रणाम करता हूँ।

जिज्ञासा :- प्रत्येक वेद में चार भाग रहते हैं। इसमें उपनिषद् भाग में सब उपनिषद् रहते हैं। फिर ब्राह्मण भाग में कुछ उपनिषदों को ग्रहण करने का उद्देश्य क्या है?

समाधान :- वस्तुतः उपनिषद् भाग कोई अलग वस्तु नहीं है। वेद के दो ही भाग हैं - मन्त्र और ब्राह्मण। आर्य समाज के लोग ब्राह्मण भाग को वेद नहीं मानते। परन्तु अपने यहाँ की वैदिक परम्परा में- मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्, (आपस्तम्बस्मृति-२४.१.३१) मन्त्र-ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है। वेद के मन्त्र भाग में हो, चाहे ब्राह्मण भाग में, जहाँ भी तत्त्वज्ञान और उसकी अन्तरंग-सहायक उपासना के विषय में चर्चा है उस भाग का नाम उपनिषद् है। वह मन्त्र और ब्राह्मण किसी भी भाग में हो सकता है। कहने का तात्पर्य है कि वेदों में उपनिषद् नामक अलग कोई विभाग नहीं है।

जिज्ञासा :- वेद के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहा जाता है, पर प्रायः सभी उपनिषदों में उपासना प्रकरण भी देखने को मिलता है। फिर उपरोक्त कथन का क्या तात्पर्य है?

समाधान :- उपनिषदों में तत्त्वज्ञान सम्बन्धी विचार हैं और उपासना सम्बन्धी भी। पर उस उपासना का सम्बन्ध ज्ञान से ही होता है। प्रत्येक उपनिषद् में ज्ञान-भाग से पहले उपासना-भाग आने में एक बड़ा रहस्य है। उपासना का सम्बन्ध श्रद्धा से होता है वहाँ बुद्धि की विशेष अपेक्षा नहीं है और ज्ञान का सम्बन्ध मुख्यतः बुद्धि से है। परन्तु ज्ञानमार्ग में भी यदि बुद्धि श्रद्धा-समर्पित नहीं है तो तत्त्वबोध नहीं हो सकता। बुद्धि श्रद्धा-समर्पित नहीं है तो उसमें अहंकार बना ही रहता ही है और जब तक सीमित अहंकार रहता है तब तत्त्वज्ञान हो नहीं सकता। इसलिए श्रद्धा को दृढ़ करने के लिए प्रत्येक ज्ञान-प्रकरण के पहले थोड़ा उपासना-प्रकरण आवश्यक है। उस उपासना को करने से साधक की बुद्धि श्रद्धा-समर्पित हो जाती है। ऐसी बुद्धि ही तत्त्व को ग्रहण करने में समर्थ होती है।

जिज्ञासा :- क्या आगमशास्त्र शिष्टजनों द्वारा ग्राह्य है?

समाधान :- आगमशास्त्र में दो भेद हैं। एक वह जिसने वैदिक परम्परा को तोड़ दिया उसको **वामाचार (कौलाचार)** कहते हैं और दूसरा जिसने वैदिक मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया उसको **समयाचार** कहते हैं। शिष्टजनों ने समयाचार को तो गृहीत कर लिया और वामाचार को त्याग दिया। वामाचार में भले ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है, परन्तु शिष्टजनों ने उसका त्याग ही किया है। तर्कप्रधान व्यक्ति मर्यादा को तर्क से काटता है। वामाचारी लोगों का तर्क है कि जैसे वैदिक परम्परा का पशुयाग मर्यादा के विरुद्ध है, परन्तु वैदिक परम्परा में होने के कारण वह धर्म का रूप धारण कर लेता है। ऐसे ही हम (वामाचारी) जो प्रतिपादन करते हैं उसे भी धर्म ही मानना चाहिए।

परन्तु शास्त्र की बहुत-सी बातें तर्कगम्य नहीं होती हैं, जैसे, कुछ स्मृतियों में कहा गया है कि कलियुग में संन्यास नहीं लेना चाहिए। यहाँ निषेध करने का दृष्टिकोण यही है कि आज अधिकांश व्यक्तियों में शास्त्रानुसार संन्यास का अधिकारित्व नहीं है। कोई कहे कि यह तो संन्यास का खण्डन करते हैं जबकि संन्यास तो वैदिक परम्परा है। हाँ, संन्यास वैदिक परम्परा है यह सभी जानते हैं, पर यह परम्परा संन्यास लेने का अधिकार किसको देती है? यदि उस अधिकार के बिना संन्यास हो रहा है तो उसको वास्तविक संन्यास नहीं कह सकते। उसका खण्डन क्यों न करें!

जिज्ञासा :- आगमशास्त्र के अनुसार मल कितने हैं। इस शास्त्र के अनुसार मुक्ति का क्या स्वरूप है? कृपया इस विषय में विस्तार से समझाइए।

समाधान :- आगमशास्त्र में तीन मल मानते हैं—**आणव मल, मायिक मल, और कार्मज मल**। आणव मल का लक्षण है—**स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता। (परम्परया)** अपनी स्वतन्त्रता को भूल जाना। चेतन का स्वातन्त्र्य ही विश्व के रूप में प्रकट होता है। आगम के अनुसार आप स्वातन्त्र्य से शरीर में आए हैं। आज भी आप स्वतन्त्र हैं, चाहें तो इसी क्षण मुक्त हो सकते हैं। पर फैलाई हुई अनेक इच्छाओं के कारण आपको अपनी स्वतन्त्रता का भान नहीं हो रहा है। शक्तिदृष्टि से इसको कहते हैं - **स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य** और शिवदृष्टि से कहते हैं -

स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता, दोनों का एक ही अर्थ है, दोनों **आणव मल** हैं। यह मल पृथ्वी से लेकर शिव पर्यन्त सभी तत्त्वों में है, केवल परमशिव में नहीं है। शिव में भेद-दर्शन तो नहीं है, परन्तु भेद का बीज रहता है। ऐसे ही आणव मल में भेद का बीज है, परन्तु भेद-दर्शन नहीं है। आणव मल आवरण-शक्ति के समान है।

दूसरा मल मायातत्त्व से प्रारम्भ होता है। माया अर्थात् भेद-दर्शन। यही **मायिक मल** है। माया के पाँच कार्य मानते हैं, इनको पञ्चकञ्चु भी कहते हैं - **राग, कला, नियति, विद्या और काल**। ईश्वर में सर्वकर्तृत्व है और जीव में थोड़ा है। ईश्वर में जो सर्वकर्तृत्व था वह जीव में आकर अल्पकर्तृत्व हो गया, अर्थात् संकुचित हो गया। जिसके द्वारा वह संकुचित हुआ उसका नाम है - **कला**। जिसके द्वारा सर्वज्ञत्व संकुचित हो गया उसका नाम है - **विद्या**। जिसके द्वारा नित्यस्रष्टृत्व संकुचित हो गया उसका नाम है - **राग**। जिसके द्वारा नित्यत्व संकुचित हो गया उसका नाम है - **नियति**। जिसके द्वारा अपने को मरनेवाला समझता है, उसका नाम हो गया - **काल**। इन्हीं पञ्चकञ्चुओं में बँधने से इसकी जीव संज्ञा हो गई। सांख्यदर्शन में इसी को पुरुष कहते हैं। अभी तक इसका किसी कर्म से सम्बन्ध नहीं है, पर भेद-दर्शन विद्यमान है। सांख्यदर्शन में भेद-दर्शन तो मानना ही पड़ता है क्योंकि वे अनेक पुरुष मानते हैं।

फिर वह माया प्रकृति को धारण कर लेती है। प्रकृति को लेकर पुरुष कर्म करता है तो जन्म-मरण का चक्र प्रारम्भ हो जाता है। यहाँ **कार्मज मल** आ जाता है। इस प्रकार प्रकृत्यण्ड, मायाण्ड और शक्त्यण्ड ऐसे तीन अण्ड हैं। **आणव** में केवल शक्ति है, वहाँ माया नहीं है।

आगमशास्त्र का कहना है कि पाञ्चभौतिक लोकों से ऊपर भी अनेक सूक्ष्म लोक हैं। सांख्ययोगी पुरुषतत्त्व का शोधन कर लेगा तो प्रकृत्यण्ड से मुक्त हो जाएगा, उसका यहाँ पर जन्म नहीं होगा। परन्तु यह वास्तविक मुक्ति नहीं है क्योंकि मायाण्ड के सूक्ष्मजगत् में अभी उसको बहुत-कुछ भान हो रहा है। वह मायाण्ड के लोकों में रहेगा। जब मायाण्ड को भी पार कर लेता है, तब शक्त्यण्ड में पहुँचता है, परन्तु वहाँ कोई नया पुरुषार्थ नहीं बनता। पहले के ही पुरुषार्थ के बल से वह धीरे-धीरे आगे बढ़ता जाता है। जब शिव और शक्ति के भाव से ऊपर

जाएगा तब परमशिव तत्त्व को प्राप्त हो जाएगा, जिसको वेदान्त में ब्रह्म कहते हैं। आगममतानुसार यही पूर्ण मुक्ति है।

जिज्ञासा :- द्वैतवाद के ग्रन्थों में मायावाद का खण्डन क्यों किया है?

समाधान :- शास्त्र के तात्पर्य को समझना पड़ता है। शास्त्र में कहीं भी कोई निन्दा की गई है वहाँ पर तात्पर्य निन्दा में नहीं है, किसी अन्य की स्तुति में है। जो अनधिकारी व्यक्ति बातें तो वेदान्त की करता है और अन्दर से वासनाग्रस्त है, उसकी वहाँ निन्दा की गई है। द्वैतवाद के ग्रन्थों में भक्ति का प्रकरण है। जहाँ सगुण-साकार भक्ति का प्रकरण है, वहाँ यदि किसी की बुद्धि तेज हो और भक्ति को आच्छादित कर रही हो, तो उससे बचाने के लिए मायावाद का खण्डन किया गया है। वस्तुतः मायावाद का खण्डन अद्वैत का खण्डन करने के लिए नहीं किया गया है, अपितु विशिष्टाद्वैत में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए किया गया है।

जिज्ञासा :- एक ही भगवान् व्यासजी ने शिवपुराण में शिव को, देवीपुराण में देवी को, विष्णुपुराण में विष्णु को और गणपतिपुराण में गणपति को श्रेष्ठ दिखाया है। क्या यहाँ विसंगति नहीं है?

समाधान :- ईश्वरतत्त्व एक है और वह अनाम-अरूप है, पर यदि जीव उपासना करेगा तो नाम-रूप को लेकर ही करेगा। इसलिए शिवपुराण में उस तत्त्व का नाम शिव रख दिया, तो ब्रह्मा और विष्णु को शिव से उत्पन्न हुआ बताया है और विष्णुपुराण में उसका नाम विष्णु रख दिया, तब ब्रह्मा और शिव को विष्णु से उत्पन्न हुए बताया है। देवीपुराण में उसका नाम देवी रख दिया, तो सभी की उत्पत्ति देवी से बताई। इसी प्रकार गणपतिपुराण में उसी तत्त्व का नाम गणपति रख दिया। उस अनाम-अरूप परमेश्वर का जो भी नाम रख लो, विसंगति तो कुछ नहीं हुई।

जिज्ञासा :- इस जगत् का सबको प्रत्यक्ष अनुभव होता है फिर शास्त्र इसे मिथ्या कैसे कहता है?

समाधान :- अनुभव होने मात्र से जगत् सत्य है ऐसा निर्णय आप नहीं कर सकते हैं। इसलिए शास्त्र इसे मिथ्या कहता है तो कुछ गलत नहीं कहता। जैसे आपको खिला-पिलाकर कमरे में सुला दिया, कोई समस्या नहीं है। उसी समय स्वप्न आया और उसमें आप पाँच दिन के भूखे हैं और जंगल में भटक गए, इतने में पुलिस ने आपको चोर समझकर पकड़ लिया तो समस्या ही समस्या है। जिस समय आपको समस्या का अनुभव हो रहा है, वास्तव में उस समय भी कोई समस्या नहीं है।

मान लीजिए उस स्वप्न में जिस समय पुलिस आपको पकड़कर आपके मोहल्ले से ले जा रही है और लोग देखकर हँस रहे हैं, उस समय आपके मन की क्या दशा होगी। उसी समय यदि कोई साधु बोल दे - क्यों दुःखी होता है, सब सपना है, तो आपको इतना क्रोध आएगा कि बस चले तो उसका सिर फोड़ दें। लेकिन आपके जगने के बाद तो साधु की बात ही सच्ची निकलेगी और आपका अनुभव झूठा हो जाएगा। जिस अनुभव को आप सत्य के लिए प्रमाण मान रहे हैं वह प्रमाण कहाँ रहा? वह केवल व्यवहार के विषय में प्रमाण है, सत्य के विषय में नहीं। ठीक इसी प्रकार इस जाग्रत जगत् के विषय में भी हमारा अनुभव प्रमाण नहीं अपितु शास्त्र ही प्रमाण है। जब आप अपने स्वरूप में जागेंगे तो शास्त्र की बात ही सत्य सिद्ध होगी और आपका अनुभव मिथ्या हो जाएगा।

जिज्ञासा :- तैत्तिरीय उपनिषद् के - यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् (२.१.१) इस मन्त्र के भाष्य में गुहा का अर्थ बुद्धि किया है, यह अर्थ कैसे बनेगा?

समाधान :- गुहा शब्द गुह संवरणे धातु से बना है। संवरण का अर्थ है छिपा लेना या आच्छादन कर देना। बुद्धि में ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता ये तीनों पदार्थ छिपे हुए हैं। बुद्धि ही ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता तीन रूप धारण करती है। ये तीनों बुद्धि में छिपे हैं तभी तो प्रकट होते हैं। बुद्धि का ही एक अंश प्रमाता (ज्ञाता), एक प्रमाण (ज्ञान) और एक अंश प्रमेय (ज्ञेय) हो जाता है। यदि शंका करो कि ज्ञेय बुद्धि का रूप कैसे है? तो देखो, स्वप्न में सारा ज्ञेय कहाँ से प्रकट होता है? वहाँ बुद्धि ही ज्ञेयरूप में प्रकट होती है। इसलिए ज्ञेय भी वास्तव में

बाहर नहीं है, आपके अन्दर ही है। इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय बुद्धि में ही छिपे होने के कारण बुद्धि को श्रुति ने गुहा शब्द से कहा है।

जिज्ञासा :- वेद शब्दराशि है, शब्द आकाश का गुण है और आकाश प्रकृति से उत्पन्न होता है तब तो वेद भी प्रकृति का कार्य हुआ। फिर वेद को नित्य कैसे कहा जा सकता है?

समाधान :- वेदान्तमतानुसार केवल एक ही तत्त्व है जो पूर्ण नित्य है और वह है परमात्मा, वही एक सत्ता है। इसके अतिरिक्त सारा नामरूप चाहे वह वेद हो या अन्य कुछ सब उसीमें कल्पित है। मूलतत्त्व की दृष्टि से तो सभी नित्य हैं पर कार्य दृष्टि से परमात्मा के अलावा सभी अनित्य हैं। फिर वेद को नित्य क्यों कहते हैं, यह विचारणीय है।

यहाँ समझना चाहिए कि जैसे महाभारत आदि ग्रन्थ किसी ने बनाए हैं इस प्रकार से वेद की सृष्टि नहीं हुई। ऋषियों ने समाधि अवस्था में वेदमन्त्रों का साक्षात्कार किया है, नया मन्त्र नहीं बनाया। जैसे वैज्ञानिक किसी वस्तु की खोज करता है तो नया कुछ नहीं बनाता, केवल अज्ञात को प्रकट कर देता है। जैसे, बृहस्पति के उपग्रहों की खोज की गई तो इसका अर्थ यह नहीं कि पहले वे नहीं थे। इतना ही है कि पहले ज्ञात नहीं थे और अब ज्ञात हो गए। इस प्रकार वेद किसी की कृति नहीं हैं, किसी के द्वारा जन्य नहीं हैं। इसलिए इन्हें नित्य कहते हैं। हाँ, तत्त्व-साक्षात्कार होने पर वेद भी बाधित हो जाते हैं क्योंकि हैं तो ये भी कल्पित ही।

जिज्ञासा :- तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य में कहा गया है - 'निश्चयविज्ञानवतो हि कर्तव्येषु अर्थेषु पूर्वं श्रद्धा उत्पद्यते' (२.४.१)। निश्चयात्मिका बुद्धिसम्पन्न पुरुष को सबसे पहले कर्तव्य कर्म में श्रद्धा ही उत्पन्न होती है। प्रश्न यह है कि श्रद्धा न होने पर निश्चित विज्ञान उत्पन्न ही कैसे होगा?

समाधान :- यहाँ श्रद्धा दो प्रकार की है। एक मनोमयकोश में और दूसरी विज्ञानमयकोश में। पहले तो मन में शास्त्र के प्रति सामान्य श्रद्धा होगी,

तब उसके अर्थों को श्रद्धापूर्वक गृहीत करेगा। इसके बाद बुद्धि से विचार करके अर्थ का निर्धारण करेगा। तब निश्चित विज्ञान होगा। इसके बाद ही कर्तव्य में प्रवृत्ति होगी। विज्ञान के लिए जो श्रद्धा है वह पूर्व में होगी और प्रवृत्ति के लिए जो श्रद्धा है वह विज्ञान के बाद में होगी। इसलिए श्रद्धा के पूर्व निश्चित विज्ञान की उत्पत्ति में कोई विरोध नहीं है।

जिज्ञासा :- तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि मनोमयकोश से मन सहित वाणी लौट आती है, अर्थात् यह कोश मन-वाणी का विषय नहीं है। परन्तु मनोवृत्तिरूप सुख-दुःख को तो हम जानते हैं। यह ज्ञान कैसे होता है?

समाधान :- सुख-दुःख को मन नहीं, बल्कि आप ही जानते हैं। आपका स्वरूप ही ऐसा है कि मन की वृत्ति सुखाकार या दुःखाकार होते ही आप उसे जान लेते हैं। ये सुख-दुःख साक्षीभास्य हैं, मन-वाणी के विषय नहीं। सुख-दुःख के विषय में आप वाणी से संकेतमात्र कर सकते हैं, पर ठीक-ठीक अभिव्यक्त नहीं कर सकते। जैसे, कोई व्यक्ति मिठाई खाए और उसे कोई पूछे कि कैसा लगा तो वह कहेगा - मीठा। अब यदि उससे पूछे कैसा मीठा लगा तो वह शब्द से नहीं बता सकता। केवल संकेत कर सकता है। इसी दृष्टि से वहाँ मनोमय कोश को मन-वाणी का अविषय कहा गया है।

जिज्ञासा :- आगमशास्त्रों में प्रत्यभिज्ञा का वर्णन प्रायः देखा जाता है। कृपया इसका अर्थ समझाइये?

समाधान :- प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है - पहचान। बहुत-सी चीजों के विषय में हमें जिज्ञासा होती है और वे चीजें हमारे सामने भी होती हैं पर हम उनको पहचान नहीं पाते। इसलिए उनसे कोई लाभ हमें नहीं होता। आगम के प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में विचार किया है कि परिच्छिन्न दर्पण में देखने पर हमें ऐसा प्रतीत होता है कि दर्पण में मुख दीख रहा है। पर कोई एक ऐसा काल्पनिक व्यापक दर्पण हो जिसमें सारा विश्व प्रतिफलित होता हो तो आपको दर्पण की पहचान नहीं हो पाएगी क्योंकि उसमें परिच्छिन्नता नहीं है। जैसे स्वप्न में आपका मन ही सम्पूर्ण दृश्य होकर भासता है पर आपको पहचान नहीं होती है कि मेरा संकल्प ही सारा दृश्य हो गया है।

इसी प्रकार हमारा स्वरूप जगत् का आधारभूत तत्त्व है। वह आवृत्त भी नहीं है क्योंकि जिसके प्रकाश से सभी प्रकाशमान हो रहे हैं, उसे कोई आवृत्त कैसे कर सकता है? जड़ पदार्थ उसे आवृत्त कर नहीं सकता क्योंकि उसकी सत्ता ही चेतन के अधीन है। जिस नेत्र से सम्पूर्ण रूप दीखता है, वह नेत्र आवृत्त कैसे होगा? परन्तु जिस प्रकार ~~सं~~ सम्पूर्ण रूप को आप देख रहे हैं उस प्रकार से नेत्र को देख नहीं सकते।

‘आत्मनस्तत्प्रकाशत्वं यत्पदार्थावभासनम्’ (अपरोक्षानुभूति-२२) - अहंकार और शरीर से लेकर बाहर का सारा विश्व चाहे भाव हो या अभाव, जिससे ज्ञात होता है वही आत्मप्रकाश है, वही साक्षी है। परन्तु उसकी हमें पहचान नहीं है क्योंकि वह सामान्य है। शास्त्र उसके विषय में बताता है - प्रतिबोधविदितं मतम् (केन उप.-२.४) अर्थात् प्रत्येक बोध में, हमें होनेवाले प्रत्येक ज्ञान में वही साक्षी अनुस्यूत है, उसी को लक्षित करो। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन कहता है कि हमारा स्वरूप प्रकट है बस, उसकी पहचान नहीं है क्योंकि व्यक्ति की दृष्टि उपाधि में ही फँसी है। उपाधियों को छोड़कर उनमें अनुस्यूत बोध पर ही दृष्टि रखने का अभ्यास करते-करते जब उसकी पहचान हो जाएगी तब कोई समस्या नहीं रहेगी।

जिज्ञासा :- पुराणों में कहीं देवी अथवा अप्सराओं के अंग-प्रत्यंग का वर्णन आता है तो कहीं-कहीं शृंगार रस का अत्यधिक विशद वर्णन है। धर्म और ईश्वर का प्रतिपादन करनेवाले पुराणों में मन में विकार उत्पन्न करनेवाले इस प्रकार के वर्णन का क्या औचित्य है?

समाधान :- एक बात समझनी चाहिए कि पुराणों में किया गया वर्णन देवभाषा संस्कृत में है। संस्कृत ऐसी भाषा है जिसमें ऐसा वर्णन पढ़ने पर भी मन में विकार नहीं आता। वही बात हिन्दी या अन्य भाषा में कहें तो खराब लगती है। संस्कृत में जो वर्णन किया जाता है वह स्वाभाविक होता है और स्वाभाविकता में गलत वृत्ति नहीं आती। अन्य भाषाओं में ऐसा सामर्थ्य नहीं है, यह एक रहस्य है जिसे संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ व्यक्ति नहीं समझ सकता।

दूसरा रहस्य यह है कि व्यक्ति का मानसिक स्तर जितना नीचा होता है

उतने ही विकृत रूप से शब्द उसको प्रभावित करता है। जैसे रामायण में वर्णन आता है कि जानकीजी को पहली बार देखने पर रामजी के मन में जो वृत्ति आई उसे उन्होंने सहज रूप से लक्ष्मण से कह दिया और यह भी कहा कि मेरा मन इससे पहले इस प्रकार कभी किसी के प्रति आकृष्ट नहीं हुआ। फिर विश्वामित्रजी से भी यह बात बताई। रामजी के कहने में कहीं कोई विकृति नहीं मालूम पड़ती और न ही ये सुनकर लक्ष्मण या विश्वामित्रजी को कुछ गलत लगता है। व्यक्ति का जीवन जब निर्दोष रहता है तो किसी बात को सहज रूप से कहने में उसको कोई विकल्प नहीं होता। व्यासजी पुराणों के रचयिता हैं, फिर भी व्यासजी की उत्पत्ति जिस प्रकार हुई उसे सहज भाव से पुराणों में कहा गया है। शास्त्र सचाई को छिपाने का अपराध कभी नहीं करता। मन में विकार होने पर निष्पक्ष शास्त्र के द्वारा किए गए वर्णन में भी विकृति मालूम पड़ती है। आजकल लोग संस्कृत न पढ़कर उसका अनुवाद पढ़ते हैं इसलिए उनको विकृति मालूम पड़ती है।

जिज्ञासा :- शास्त्रों में चेतन से ही सम्पूर्ण सृष्टि मानी गयी है, परन्तु वैज्ञानिक और चार्वाक आदि तो मानते हैं कि जड़-भूतों की उत्पत्ति स्वाभाविक ही होती है और उनकी एक विशेष अवस्था में चेतनता उत्पन्न होती है। इनमें कौन-सा मत ठीक है?

समाधान :- यदि जड़ का विकास चेतनरूप में हुआ तो इस विकासक्रम का कोई नियन्ता है या नहीं, यह विचार करना पड़ेगा। सृष्टि का विकास एक सुनियोजित क्रम से दीखता है, अतः इसका कोई नियन्ता अवश्य होना चाहिए। जड़ में तो बुद्धि है नहीं और वैज्ञानिक-मतानुसार सृष्टि के पहले चेतन था नहीं, तो वह नियन्ता कौन है? इसके उत्तर में विज्ञान कहता है कि स्वभाव से ही सृष्टि और उसका विकास होता है, परन्तु यह तर्क तो ठीक नहीं लगता।

एक लड़का सत्संगी था, पर उसका पिता धर्मादि को नहीं मानता था और कहता था - सत्संग में समय बर्बाद क्यों करते हो? उसने कहा, ‘जिज्ञासा होती है कि यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ और इसका नियन्ता कौन है? इसके समाधान के लिए सत्संग में जाता हूँ।’ पिता बोला, ‘अरे, इसमें सोचना क्या है? जगत् तो अपने आप उत्पन्न हो जाता है।’ एक दिन लड़के ने एक सुन्दर चित्र

बनाया जिसमें सुन्दर बगीचे में उसका पिता बैठा था। चित्र को सजाकर मेज पर रख दिया। ऑफिस से आते ही पिता ने पूछा, 'अरे! यह चित्र किसने बनाया?' लड़के ने कहा, 'यहाँ बहुत-से रंग पड़े थे, उनके मिलने से अपने-आप बन गया होगा।' पिता ने उसको डाँटा और कहा, 'ऐसा सुन्दर चित्र अपने-आप कैसे बन सकता है?' लड़के ने जवाब दिया, 'जब इतना बड़ा जगत् अपने-आप बन सकता है तो इस चित्र के बनने में क्या समस्या है?'

यह नियम है कि जहाँ भी कोई सृष्टि होती है उसका कर्ता कोई-न-कोई चेतन ही होता है। अतः जगत्-विकास की इस व्यवस्था का संचालक भी चेतन ही हो सकता है। इसलिए शास्त्र का जो मत है कि सृष्टि के मूल में चेतन है, वही ठीक है। जड़-भूतों के मिश्रण से चेतनता उत्पन्न होती है यह एक भ्रान्तिमात्र है।

जिज्ञासा :- तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है कि स्वप्न में आनन्दमय कोश की उपलब्धि विज्ञानमय कोश पर आश्रित होकर ही होती है। परन्तु अन्य ग्रन्थों में आता है कि पूर्व संस्कारों के अनुसार मन का परिणाम ही स्वप्न है। फिर स्वप्न में मनोमय कोश के आश्रित आनन्दमय कोश होता है, ऐसा कहना क्या उचित नहीं होगा?

समाधान :- पहले प्रकरण का तात्पर्य समझना चाहिए। पंचकोशों में हमने जो अहं कर रखा है उसे निकालने में तात्पर्य है, बैठाने में नहीं। व्यवहार में भी देखा जाता है कि किसी वस्तु का पहले एक वृत्त्यात्मक सामान्य ज्ञान होता है, फिर उसके विषय में निश्चय होता है। संकल्प-विकल्प मन में होता है और निर्णय बुद्धि करती है, अतः मनोमय कोश पहले है उसके अनन्तर विज्ञानमय कोश। यह सत्य है, शास्त्र का यह तात्पर्य है, यह कार्य इस प्रकार करना है इत्यादि सारा निर्णय विज्ञानमय कोश में ही होता है। इसलिए कर्तृत्व विज्ञानमय कोश में माना गया है।

विज्ञानमय कोश में भी दो स्तर हैं - बहिर्मुखता और अन्तर्मुखता। बहिर्मुखता व्यक्ति को पहले कर्म में लगाती है और कर्मफल प्राप्त होने पर वह अन्तर्मुख होता है। विज्ञानमय कोश का अन्तर्मुख होना यही आनन्दमय कोश

की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार आनन्दमय कोश का आश्रय विज्ञानमय कोश ही है। विज्ञानमय कोश में कर्तृत्व है, उसी कर्तृत्व की अन्तर्मुख दशा अर्थात् आनन्दमय कोश में भोक्तृत्व आ जाता है। क्रिया जड़ में होती है, उसे लेकर कर्तृत्व होता है पर अन्तर्मुखता में चेतन-प्रधान होकर भोक्तृत्व आ जाता है। आनन्दमय कोश मनोमय कोश के आश्रित नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ कोई निश्चय नहीं है। निश्चय होने पर ही कर्तृत्व आता है और जहाँ कर्तृत्व होगा, वहीं भोक्तृत्व होगा। विज्ञानमय कोश में कर्तृत्व होने से उसके आश्रित ही आनन्दमय कोश होता है।

तैत्तिरीय में स्वप्न-दृष्टान्त देने में भाष्यकार भगवान् का इतना मात्र तात्पर्य है कि जाग्रत का जिस प्रकार का संस्कार है, उसी प्रकार से स्वप्न में अनुभव कर लेता है, पर वहाँ जाग्रत का कोई पदार्थ नहीं है।

जिज्ञासा :- आगम और निगम में क्या अन्तर है?

समाधान :- सृष्टि के आदि में परमात्मा के निःश्वासरूप से जो ज्ञानराशि स्वाभाविक ही प्रकट होती है उसी का नाम वेद है, उसी को निगम भी कहते हैं। कृपामूर्ति माँ पार्वती के पूछने पर जो ज्ञानोपदेश शिवजी ने किया उसका नाम है - आगम।

आगतं शिववक्त्रात्तु गतं च गिरिजामुखे।

मतं श्रीवासुदेवेन आगमस्तेन कीर्तितः॥ (परम्परया)

जो ज्ञान शिवजी के मुख से निकला, पार्वतीजी ने श्रवण किया और भगवान् विष्णु ने जिसका समर्थन किया, उसी का नाम हुआ - आगम। इस आगम शास्त्र में दर्शन, तन्त्र, उपासना आदि सभी विषयों का विशद वर्णन किया गया है।

वैदिक परम्परा में अधिकारी को बहुत महत्व दिया जाता है। अनधिकारी में वह प्रवृत्त नहीं होती। वैदिक दृष्टि से पढ़ने के लिए अधिकार की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु तन्त्र में उस ज्ञान का विस्तार इस ढंग से किया कि सामान्य व्यक्ति भी ऊपर उठ जाए।

जिज्ञासा :- शास्त्रों में कई प्रकार के तत्त्वों की चर्चा आती है। तत्त्व शब्द का अर्थ क्या है?

समाधान :- शास्त्र के अनुसार तत्त्व की परिभाषा है - जो प्रलय पर्यन्त रहे उसका नाम तत्त्व है। मकान या महल तत्त्व नहीं होता, परन्तु पृथ्वी तत्त्व है। मकान तो कभी-भी नष्ट हो जाएगा, पर पृथ्वी प्रलय पर्यन्त रहती है। अतः उसका नाम तत्त्व है। सांख्यदर्शनवाले २५ तत्त्व मानते हैं। आगम शास्त्र में ३६ तत्त्व माने जाते हैं। जैसा-जैसा दार्शनिकों ने विचार किया उसी प्रकार से उन्हें तत्त्वों की प्रतीति हुई। जैसे आज के वैज्ञानिक भी तत्त्वों की खोज करते हैं। पहले कुछ तत्त्व ज्ञात थे। अब और खोज होने पर उनकी संख्या बढ़ गयी है।

जिज्ञासा :- ईशावास्योपनिषद् में विद्या-अविद्या की निन्दा क्यों की गई है, ये तो शास्त्रीय मार्ग हैं?

समाधान :- यहाँ विद्या का अर्थ है - उपासना और अविद्या का अर्थ है - कर्म। यहाँ कर्म शब्द का तात्पर्य है शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान। हम जो खाना-पीना आदि व्यवहार करते हैं, इसका नाम कर्म नहीं है। ये तो स्वाभाविक क्रियाएँ हैं, भूख लगेगी तो भोजन करेगा, प्यास लगेगी तो पानी पीएगा। इसके लिए शास्त्रविधि की आवश्यकता नहीं है। **कर्मणा पितृलोकः। (बृह. उप.-१.५.१६)** कर्म का फल स्वर्गलोक की प्राप्ति है। व्यक्ति अन्य कुछ न भी करे, अपने वर्णाश्रम धर्म का शास्त्रानुसार पालन करे एवं निषिद्ध कर्म न करे, तो वह चाहे ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, चाहे वैश्य हो अथवा शूद्र, स्वर्गलोक को प्राप्त करेगा। भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञ करने से भी स्वर्ग प्राप्ति होती है, परन्तु उनके बिना भी केवल अपने स्वधर्मानुष्ठान से स्वर्ग प्राप्त कर लेता है। यहाँ शंका होती है जो अभ्युदय का हेतु है ऐसे कर्म की निन्दा क्यों की गई है - **अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यां उपासते। (ईश. उप.-१)** कर्म का फल अनित्य है, इससे जो भी फल होगा उसका अवश्य ही नाश होगा। कर्म से नित्य तत्त्व प्राप्त नहीं होता। अतः इसकी निन्दा कर दी।

विद्यया देवलोकः। (बृह. उप.-१.५.१६) उपासना का फल ब्रह्मलोक है। परन्तु ऐसी उपासना की भी आगे निन्दा की गई है - **ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः। (ईश. उप.-१)** जो लोग कर्म छोड़कर केवल उपासना में लगते हैं वे और अधिक अन्धकार में जाते हैं। उपासक शास्त्रीय कर्म छोड़ेगा तो अपराध होगा ही क्योंकि वह संन्यासी तो है नहीं, कर्म उसके लिए

विहित है। जब तक व्यक्ति ब्रह्मलोक पर्यन्त किसी भी प्रकार के फल की वासनावाला है, तब तक वह यज्ञोपवीत का त्याग नहीं कर सकता और जब तक व्यक्ति यज्ञोपवीतधारी है तब तक वह उपासना करते हुए भी कर्म का त्याग नहीं कर सकता। इसलिए उसे उपासना की प्रधानता रखते हुए साथ में शास्त्रीय कर्म भी करना ही पड़ेगा।

यदि उपासक शास्त्रीय कर्म नहीं करेगा तो स्वाभाविक प्रकृति से कर्म होंगे जिन्हें शास्त्र में मृत्यु शब्द से कहा गया है। शास्त्रीय कर्म न करने का प्रत्यवाय और स्वाभाविक कर्मों से होनेवाला पाप ये दोनों उसकी उपासना में प्रतिबन्धक बन जाएँगे जिससे वह उपासना का फल प्राप्त नहीं कर पाएगा। इसी दृष्टि से केवल विद्या की निन्दा की गई। जब उपासक शास्त्रीय कर्म करता है तो इस मृत्यु को पार कर लेता है। फिर उपासना से देवभाव की प्राप्ति हो जाती है। इसी बात को ईशावास्य में कहा है - **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। (ईश. उप.-११)** इस प्रकार विद्या व कर्म के समुच्चय का विशिष्ट फल यही है कि उसके जीवन में कोई गतिरोध नहीं आ पाता और वह शीघ्र ही देवभावरूप फल को प्राप्त कर लेता है। इसलिए शास्त्र की दृष्टि समझना आवश्यक है। शास्त्र किसी की निन्दा करता है तो वह निन्दा के लिए नहीं, अपितु विधेय की स्तुति के लिए करता है।

यहाँ पर भी विद्या-अविद्या दोनों अभ्युदय के हेतु होने पर भी इनकी जो अलग-अलग निन्दा की गई, वह इन दोनों के समुच्चय (साथ-साथ अनुष्ठान) का विधान करने के लिए की गई है। केवल उपासना से देवलोक की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु उपासना के साथ-साथ आप नित्य कर्मों का अनुष्ठान भी करेंगे तो फलप्राप्ति में शीघ्रता होगी। इसके लिए ही समुच्चय का विधान है।

जिज्ञासा :- आगमशास्त्र के अनुसार कुण्डलिनी मूलाधार में सुप्त रहती है और वहीं से इडा, पिंगला एवं सुषुम्ना नाडियों का उद्गम मानते हैं। दूसरी ओर शतं चैका हृदयस्य नाड्यः (कठ. उप.-२.३.१६) इस श्रुति में हृदय से सभी नाडियों का उद्गम बताया है। इस विरोध का समन्वय कैसे होगा?

समाधान :- आगमशास्त्र में ऐसी बातें आती हैं, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि नाडियों का मूलाधार से सम्बन्ध है तो हृदय से सम्बन्ध ही नहीं है। साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी परम्परा से तो प्रत्येक नाड़ी का हृदय से सम्बन्ध

है। जिन नाड़ियों के द्वारा रुधिर हृदय में आकर फिर पूरे शरीर में फैलता है उनका तो हृदय से साक्षात् सम्बन्ध है। विज्ञान के अनुसार भी नाड़ियों में होनेवाला रक्त-संचार हृदय के माध्यम से ही होता है, इसलिए हृदय से प्रत्येक नाड़ी का सम्बन्ध मानना ही पड़ता है। हृदय में ही रक्त का शोधन होकर सभी नाड़ियों में उसका संचार होता है। हृदय से सभी नाड़ियों का सम्बन्ध है, इसमें कोई संशय न होने पर भी भिन्न-भिन्न शास्त्रों में उनके उद्गम-स्थान आदि के विषय में जो भेद दीखता है, यह शास्त्र की प्रक्रियाओं का भेदमात्र है।

जिज्ञासा :- शिवसूत्र नामक ग्रन्थ में ज्ञानं बन्धः (२) - ऐसा सूत्र आता है। भला, ज्ञान बन्धन कैसे हो सकता है?

समाधान :- शिवसूत्र में प्रथम सूत्र है - चैतन्यम् आत्मा और द्वितीय सूत्र है - ज्ञानं बन्धः। प्रथम सूत्र में जो आत्मा शब्द है उसके आगे द्वितीय सूत्र का ज्ञानं पद है। वहाँ संहिता पाठ मानकर अवच्छेद करने पर अज्ञानं बन्धः, ऐसा अर्थ भी निकल सकता है और ज्ञानं बन्धः, यह अर्थ तो है ही। आप कहेंगे अज्ञान बन्धन है यह तो हम जानते हैं, पर ज्ञान भी बन्धन है, यह पहली बार सुन रहे हैं। विचार कीजिए कि आपको जगत् का जितना ज्ञान हो रहा है वह बन्धन ही तो है। आपको जो भी भेद ज्ञान हो रहा है वह अज्ञान पर टिका है और वह भेद ज्ञान ही बड़ा भारी बन्धन है। एक चैतन्य में ही यह मेरा मकान, मेरा परिवार, मेरे माता-पिता, यह अच्छा, यह खराब - इस प्रकार का जो दुनिया भर का ज्ञान हो रहा है वह बन्धन ही तो है।

चैतन्यम् आत्मा - आपका स्वरूप चेतन है, फिर आप अपने मैं को जड़ से क्यों जोड़ रहे हो? जहाँ भी जड़ में आपका मैं जाता है उसे वहाँ से हटाओ। यह स्थूल शरीर भोगायतन है, सूक्ष्म शरीर करण है और तुम स्वयं चेतन हो। तुममें कोई बन्धन नहीं है, परन्तु अज्ञान से बन्धन की प्रतीति हो रही है। तुम सचाई भूलकर झूठ में जीने लगे हो, इसलिए समस्या हो रही है। यह जो घट, पट, वृक्ष इत्यादि अनन्त प्रकार का ज्ञान हो रहा है, इसी में लगकर तुम सचाई को भूल ही गये हो। मैं चेतन हूँ, यह भूल गए तो बन्धन ही होगा। इसलिए अज्ञानं बन्धः या ज्ञानं बन्धः कोई भी अर्थ लीजिए, दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

जिज्ञासा :- शास्त्र में मुख्य सम्प्रदाय कितने हैं, कृपया बताएँ।

समाधान :- गीता के अनुसार विचार करें तो दो ही सम्प्रदाय दिखाई देते हैं - एक कर्मयोग और दूसरा ज्ञानयोग। कुछ व्याख्याकार कहते हैं कि एक तीसरा सम्प्रदाय भक्तियोग भी है। कुछ लोग ज्ञान-कर्म-समुच्चय को एक अलग सम्प्रदाय मानते हैं। भक्ति-कर्म-समुच्चय एक अलग सम्प्रदाय है, ऐसा माननेवाले लोग भी हैं। परन्तु भाष्य के अनुसार विचार करने पर तो दो ही सम्प्रदाय (कर्मयोग और ज्ञानयोग) दिखाई देते हैं। इनसे भिन्न तीसरा स्वतन्त्र सम्प्रदाय नहीं है।

जिज्ञासा : गीता भाष्य में मातृगण, चतुर्भंगिनी, विनायक आदि तामस देवताओं में गिनाए गये हैं, ये देवता कौन-से हैं? यहाँ भूतानि का अर्थ पञ्चभूत क्यों नहीं ले सकते?

समाधान : यहाँ भूत शब्द से पञ्चभूत (स्थूलभूत) को नहीं ले सकते क्योंकि प्रकरण सात्त्विक, राजस और तामस उपासना का है। तामस उपासना के देवता भूतगण हैं, इनके लिए तामस ढंग से बलि इत्यादि होती है। यहाँ विनायक गण का अभिप्राय गणेशजी से नहीं है। इन देवताओं में जो विनायकगण, सप्तमातृका, चतुर्भंगिन्यादि हैं, ये सब भूतकोटि के छोटे देवता हैं। यहाँ ओंकारेश्वर क्षेत्र में नर्मदा तट पर एक सप्तमातृका का पुराना मन्दिर था। कुछ समय पूर्व तक वहाँ बलि चढ़ती थी, अब तो ओंकारेश्वर बाँध बनने से वह डूब गया है। ऐसा मन्दिर हमें यहीं पर देखने को मिला था, दूसरी जगह दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इन देवताओं की उपासना तमःप्रधान एवं क्षुद्र होती है।

जिज्ञासा :- आप कहते हैं कि जीव कभी ईश्वररूप नहीं हो सकता है, परन्तु दक्षिणामूर्तिस्तोत्र की फलश्रुति में 'स्यादीश्वरत्वं स्वतः'(१०) - ऐसा कहकर जीव को ईश्वरत्व प्राप्ति बताई गयी है। इस विरोधाभास का समाधान कैसे होगा?

समाधान :- विचार कीजिए कि जीव संज्ञा किसकी है और ईश्वर संज्ञा किसकी है? दोनों औपाधिक संज्ञाएँ हैं। एक ब्रह्म की ही दो अलग-अलग उपाधियों से दो संज्ञाएँ बनती हैं। दो अलग-अलग उपाधियों सहित दो वस्तुओं

में एकता नहीं हो सकती। जैसे, एक 'लाख पावर का बल्ब' लगा है और एक 'जीरो पावर का'। दोनों के प्रकाश में एकता नहीं हो सकती। परन्तु दोनों उपाधियों को छोड़ दो तो विद्युत में एकता है। अब कहो कि दक्षिणामूर्तिस्तोत्र के अनुसार तो जीव है ही कहाँ? यदि आपकी अहंता शरीर और अन्तःकरण से सम्बन्धित है तो आप जीव हैं और आपमें पूर्ण अहंता उदित हो गयी तो आप ईश्वर हैं। एक व्यष्टि से आपका मैं जुड़ा हुआ है तो आप (जीव) की अहंता है और सम्पूर्ण विश्व को अपना शरीर मान रहे हो, तो वह ईश्वर की अहंता है। यदि ईश्वर की अहंता आपमें उदित हो जाती है तो आपमें ईश्वर भाव प्रकट होगा। यदि आपका बल्ब ईश्वर के बल्ब के समान बड़ा बन गया तो उतना प्रकाश क्यों नहीं होगा!

पूर्णाहंता किसका नाम है? जिस अहंता अन्दर सम्पूर्ण अहंताएँ आ जाती हैं - 'पूर्णाहंताकवलितं विश्वं योगीश्वरस्तथा।' (मानसोल्लास-१.१५) ज्ञानी में तो विशिष्ट अहंता है ही नहीं, न पूर्ण है और न अधूरी। वह स्वरूप में प्रतिष्ठित है, वहाँ ऐश्वर्य का कोई प्रश्न ही नहीं है। जहाँ अहंता है, वहाँ ऐश्वर्य होता है। अरे, लोक में भी यह दिखाई देता है, आपकी अहंता में जितनी ताकत है उतना आपका ऐश्वर्य दीखता है। साधक अपर ब्रह्म को प्राप्त करेगा, तो उसे सारी समृद्धि प्राप्त हो ही जाएगी। पर जहाँ विशिष्ट अहंता और विशिष्ट उपाधि है ही नहीं, वहाँ ऐश्वर्य की प्रतीति नहीं होती। विद्युत में कम या ज्यादा प्रकाश ऐसा कुछ होता ही नहीं। सब उपाधि के कारण भेद है।

आपका स्वरूप एकमेवाद्वितीयम् ही है वहाँ ऐश्वर्य कैसे हो सकता है! जहाँ उपाधि है वहाँ ऐश्वर्य होता है। उपासक उपासना करके देवताभाव को प्राप्त करता है तो उसकी अहंता विकसित हो जाती है, तब उसमें सामर्थ्य आने लगता है। ऐसे ही ब्रह्मलोक पर्यन्त अहंता का विकास है। हिरण्यगर्भ की अहंता सम्पूर्ण ज्ञान और क्रिया से विशिष्ट है। वहाँ पर सारा ऐश्वर्य प्राप्त होता है। पर वहाँ तक भी पूर्ण मुक्ति नहीं है, यह विकास-क्रम है। जहाँ पर विकास-क्रम है, वहाँ शक्ति बढ़ेगी, ऐश्वर्य बढ़ेगा, उसमें कोई बाधा नहीं है। दक्षिणामूर्तिस्तोत्र में इसी भाव से ईश्वरत्व-प्राप्ति की बात आगममतानुसार कही गई है। वेदान्तानुसार साधना करके जब ब्रह्मात्मैक्य की प्राप्ति होती है, तो वहाँ उपाधि नहीं रहती। इसी दृष्टि से हमने कहा था कि जीव ईश्वर नहीं हो सकता।

जिज्ञासा :- तैत्तिरीयोपनिषद् में वेदों को मनोमय कोश का अवयव किस दृष्टि से कहा गया है क्योंकि वेद तो शब्दराशि हैं? वहीं अन्त में वेदमन्त्रों को आत्मारूप बताने का क्या अभिप्राय है?

समाधान:- वेद शब्दराशि है, यह बात ठीक है, परन्तु इस शब्दराशि के श्रवण के बाद सुननेवाले के अन्दर एक ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अलग वस्तु है। जैसे, मुण्डकोपनिषद् में पहले वेद की सम्पूर्ण अक्षरराशि को अपराविद्या कहा और फिर कहा - अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। (१.१.५) इस अक्षरराशि से एक ऐसी विद्या उत्पन्न होती है जिसके द्वारा अक्षरतत्त्व का ज्ञान होता है, वही पराविद्या है। वह पराविद्या आपकी बुद्धि में ही उत्पन्न होगी। अक्षरराशि से उत्पन्न हुई और अक्षरराशि से भिन्न भी हुई। इस बात को हमें ध्यान में रखना चाहिए।

वेद का मनोमय स्वरूप वृत्तिरूप ही बनेगा। वेद मन्त्र के उच्चारण के बाद जो वृत्ति बनेगी वह आपके मन में बनेगी। मन्त्रों की आवृत्ति की जो बात वेदों में आती है, वह वृत्त्यात्मक मन्त्र की ही हो सकती है। उपासना आदि में सब जगह वृत्ति का ही प्रवाह होता है, स्मृति का प्रवाह नहीं होता क्योंकि वृत्ति का प्रवाह आपके अधीन है। स्मरण तो आपके चाहे बिना भी हो जाता है और कभी आप चाहें तो भी नहीं होता। स्मृति-प्रवाह संस्कारजन्य होता है और वृत्ति-प्रवाह प्रयत्नजन्य। स्मरण तो वृत्ति के बाद की वस्तु है। इसलिए वेद का पहला स्वरूप वृत्ति ही बनेगा। उस बनी हुई वृत्ति का आवर्तन ही उसका प्रवाह होगा। वेद में मन्त्र का आवर्तन कहा क्योंकि मन्त्र और वृत्ति एकरूप हैं। अक्षर, नाद, प्रयत्न, ध्वनि आदि से हमारे अन्दर किसी वस्तुविषयक एक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी का नाम है - वृत्ति। जैसे, आपने घट शब्द सुना उसके अनुसार आपके मन में एक वृत्ति बन जाती है।

जैसे गौ शब्द और वस्तु गौ का ज्ञान - दोनों में अन्तर है। इस प्रकार वेदमन्त्रों का जो वृत्त्यात्मक स्वरूप है उसे लेकर ही श्रुति ने मनोमय कोश के अवयवरूप से वेदों को कहा है। वेदराशि में नित्यत्व अक्षर का है कि उसके ज्ञान का? इस पर विचार करना पड़ेगा। शब्द सुनने के बाद आपके भीतर जो ज्ञानात्मक वृत्ति बनती है, वही शब्द का मुख्य स्वरूप है। यदि ऐसा न होता तो एक ही वस्तु के लिए विभिन्न भाषाओं में विभिन्न प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया जाता है और उन शब्दों से एक ही वस्तु का बोध होता है, यह सम्भव

न होता। क्या कोई एक शब्द-विशेष उस वस्तु के साथ नित्य सम्बन्ध रखता है अथवा सभी शब्द? ये दोनों ही पक्ष सम्भव नहीं हैं। शब्द का उच्चारण करने से पहले व्यक्ति में जो ज्ञानात्मक शब्द (वृत्ति) रहता है वह सभी भाषाओं में एक है। यह बाह्य शब्द तो उसका संकेतमात्र है।

दूसरा प्रश्न जो आपने पूछा कि इस प्रकरण में वेदमन्त्रों का मूलस्वरूप आत्मा को किस दृष्टि से बताया है। इस पर विचार करने पर हम देखते हैं कि वहाँ मन्त्रभाग में मनोमय कोश के लिए एक बात कही गयी है - यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। (तैत्ति. उप.-२.९) मनोमय कोश को मन और वाणी प्राप्त नहीं कर पाते। इस बात को सिद्ध करने के लिए वहाँ मन्त्रों को आत्मस्वरूप बताया गया है। मनोमय कोश के अवयवरूप से वेदों को कहा गया। विचार करने पर मालूम पड़ता है कि मनोमय कोश में वेद का स्वरूप वृत्त्यात्मक ही होगा। इन वृत्त्यात्मक मन्त्रों की प्रतिष्ठा कहाँ है? किसी भी उपाधि को लेकर जब वृत्ति बनती है, तो चैतन्य ही वृत्तिरूप से मालूम होता है। इसलिए वृत्ति की प्रतिष्ठा चैतन्य में ही है, आत्मरूपता में है। हमने यह संकेत मात्र कर दिया है कि वहाँ पर भाष्यकार भगवान् ने वेदमन्त्रों की प्रतिष्ठा अनादिनिधनचैतन्य में ही क्यों बताई है।

जिज्ञासा :- शास्त्रों में स्वर्ग या नरक के विषय में वर्णन आता है कि ये लोक पृथ्वी से बहुत दूर हैं। परन्तु योगवासिष्ठ के लीलोपाख्यान में वर्णन आता है कि मरणोपरान्त जीव अपने मृत्युस्थान में ही तत्-तत् लोकों की कल्पना कर लेता है, उसको सब वहीं भासते हैं। कृपया इस विरोधाभास का स्पष्टीकरण करें।

समाधान :- हमें तो यहाँ कोई विरोधाभास नहीं दीखता। मृत्यु के ठीक पहले जीव कर्म-संस्कारानुसार अगले शरीर को अहंतया पकड़ लेता है, फिर वर्तमान शरीर को छोड़ता है। मृत्यु के बाद उसे उसी प्रकार का अनुभव हो जाता है। स्वर्ग और नरक ये कोई काल्पनिक लोक नहीं हैं, शास्त्रोक्त लोकविशेष हैं और यदि तत्त्व-दृष्टि से देखो तो सारा जगत् ही कल्पनामात्र है। स्वर्ग और नरक मानने की आवश्यकता क्यों है, इस पर कुछ विचार कर लें।

कुछ कर्मों के फल ऐसे होते हैं जिनका भोग मनुष्य-शरीर में नहीं हो सकता। यदि आपके ऐसे पुण्य हैं जिनसे आपको निरन्तर युवावस्था में रहकर

लम्बे समय तक भोग भोगना है तो वह मनुष्य-शरीर में सम्भव नहीं है, बुढ़ापा आया ही। लम्बे काल तक लगातार किसी विषय का अनुभव आप नहीं कर पाएँगे, आपकी इन्द्रियाँ थक जाएँगी। ऐसा भोग तो देव-शरीर में ही सम्भव है, उसके लिए आपको स्वर्ग में जाना ही पड़ेगा। वहाँ आपकी नित्य युवावस्था ही रहेगी, इन्द्रियाँ भी नहीं थकेंगी, संकल्प मात्र से सारे भोग प्राप्त हो जाएँगे।

अब मान लीजिये किसी व्यक्ति ने किसी गाँव में अग्नि लगा दी जिससे पूरा गाँव जल गया। सैकड़ों मनुष्य और पशु-पक्षी जलकर भस्म हो गए। इस पाप के फलभोग में उसे सौ वर्ष तक अग्नि में जलने का दण्ड भोगना है तो उसे वह मनुष्य-शरीर में नहीं भोग सकता। अतः उस भोग के लिए उसे ऐसा नारकीय शरीर मिलेगा जिसमें सौ वर्ष तक अग्नि में जलने का अनुभव होता रहेगा और वह बेहोश भी नहीं होगा। इसलिए ऐसे भोग के लिए व्यक्ति को नरक में जाना ही पड़ेगा।

इस प्रकार व्यक्ति को कर्मानुसार स्वर्ग या नरक में शरीर मिलता है। व्यवहार में ये लोक वास्तविक हैं और देश-विशेष में अवस्थित हैं। इस व्यवहार-दृष्टि से कहा जाए तो स्वर्ग बहुत दूर है। परन्तु परमार्थ-दृष्टि से देखा जाए तो यहीं है। तात्पर्य यह कि एक चैतन्य-परमात्मा में सारे लोक कल्पित हैं। उस अधिष्ठान की दृष्टि से देखें तो सभी लोक एकदम पास में हैं, उनमें दूरी कहाँ है! परन्तु बाह्य (व्यावहारिक) दृष्टि से देखें तो पृथ्वीलोक से इनकी करोड़ों मील की दूरी हो जाती है।

लीलोपाख्यान में ही आता है कि देवी सरस्वती लीला को लेकर विदूरथ के पास कितने ही ब्रह्माण्ड लाँघकर गयी। वहाँ जो कहा कि विदूरथ का जीव उसी मण्डप में था, वह अधिष्ठान-दृष्टि से कहा है। पर व्यावहारिक-दृष्टि से वे दोनों कितने ही ब्रह्माण्ड लाँघकर विदूरथ के लोक में पहुँची। स्वप्न को ही देख लो, जाग्रत-दृष्टि से वह दो मिनट का होता है, पर उसमें आप सौ वर्ष का अनुभव कर सकते हैं। हृदयदेश बहुत छोटा है पर उसी में पर्वत, नदी आदि सभी वस्तुएँ दीख जाती हैं। इसका तात्पर्य यही है कि देश और काल दोनों ही कल्पित हैं। कल्पित में कितनी भी दूरी या देरी क्रमशः हो सकती है, पर अधिष्ठान की दृष्टि से कोई दूरी या देरी नहीं है।

तपस्या

जिज्ञासा :- तपस्या किस प्रकार से करनी चाहिए?

समाधान :- भगवान् भाष्यकार ने गीता भाष्य में कहा है, इन्द्रिय-निग्रहपूर्वक शरीर शोषण ही तपस्या है। आजकल लोग तपस्या का अर्थ उल्टा ही समझ लेते हैं। बिल्वपत्र खाकर रह जाना, एक पैर पर खड़ा रहना इत्यादि को ही लोग तपस्या समझ लेते हैं। किसी भी व्रत या तपस्या का मूल इन्द्रिय-निग्रह ही है। यदि इन्द्रिय-निग्रह नहीं होगा तो सारी तपस्या ढोंग बनकर रह जाएगी। दुनिया हमको तपस्वी समझे या न समझे, इससे साधक को क्या मतलब होना चाहिए! हम अपने को कैसा समझ रहे हैं? ईश्वर क्या समझ रहा है? बस, यही बात महत्वपूर्ण है।

आजकल लोग डॉक्टर को ही गुरु मानते हैं। जो बात शास्त्र कहे, गुरु कहे उससे कोई मतलब नहीं है। शास्त्र कहता है प्रतिदिन सुबह जल्दी उठो तो नहीं मानते, पर यदि डॉक्टर कहे कि सुबह पाँच बजे उठकर नहीं टहलोगे तो मर जाओगे, तब तुम तुरन्त मान लेते हो। डॉक्टर कहता है यह चीज मत खाओ तो तुम तुरन्त छोड़ देते हो, पर शास्त्र उपवास करने का निर्देश करता है तो नहीं मानते। ईश्वर-प्राप्ति से भिन्न लक्ष्य होने पर तपस्या में भी देहाध्यास बढ़ जाता है। अतः साधु को लक्ष्य को ध्यान में रखकर ही तपस्या करनी चाहिए।

जिज्ञासा :- शास्त्र में तपस्या का वास्तविक स्वरूप क्या कहा गया है?

समाधान :- भगवान् भाष्यकार ने तप का लक्षण बताया - इन्द्रियनिग्रहपूर्वकं शरीरशोषणम्। शरीर में जो दोष आ गए हैं उनके मार्जन के लिए इसको तपाना पड़ता है। तप-सहने धातु है। उपस्थित परिस्थिति को किसी प्रकार की प्रतिक्रिया किए बिना सह लेना और अपने मन की स्थिति को न बिगड़ने देना यह बहुत बड़ा तप है। गर्मी हो, ठण्ड हो, कोई गाली दे या स्तुति कर दे, उसे सह लो और मन में किसी प्रकार का विकार मत आने दो तो यही

आपकी तपस्या हो जाएगी। सब परिस्थितियों में समत्व बनाए रखना इससे बड़ा और कोई तप नहीं है।

जिज्ञासा :- साधना में इन्द्रिय-निग्रह को इतना महत्व क्यों दिया गया है?

समाधान :- देखिए, तपस्या में मूल वस्तु इन्द्रिय-निग्रह ही है। शरीर में भोगों द्वारा जो स्थूलता आई है, आलस्य आ गया है, वह निकलकर शरीर शुद्ध हो जाए एवं बड़े-बड़े कर्म करने की रजोगुणी प्रवृत्ति न रहे, इसके लिए उसका शोषण किया जाता है। पर यह शोषण इन्द्रिय-निग्रहपूर्वक ही होना चाहिए। इन्द्रिय-निग्रह का लाभ यह है कि आपकी जो शक्ति व्यर्थ खर्च हो रही है वह रुक जाएगी। जैसे किसी अन्धे व्यक्ति का नेत्रगोलक खराब हो जाता है तो उसकी वहाँ से शक्ति खर्च नहीं होती, वह श्रोत्रादि में काम करने लगती है जिससे उन इन्द्रियों की शक्ति बढ़ जाती है।

उत्तरकाशी में एक अन्धे महात्मा थे। वे जब अन्नक्षेत्र से भिक्षा लेकर वापिस आते तो ठीक अपनी कुटी के सामने के रास्ते से ही मुड़ते थे। जब उनसे पूछा कि आपको कुटी का पता कैसे लगता है? तो उन्होंने बताया कि गंगाजी की धारा की आवाज जगह-जगह बदलती रहती है। उसी आवाज से मैं अन्दाज लगा लेता हूँ कि कुटी का रास्ता यहाँ से है। उनकी नेत्र में खर्च होनेवाली शक्ति श्रोत्र में काम करने लगी थी। इसी प्रकार व्यक्ति की इन्द्रिय शक्ति जगत् में फैली हुई है, वहीं खर्च हो जाती है। इसलिए जब वह विचार में या ध्यान में बैठता है तो उसमें तन्मयता नहीं आ पाती। जब इन्द्रिय-निग्रह और मनोनिग्रह ठीक से सम्पन्न हो जाता है, तो व्यक्ति में वह शक्ति आ जाती है जिससे विचार और ध्यान सम्यक् प्रकार से कर सकता है।

जिज्ञासा :- सुनते हैं कि पहले ऋषि-मुनि केवल जल पीकर या वायु, बिल्वपत्र आदि ग्रहण करके तपस्या करते थे। क्या आज भी ऐसी तपस्या कर सकते हैं?

समाधान :- हम लोग शास्त्रों से बहुत-सी बातें सुनते हैं। पर सुनने मात्र से तो काम नहीं होता। सुनते हैं कि देवासुर-संग्राम में यहाँ के राजा लोग भी गये थे। सुनते हैं कि भीम हाथी को उठाकर आकाश में फेंक देते थे। योगियों के पास अणिमा, लघिमा आदि अष्टसिद्धियाँ होती हैं। वे आकाश-भ्रमण करते हैं। ये सब बातें सुनते हैं। पर जब खोजते हैं तो आजकल ये सब कहीं दीखते नहीं। इसी प्रकार सुनते हैं कि पहले के लोग जल पीकर अथवा केवल वायु-भक्षण करके तपस्या करते थे, पर ऐसी तपस्या आजकल दीखती नहीं। आज के समय में ऐसा करना बहुत कठिन है क्योंकि शरीरों का सामर्थ्य बहुत कम हो गया है।

शरीर-सामर्थ्य में देश, काल की बहुत भूमिका रहती है। आजकल का वातावरण शुद्ध नहीं है, इसलिए यदि कोई हठ करता है तो थोड़े ही दिनों में अस्वस्थ हो जाता है। आजकल खड़े होकर तपस्या करते हुए **खड़ेश्वरी** देखे जाते हैं, पर कुछ समय बाद उनके पैर फट जाते हैं और उन्हें कोई-न-कोई आधार लेना पड़ता है, झूला इत्यादि बनाना पड़ता है। इसीलिए भगवान् ने गीता में कहा है -

युक्ताहारविहारस्य

युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ (६.१७)

इस भगवद्वाक्य को जो नहीं मानता उसके लिए - 'योगो भवति दुःखदा'। इसलिए यदि कोई कठिन तपस्या करता है तो कोई हर्ज नहीं है, परन्तु जब देखे कि हमारा शरीर ठीक नहीं चल रहा है तो उस साधन को युक्ति से छोड़ देना चाहिए क्योंकि किसी हठ-साधन को पकड़ना इतना कठिन नहीं है जितना उसको छोड़ना। जैसे, अनशन करना सरल है, परन्तु अधिक समय के पश्चात् उसको तोड़ना बहुत कठिन होता है क्योंकि उस समय भूख बहुत लगती है। यदि व्यक्ति अधिक खा लेता है तो बीमार पड़ जाता है।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए कठिनाइयों का उतना ही सामना करना चाहिए, जितना शरीर सहन कर सके। यदि सहनशक्ति से अधिक हठ करोगे तो परमार्थ मार्ग में अभ्यास कैसे कर पाओगे? बिल्वपत्र खाकर तप करनेवालों को मैंने देखा है, पर ४-६ महीने से ऊपर यह नहीं चल पाता। उतने में ही प्रायः शरीर में समस्या आ जाती है। कुछ साधकों के जीवन में तो ढोंग आ जाता है, लोग

समझें कि कुछ नहीं खाता, पर चुपके से खा लेता है। साधक को ध्यान रखना चाहिए कि हमारे जीवन में धर्मध्वजित्व (दिखावा) नहीं आना चाहिए। जहाँ दिखावा आता है वहाँ जीवन इतना जटिल हो जाता है कि बाहर से हँसना पड़ता है और अन्दर से रोना। ऐसे जीवन से कोई फायदा नहीं है।

बिल्वपत्र में स्वर्णतत्त्व रहता है इसलिए बिल्वपत्र भोजन का काम करता है। यदि किसी को केवल बिल्वपत्र पर रहना हो तो भोजन कम करते-करते बहुत लम्बे काल तक अभ्यास करना पड़ता है। एकदम छोड़ने से काम नहीं चलता। शरीर का माता-पिता से सम्बन्ध होता है, वंश-परम्परा से सम्बन्ध होता है। इसलिए सबके शरीर और मन की सहन करने की क्षमता अलग-अलग होती है। इस बात को ध्यान में रखना चाहिए। यदि किसी को लम्बा उपवास करना हो तो पहले रेचक और कुञ्जल करके पेट को और शरीर के ऊपरी हिस्से को साफ करना पड़ता है। यदि शरीर में थोड़ा भी मल रहा तो उसकी जो गर्मी उठती है वह उपवास काल में बहुत घातक होती है। उपवास काल में दिन भर बैठे नहीं रहना चाहिए। घण्टा-दो-घण्टा धीरे-धीरे टहलना चाहिए। इन सब बातों का ध्यान रखकर ही इस प्रकार की तपस्या में प्रवृत्त होना चाहिए।

संन्यास

जिज्ञासा :- कृपया संन्यासधर्म के विषय में विस्तार से बताएँ।

समाधान :- संन्यासधर्म का विस्तार से वर्णन संन्यासी का ही विषय है। यह सार्वजनिक रूप से प्रकट करने का विषय नहीं है। परन्तु सामान्यरूप से शास्त्र जितना कहता है, उतना समझना चाहिए। हम तो पढ़ाते समय हमेशा कहते थे, 'न पढ़ने के लिए संन्यास लेने की कोई जरूरत है, न आश्रम बनाने के लिए और न ही प्रवचन करने के लिए। पैसा कमाने के लिए भी संन्यास की कोई आवश्यकता नहीं है। यह सब बिना संन्यास के भी हो सकता है।'

शास्त्र कहता है, केवल मोक्षार्थी के लिए ही संन्यास की विधि है। सर्वपरिग्रह के परित्याग को ही संन्यास कहते हैं। इस लोक का ही परिग्रह नहीं, बल्कि कर्म और उपासना के द्वारा प्राप्त होनेवाले जितने भी लोक हैं अर्थात् अभ्युदय की जो चरम सीमा है, वहाँ तक की वासना का परित्याग संन्यासी के द्वारा होना चाहिए। पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति। (बृह.उप.-४.४.२२/३.५.१)। विविदिषा संन्यास में दो बातें विचारणीय हैं - अहं और मम। व्यक्ति जब विरक्त होकर सचाई से घर छोड़ेगा तो मम को तोड़ देगा। यह मेरा परिवार है, यह मेरा धन है, ये मेरे खेत हैं और यह मेरा सम्बन्धी है, यह सब ममत्व टूटेगा तभी तो घर छोड़कर संन्यास लेगा। इतने से उसका बहुत बड़ा काम हो जाता है।

अब उसका एकमात्र कर्तव्य है शरीर के साथ जो अहं का सम्बन्ध है, उसको समाप्त करना। संन्यासी का मुख्य कर्तव्य यही है, इसी के लिए संन्यास लिया जाता है। यदि इसे नहीं किया तो जो अहं बचा रहेगा, वह फिर मम को बना लेगा। जड़ रहेगी तो वृक्ष फिर फैल जाएगा। संन्यासी के लिए जो धर्म अपेक्षित हैं, उन्हें शास्त्र ने कह दिया - कोई परिग्रह मत रखो, परिव्रजन करो अथवा एक स्थान पर रहो तो वेदान्त श्रवण करो।

दद्यान्नावसरं किञ्चित्कामादीनां मनागपि।

आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया॥ (योगवासिष्ठ)

प्रतिदिन उठने से लेकर सोने तक, ऐसा मृत्युपर्यन्त निरन्तर वेदान्त-चिन्तन में लगे रहेंगे तो जीवन में कामादि का अवसर नहीं आएगा।

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।

एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥ (पञ्चदशी-७.१०६)

परमात्मा का ही चिन्तन करे, उसी का ही कथन करे, परस्पर उसकी ही चर्चा करे। इसको ही विद्वज्जन श्रेष्ठ ब्रह्माभ्यास जानते हैं।

त्वंपदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम्।

श्रुत्या विधीयते यस्मात् तत्यागी पतितो भवेत्॥

(यतिधर्मसंग्रह-पृ.१५६)

त्वं-पदार्थ के विवेक के लिए संन्यास लिया जाता है। यदि उसको छोड़ देता है तो मुख्य लक्ष्य से पतित हो जाता है और उसका लक्ष्य दूसरा हो जाता है। मैं संन्यासी की बात कह रहा हूँ, ज्ञानी की नहीं क्योंकि ज्ञानी के लिए कोई कर्तव्य नहीं है। परन्तु जो विविदिषु संन्यासी है, उसका कर्तव्य है कि वह वेदान्त का चिन्तन करे, प्रणव जप करे और ममता एवं अहंता का त्याग करे। संक्षेप में हमने संन्यास-धर्म बता दिया है।

जिज्ञासा :- क्या जीव मुक्त हो सकता है? यदि हो सकता है तो क्या संन्यास उसका प्रधान उपाय है?

समाधान :- क्यों नहीं हो सकता! जीव मुक्त हो सकता है इसीलिए तो शास्त्रों में इसके लिए अनेक साधन बताए गये हैं। मुख्य बात यही है कि जीव एकमात्र मोक्ष चाहता है अथवा नहीं? यदि चाहता है तो जगत् की वासना टूट जाएगी। अब इसका एक ही मुख्य लक्ष्य रहेगा - आत्मदर्शन अर्थात् मोक्ष। इसी का नाम संन्यास है। यही मोक्ष का प्रधान उपाय है।

जिज्ञासा :- यदि ज्ञान-उत्पत्ति के लिए कर्म की अपेक्षा है तो ज्ञान होने के बाद ही कर्मत्याग सम्भव है, फिर विविदिषु-संन्यास की उपपत्ति कैसे होगी?

समाधान :- किसी साधक की मुमुक्षा इतनी तीव्र हो गई है कि संसार की किसी वस्तु को उसका मन गृहीत नहीं करता, परन्तु शास्त्र से जो कर्तव्य प्राप्त है (सन्ध्या, अग्निहोत्रादि), वह तो उसे करना ही पड़ेगा। वह कर्तव्य उसके ज्ञानाभ्यास में बाधक बनता है क्योंकि सन्ध्यापासना में उसको

‘अमुकगोत्रोत्पन्नोऽहम्’, ‘अमुककर्म अहं करिष्ये’ इत्यादि बोलना ही पड़ेगा। मैं सब विशेषों से रहित ब्रह्म हूँ, इस प्रकार के अभ्यास में ये सब बाधक होते हैं। शिखा-सूत्र के साथ जो कर्तव्य उसे प्राप्त हैं, उन्हें शास्त्रीय विधान से ही छोड़ा जा सकता है, इसी के लिए विविदिषु-संन्यास का विधान है। ऐसे साधक के लिए अब एक ही कर्तव्य रह गया -

दद्यान्नावसरं किञ्चित् कामादीनां मनागपि॥

आसुप्तोरामृतेः कालं नयेत् वेदान्तचिन्तया।(योगवाशिष्ठ)

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।

एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥(पञ्चदशी-७.१०६)

अब उसके ब्रह्माभ्यास करने में कोई प्रतिबन्धक नहीं है। उसके कर्म का विनियोग मुमुक्षा उत्पन्न करने में हो जाता है। इसलिए यदि कर्मों से चित्तशुद्धि होकर किसी में तीव्र वैराग्य और मुमुक्षा उत्पन्न हो गए हैं तो ऐसे साधक के लिए विविदिषु-संन्यास का विधान शास्त्र करता है। इसीलिए विविदिषु संन्यास की उपपत्ति में किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए।

जिज्ञासा :- क्या संन्यासी होना भी प्रारब्ध पर निर्भर होता है?

समाधान :- हाँ, ऐसा हो सकता है। सुना है पहले संन्यास बृहस्पति की कृपा से होता था, आजकल शनि की कृपा से होता है। शनि बहुत कष्ट उत्पन्न कर देता है, जिससे मन में विक्षेप होता है तो व्यक्ति संन्यासी हो जाता है। पहले बृहस्पति की कृपा होने पर व्यक्ति में विचार बहुत उत्पन्न होता था तो वह संन्यासी हो जाता था। प्रारब्ध संन्यासी का क्या करेगा! पर शरीर तो प्रारब्धस्वरूप ही है, इसलिए शरीर का प्रारब्ध है, संन्यासी का नहीं।

जिज्ञासा :- एक सच्चे संन्यासी की रहनी किस प्रकार की होनी चाहिए?

समाधान :- पुराने सन्त इस विषय में एक दृष्टान्त सुनाते थे। एक राजा के पास चार बड़े बहुमूल्य रत्न थे। राजा उनकी बड़ी सुरक्षा करता था। उन्हें अपने शयन-कक्ष में तख्त के चार पायों के नीचे दबाकर रखता जिससे सोते समय कोई ले न पाए। एक चोर ने उन रत्नों को चुराने का निश्चय किया। उसने बड़े धैर्य से महल के पिछले भाग से शयन-कक्ष में संध लगाई। अन्दर प्रवेश करके बड़ी ही युक्ति से चारों रत्न निकाल लिये और वहाँ से भागा। कुछ देर में

ही राजा की नींद खुली तो उसे ज्ञात हुआ कि रत्न चोरी हो गये। उसने चोर को पकड़ने के लिए सैनिकों को आदेश दिया। तब सैनिक चोर के पीछे भागे। भागते हुए वह एक लड़ाई के मैदान में पहुँचा जहाँ कई मुर्दे पड़े थे। बचने के लिए वह उनके बीच में मुर्दा बनकर लेट गया। जब उसके ऊपर सैनिकों के घोड़े चढ़े तो भी उसने आँख की पलक तक नहीं उठाई। मुर्दा बनकर ही लेटा रहा। जब सैनिक लौट गये तो रत्न लेकर सुरक्षित निकल गया।

इसी प्रकार साधक उपनिषदों का श्रवण करता है, उनमें महावाक्यों का श्रवण होता है। ये चार महावाक्य ही चार रत्न हैं, उन्हें लेकर भागे कैसे? अभी तो वह वेदप्रोक्त कर्तव्यों में ही जकड़ा हुआ है। माता-पिता के प्रति, घर के प्रति कर्तव्यों से बाँधा है। इन कर्तव्यों में रहकर महावाक्यों का विचार कैसे कर सकता है? वह धीरे-धीरे वैराग्य को पुष्ट करता है और एक दिन घर छोड़कर चल देता है। लोग पकड़ने के लिए पीछे आते हैं तो सोचता है कहाँ छिपे? यह जो संन्यासी का वेश है, मुर्दे के समान है। जैसे मुर्दे को कोई गाली दे, ठोकर मारे अथवा स्तुति करे, उसे कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार सच्चे संन्यासी को भी गाली से, ताड़ना से या स्तुति से कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। जब इस वेश में आ जाता है तो घरवालों से बच जाता है। अब शान्ति से वेदान्त-विचार कर सकता है।

पुराने सन्त कहते थे सच्चे संन्यासी को मुर्दे के समान ही रहना चाहिए। निन्दा-स्तुति में हर्ष-विषाद नहीं करना चाहिए। संग से बहुत बचना चाहिए। कहीं से भी पत्र आदि आए तो फाड़कर फेंक दे। यदि इस विषय में सावधान नहीं रहेगा तो लोग आकर फिर पकड़ेंगे। माया कहीं-न-कहीं बाँध देगी। एक बार संग छोड़ा है तो फिर संग में मत जाओ, **सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः। (मार्कण्डेय पु.-३४.२३)** उपदेश करना, यज्ञ करवाना, समाजसेवा, ये अच्छे कार्य हैं, पर संन्यासी के लिए ठीक नहीं हैं। उसका लक्ष्य दूसरा ही है। नर्मदा का पानी बाँध के द्वारा खेतों में जा रहा है यह अच्छा कार्य है, पर उसका समुद्ररूप लक्ष्य तो छूट गया। **संन्यासी का शौक फकीरी का होना चाहिए।** पहले के सन्तों को फकीरी का ही शौक था। उसी का उपदेश करते थे। संन्यास में त्याग का शौक होना चाहिए, कुटी या आश्रम का नहीं। सुविधाओं की इच्छा कम-से-कम करनी चाहिए।

जिज्ञासा :- संन्यास शब्द का अर्थ तो त्याग है और त्याग तो किसी

में भी हो सकता है। फिर एक विशेष सम्प्रदाय के लोगों को ही संन्यासी क्यों कहा जाता है?

समाधान :- कई शब्द ऐसे होते हैं जिनका अर्थ अनेक वस्तुओं में घट जाता है। जैसे पंकज शब्द की व्युत्पत्ति है - **पङ्काद् जायते** इति **पङ्कजः**, जो कीचड़ से उत्पन्न हो वह पंकज है। कीचड़ से तो कमल भी उत्पन्न होता है और घास-फूस, शैवाल इत्यादि भी उत्पन्न होते हैं। परन्तु लोक में यह शब्द कमल के अर्थ में रूढ़ हो गया है, अतः उसी अर्थ में प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार व्यवहार में 'जगत् से वैराग्य होने पर शास्त्रीय विधि से प्राप्त शिखा-सूत्र एवं कर्मों का विधिपूर्वक त्याग' - इसी अर्थ में संन्यास शब्द रूढ़ है। उसमें आश्रम संन्यास, विविदिषु संन्यास, विद्वत् संन्यास, आतुर संन्यास आदि अनेक अवान्तर भेद हैं।

कहीं-कहीं त्याग को लेकर भी संन्यास शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे गीता में भगवान् ने कहा - **स संन्यासी च योगी च न निरग्रिर्न चाक्रियः। (६.१)** जो व्यक्ति फलाभिसंधिरहित होकर कर्म करता है, उसने कर्मफल का त्याग किया है, अतः वह संन्यासी है। यहाँ त्याग को लेकर संन्यासी शब्द का प्रयोग किया गया। परन्तु वह मुख्य संन्यासी नहीं है क्योंकि उसने अग्रिसाध्य कर्मों का त्याग नहीं किया है। इस प्रकार किसी व्यक्ति में त्याग दीखने पर उसे संन्यासी कहा जा सकता है, पर वह गौण प्रयोग ही होगा।

जिज्ञासा :- शास्त्रीय संन्यास धारण करने के लिए क्या योग्यता होनी चाहिए?

समाधान :- मुण्डक उपनिषद् में कहा है - **परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। (१.२.१२)** व्यक्ति व्यवहार करते-करते जगत् की परीक्षा करता रहता है और एक दिन उसकी बुद्धि ठीक से स्वीकार कर लेती है कि **कृतेन अकृतः न**, कर्मों से मोक्षरूप नित्यफल की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। अभी मूल अज्ञान भले ही बैठा है, परन्तु यह विवेक उसकी बुद्धि में ठीक से समा गया कि जो भी कृतक (बनाया गया) होगा वह अनित्य ही होगा और मुझे नित्य ही चाहिए, अनित्य नहीं।

साधक की बुद्धि में तो शास्त्र सुनकर आ जाता है कि कर्मों से

उत्पन्न नहीं होता। इतने भोग भोगते हुए भी तृप्ति क्यों नहीं हो रही है? कर्मों का अन्तिम फल क्या है? उस फल से हमें लक्ष्य-प्राप्ति होगी या नहीं? जब इस प्रकार से प्रतिक्षण परीक्षा करते-करते उसकी बुद्धि में सम्यग्रूप से यह बात बैठेगी कि हमें अनित्य नहीं नित्य वस्तु ही चाहिए तब उसे **सम्पूर्ण भोगों और उनके साधनों से वैराग्य हो जाएगा - यही एषणात्रयत्याग है।** साथ ही उसे यह निश्चय भी हो जाएगा कि वह नित्य वस्तु कर्मों से कभी प्राप्त नहीं हो सकती, तब उसकी प्राप्ति के लिए वह कर्मत्याग के लिए प्रस्तुत हो जाएगा। ऐसा व्यक्ति ही शास्त्रीय संन्यास का अधिकारी होगा।

जिज्ञासा :- कहते हैं संन्यास के समय बाह्य और आन्तर दोनों त्याग किए जाते हैं। ये दो त्याग क्या हैं?

समाधान :- संन्यासी के त्याग में पहले आन्तर-त्याग आता है। पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा - इन तीन एषणाओं (इच्छाओं) का त्याग पहले करना पड़ता है। उसके बाद बाह्य त्याग होता है क्योंकि एषणाओं का त्याग हो जाने पर, उनके साधनरूप कर्मों की आवश्यकता नहीं रहेगी। अब यज्ञोपवीत और शिखा के साथ प्राप्त जो नित्यकर्म हैं, वे संन्यासी के तत्त्व-चिन्तन में बाधक पड़ेंगे। इसलिए शिखा-सूत्र का त्याग भी करना पड़ता है।

एक और महत्वपूर्ण बात है। संन्यास के समय जल में खड़े होकर एक दान की प्रतिज्ञा करनी होती है। बाह्य सम्पत्ति को तो संन्यासी ने पहले ही छोड़ दिया है, पर अब वह एक महान् दान ब्रह्माण्ड के सभी प्राणियों को देता है। वह जल में खड़े होकर सर्व प्राणियों के प्रति कहता है - **'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'**, (नारद परि. उप.-४.३७) कोई भी प्राणी मेरे प्रति चाहे जैसा व्यवहार करे, पर मेरे मन में उसके प्रति कभी-भी दुर्भाव नहीं आएगा। मैं सभी को अभयदान दे रहा हूँ, मुझसे सभी निर्भय रहो। इसलिए संन्यास में अहिंसा का बड़ा महत्व है।

जिज्ञासा :- क्या महन्त या मण्डलेश्वर बनने से संन्यास का लक्ष्य पूरा हो जाता है? हमें कहीं महन्त बनने के लिए लोग बुला रहे हैं तो क्या उसे स्वीकार कर लूँ?

समाधान :- महन्त या मण्डलेश्वर बनने के बाद संन्यास का लक्ष्य

भले ही पूरा न हो, पर मण्डलेश्वर बनने का लक्ष्य तो पूरा हो ही जाता है। आपको यदि महन्त बनने के लिए कहीं बुला रहे हैं तो बन जाना चाहिए, पर महन्त बनने के बाद सेवा-धर्म नहीं छोड़ना चाहिए और जब यह लगे कि भजन नहीं हो रहा है तो उसी समय उठकर चल देना चाहिए। मस्त रहो मस्ती में, आग लगे बस्ती में।

कहने का तात्पर्य यह है कि महन्त बन जाने में कोई हर्ज नहीं है, पर साधु को अपना लक्ष्य नहीं भूलना चाहिए। महन्त बनने की इच्छा हो तो बन जाना चाहिए अन्यथा बाद में पछतावा होगा कि उस समय क्यों नहीं बन गये। साधु के लिए किसी वस्तु का बाहर से त्याग करने पर भी अन्दर से उसकी इच्छा बनी रहना यही सबसे बड़ी समस्या है।

साधु के मन में यदि बिल्कुल भी इच्छा न हो तो उसे पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है, भजन करने की जरूरत है। फिर पढ़ क्यों लेना चाहिए? क्योंकि दस-बीस वर्ष बाद मन में आ सकता है कि पढ़ लिए होते तो पुराण आदि संस्कृत-ग्रन्थ देखते। इसीलिए पुराने साधु कहते थे कि ये सब पहले पढ़ लेना चाहिए अन्यथा बुढ़ापे में संकल्प आएगा तब क्या करोगे? इसीलिए महन्त बन जाना चाहिए क्योंकि बनाना दूसरे के हाथ में है, पर छोड़ना तो अपने ही हाथ में है। इतना ध्यान रहे कि आप आवश्यकता से अधिक एक शब्द भी न बोलें, जितने की अत्यन्त आवश्यकता है उतना ही बोलें नहीं तो भजन करें, जप करें।

जिज्ञासा :- त्याग और वैराग्य में क्या भेद है?

समाधान :- त्याग शब्द का अर्थ है - किसी वस्तु को छोड़ देना और वैराग्य शब्द का अर्थ है - मन में वस्तु के प्रति राग न होना। त्याग में आप वस्तु को छोड़ देते हैं, पर छोड़ने के उपरान्त उसमें राग रह भी सकता है। त्याग कभी-कभी आवेश से, क्रोध से, विक्षेप से भी हो जाता है, पर मन में उस वस्तु के प्रति राग बना ही रह जाता है। ऐसे त्याग को वैराग्य नहीं कहा जा सकता। वैराग्य में तो वस्तु भले ही आपके पास बनी रहे, पर उसमें राग नहीं रहता है। त्याग का सम्बन्ध बाहर से है और वैराग्य का भीतर से। वैराग्य यदि किसी में ठीक है तो वस्तु को त्याग दे अथवा वह पास बनी रहे, कोई फर्क नहीं पड़ता है। यही त्याग और वैराग्य में अन्तर है।

सुख-दुःख

जिज्ञासा :- स्वप्नावस्था और जाग्रदवस्था में किए गए सुख-दुःखों के अनुभवों में क्या भेद है?

समाधान :- प्रत्येक व्यक्ति मन, शरीर और वाणी से कर्म करता है। जिस प्रकार का कर्म करता है उसी प्रकार का फल मिलता है। कभी मन के निमित्त से भी सुख या दुःख उत्पन्न हो जाते हैं क्योंकि मन से यदि कोई कर्म किया है तो उसका भोग भी मन से ही होगा। अतः स्वप्न में सुख या दुःख का अनुभव हो जाता है। इसलिए स्वप्नावस्था में अनुभव किये गये सुख-दुःख को मानसिक कर्मों का ही फल मानना पड़ता है।

कभी शरीर के निमित्त से अपराध हो जाता है तो उसके फलस्वरूप शरीर में रोगादि उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार शरीर से यदि पुण्य होता है तो उसके फलस्वरूप सुख भी शरीर से ही भोगता है।

यदि वाणी से कर्म किया है तो उसका फल भी वाणी से ही मिलता है। जैसे, कोई व्यक्ति हमेशा कठोर शब्द बोलता हो, दूसरों की निन्दा करता रहता हो तो इसके फलस्वरूप उसको हमेशा कटु शब्द बोलनेवाली पत्नी मिल जाएगी। उसका लड़का भी कटु शब्द ही बोलेगा। इस प्रकार उसे जीवन भर वाणी के निमित्त से दुःख भोगना पड़ेगा।

इस प्रकार स्वप्नावस्था का सुख-दुःख भोग मानसिक कर्मों का फल है और जाग्रदवस्था का भोग कायिक एवं वाचिक कर्मों का। इनमें एक अन्तर यह भी है कि जाग्रदवस्था में जो सुख-दुःख का अनुभव होता है वह स्पष्ट एवं दीर्घकालिक होता है, जबकि स्वप्नावस्था में होनेवाला अनुभव अस्पष्ट एवं अल्पकालिक होता है।

जिज्ञासा :- व्यक्ति दुःखी क्यों होता है?

समाधान :- जीव में सुख स्वाभाविक है और दुःख भ्रान्तिजन्य है,

मूर्खता है। इसका कोई आधार नहीं है। दुःख कोई वास्तविक चीज नहीं है। जैसे रस्सी में सर्प दीखता है पर वहाँ सर्प है नहीं। बस, सर्प की कल्पना हो गई। इसी प्रकार व्यक्ति दुःख की कल्पना कर लेता है।

आप विचार कीजिए, कोई व्यक्ति शान्ति से बैठा है, मन में कोई समस्या नहीं है और न किसी वस्तु का अभाव ही है। उस समय दुःख का कोई निमित्त नहीं दीख रहा इसलिए वह सुखी है। इससे यही समझना चाहिए कि सुख स्वाभाविक है, किसी निमित्त से नहीं आता। मान लीजिए उसी समय उस व्यक्ति का मित्र मोटरसाइकिल पर उसके सामने से निकल गया। अब उसके मन में आया कि मित्र ने तो मोटरसाइकिल खरीद ली और मेरे पास नहीं है। मन में जैसे ही अभाव की कल्पना हुई तो दुःखी हो गया। जब उस व्यक्ति के मन में मोटरसाइकिल लेने का संकल्प जगता है तो बहिर्मुख होकर कर्म में प्रवृत्त होता है। कर्म से धन कमाकर मोटरसाइकिल प्राप्त कर ली और अभावजन्य दुःख समाप्त हो गया, तो जहाँ से चला था वहीं पहुँच जाता है। पहले मोटरसाइकिल का अभाव उसके मन में नहीं था, फिर उस अभाव की कल्पना से दुःखी हुआ, फिर प्रयास किया, मिलने पर वह अभाव नहीं रहा। अतः वह जहाँ से चला था वहीं पहुँचा पर साथ में एक उपाधि लेकर पहुँचा।

अब उससे कोई मोटरसाइकिल माँगे तब, दे तो दुःख और न दे तो दुःख, कहीं दुर्घटना हो जाए तो दुःख, पेट्रोल के दाम बढ़ जाएँ तो दुःख। इस प्रकार देखा जाए तो दुःख हमारी भ्रान्ति से, हमारी कल्पना से ही आता है। हमारा स्वरूप तो आनन्दघन है।

जिज्ञासा:- सन्तों से सुनते हैं कि विषयों से आनन्द नहीं मिलता, आनन्द हमारे अन्दर है। परन्तु अनुभव में तो यही आता है कि आनन्द विषयों से ही मिलता है। इस विरोधाभास का समाधान कैसे होगा?

समाधान :- विषयभोग के समय भी जो सुख का अनुभव होता है, वस्तुतः वह स्वरूप का ही सुख है, विषय का नहीं। यदि हमारे अनुभव में वह सुख विषय से प्राप्त हुआ लगता है तो इसे भ्रान्ति ही समझना चाहिए। व्यक्ति

जब कोई कर्म करता है तो वह बहिर्मुख होकर करता है, उस समय उसमें रजोगुण का उद्रेक होता है। जब वह रजोगुण शान्त होता है तो उसमें सत्त्वगुण का उद्रेक होने लगता है। मनोवृत्ति की सात्त्विक दशा में स्वरूप का आनन्द ठीक से प्रतिफलित होता है, रजोगुण के समय तो वृत्ति चंचल रहती है। वृत्ति के बहिर्मुख और चंचल होने पर, आनन्द की अनुभूति नहीं होती। वृत्ति जब अन्तर्मुख और एकाग्र होती है, तब स्वरूपगत आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। जैसे चंचल जल में कोई प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं दीखता और यदि जल शान्त हो तो वही प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई देने लगता है, इसी प्रकार व्यक्ति जितना अधिक अन्तर्मुख और एकाग्र होता है उतनी ही प्रकृष्ट आनन्द की अनुभूति उसे होती है।

जिस भोजन में हमारी रुचि न हो उसे करते समय आनन्द नहीं आता, परन्तु कोई रुचिकर भोजन करते समय मन उसमें तन्मय होकर एकाग्र हो जाता है। अतः उस समय स्वरूप का आनन्द विशेषरूप से प्रकट होता है। जिस विषय में जितना अधिक राग होता है उसके भोग में उतनी ही अधिक तन्मयता होती है। रागजन्य तन्मयता के कारण आनन्द में विशेषता उत्पन्न हो जाती है। सर्वत्र आनन्द तो स्वरूप का ही मिलता है, पर हमें भ्रान्ति होती है कि इस विषय से कम आनन्द मिलता है और इस विषय से अधिक। इसलिए सन्त जो कहते हैं वही ठीक है आपका अनुभव नहीं।

जिज्ञासा :- सदा प्रसन्न कैसे रहा जा सकता है?

समाधान :- जब कोई अभाव नहीं है, कोई चिन्ता नहीं है, कहीं आना-जाना नहीं है और कोई कर्तव्य शेष नहीं है तो वहाँ प्रसन्नता तो है ही। प्रसन्नता आपका स्वभाव है और अप्रसन्नता नैमित्तिक। पर संसार के व्यवहार में विषयों से ही प्रसन्न होने की आदत पड़ जाती है, तब व्यक्ति समझता है कि प्रसन्नता के लिए भी निमित्त चाहिए।

जैसे, मलयगिरि चन्दन की लकड़ी में सुगन्ध स्वाभाविक है, दुर्गन्ध नहीं। पर उस चन्दन को कुछ दिन तक कीचड़ में गाड़ने के बाद निकालें तो सुगन्ध मालूम नहीं होती, दुर्गन्ध मालूम होती है। जिस समय दुर्गन्ध प्रतीत हो

रही है, उस समय भी लकड़ी में सुगन्ध है, परन्तु कीचड़रूपी प्रतिबन्ध के कारण प्रतीत नहीं हो रही। आप उसपर थोड़ा इत्र लगा दें तो भी वह सुगन्ध कितनी देर रहेगी! कुछ देर बाद गायब हो जाएगी। यदि चन्दन की स्वाभाविक सुगन्ध प्रकट करना हो तो कीचड़ को धोकर अलग कर दीजिए। बाहर से सुगन्ध लाने की कोई जरूरत नहीं, सुगन्ध उसमें स्वाभाविक है।

इसी प्रकार जिन वृत्तियों से आप सुखी और दुःखी होते हैं उन दोनों वृत्तियों को हटाना पड़ेगा क्योंकि वे क्षणिक हैं। सुख-दुःख का स्वरूप वास्तव में क्या है? जैसे तापमान बढ़ जाए तो आप कहते हैं गर्मी हो गई और घट जाए तो कहते हैं सर्दी हो गई, पर है तो दोनों में तापमान ही। ऐसे ही जगत् के लोग कम दुःख को सुख कहते हैं और थोड़ा ज्यादा हो जाए तो उसे दुःख कहते हैं। इस प्रकार एक ही वस्तु के सुख-दुःख दो नाम हैं। स्वभावगत सुख इन दोनों से अलग है। इसलिए मैं कहता हूँ कि प्रसन्नता स्वाभाविक है, अप्रसन्नता हम जगत् के निमित्त से खरीदते हैं। वह निमित्त हट जाए तो आप प्रसन्न ही हैं। आत्मज्ञान होने के पश्चात् जब आप स्वरूप में जग जाते हैं तो फिर अप्रसन्नता का कोई निमित्त नहीं रहता, आप सदा प्रसन्न रहते हैं।

ज्ञानी की स्थिति

जिज्ञासा :- ज्ञानी महापुरुषों की पहचान क्या है?

समाधान :- ज्ञानी महापुरुषों को ज्ञानी महापुरुष ही पहचान सकते हैं। बाहर से उनकी कोई अलग पहचान नहीं होती। हाँ, यदि व्यक्ति सावधान है तो उनके समीप बैठने मात्र से एक शान्ति का अनुभव होता है।

जिज्ञासा :- क्या ज्ञानी महापुरुषों द्वारा भी व्यवहार में भूल हो सकती है?

समाधान :- पारमार्थिक दृष्टि से आत्मज्ञानी का व्यवहार से सम्बन्ध ही नहीं है। जब शरीर से ही ज्ञानी का सम्बन्ध नहीं है तो उस शरीर के व्यवहार से सम्बन्ध कैसे बनेगा? उस शरीर से गलती हुई या न हुई, उसका ज्ञानी के साथ क्या सम्बन्ध है! ज्ञानी जिस स्वरूप में प्रतिष्ठित है, वह अक्रिय है। जब क्रिया ही नहीं है, तो क्या कहें कि गलती हुई या नहीं!

व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो ज्ञानी का व्यवहार प्रारब्धानुसार होगा और वह भी शास्त्रानुसार ही होगा क्योंकि साधनाकाल में शास्त्रानुसार व्यवहार करने से ही तो उसको ज्ञानोद्भव हुआ है। जैसी आदत पहले से बनी हुई है, ज्ञान होने के उपरान्त भी वैसे ही व्यवहार चलेगा। अतः ज्ञानी के व्यवहार में भूल की सम्भावना अत्यन्त कम है।

जिज्ञासा :- ज्ञानी के प्राणों का उत्क्रमण क्यों नहीं होता?

समाधान :- ज्ञानी में वासना नहीं रहती है और न ही उसमें कोई संस्कार रहते हैं। संस्कारों और वासना को लेकर ही सूक्ष्म-शरीर बनता है और अगला स्थूल-शरीर प्राप्त होता है। जब संस्कार ही नहीं रहे तो उत्क्रमण कैसे होगा? ज्ञानी के सूक्ष्म-शरीर के अवयव अपने-अपने कारण में वहीं पर लीन हो जाते हैं। इसीलिए ज्ञानी के प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता।

जिज्ञासा :- सर्वदर्शनसंग्रह नामक ग्रन्थ में लिखा है - वात प्रकृतिवाले व्यक्ति में काम की अधिकता होती है, पित्तवाले में क्रोध की और कफ

प्रकृतिवाले में लोभ की अधिकता होती है। क्या यह नियम ज्ञानी पुरुषों में भी लागू होगा?

समाधान :- वात, पित्त और कफ इनका सम्बन्ध स्थूल-शरीर से होता है और काम, क्रोध इत्यादि का सम्बन्ध सूक्ष्म-शरीर या संस्कारों से होता है। अतः वातादि का काम, क्रोध, लोभ से सीधा सम्बन्ध तो नहीं है, हाँ! वात-पित्तादि गुण संस्कारों में कुछ प्रभाव डाल सकते हैं। पर इनसे जनित संस्कार भी सभी अवस्थाओं में एक समान दिखाई नहीं देते। जैसे, किसी बच्चे में वात की प्रधानता है, तो क्या वहाँ काम दीखेगा! इसी प्रकार बालक, जवान और वृद्ध में समान रूप से काम-क्रोध दिखाई नहीं देते क्योंकि उनके पीछे वासना काम करती है। इसलिए आप ऐसा भी नहीं कह सकते कि जिसका शरीर स्थूल है उसको कभी क्रोध नहीं आता। इस प्रकार व्यक्ति का शरीर देखकर उसकी मानसिक अवस्था का निर्णय नहीं कर सकते।

ज्ञानी पुरुषों के विषय में क्या कहा जाए कि उनको क्रोध होता है या नहीं! जहाँ पर सर्वात्मभाव का उदय हो गया है वहाँ किसी के प्रति क्रोध हो ही नहीं सकता। एक बार अपने महाराजजी (पूज्य स्वामी अभयानन्दजी महाराज) के पास कोई ब्रह्मचारी आया और उनकी सेवा में रह गया। कुछ समय पश्चात् वह कुछ रुपये लेकर रात को ही भाग गया। आश्रम में हल्ला हो गया कि ब्रह्मचारी रुपये लेकर भाग गया। पर, महाराजजी कुछ नहीं बोले। चार-छह महीने के पश्चात् वह पुनः उपस्थित हो गया। आश्रम में फिर हल्ला शुरू हो गया।

महाराजजी का भक्त एक सेठ था। वह महाराजजी के पास आया और कहा, 'महाराज! आप व्यवहार बिल्कुल नहीं जानते।' महाराजजी ने कहा, 'मैं व्यवहार नहीं जानता?' सेठ बोला, 'जी, पहले यह ब्रह्मचारी पैसे लेकर चला गया और फिर आ गया है। अब भी वह वैसा ही करेगा।' महाराजजी ने कहा, 'सेठ! तेरा बच्चा यदि तेरी जेब से रुपये निकाल लेगा, तो क्या तू उसको जेल भेज देगा? उसका भोजन बन्द कर देगा? या घर से निकाल देगा? जो मैं व्यवहार कर रहा हूँ, वही व्यवहार तुम कर रहे हो और मुझे धमकाते हो। बस, हम दोनों में अन्तर यही है कि तुम एक लड़के को अपना मानते हो और मैं सभी को।' फिर उन्होंने कहा, 'देखो सेठ! आकाश यदि किसी पर नाराज हो

जाए तो उसे कहाँ फेंकेगा?' सेठ चुप हो गया। देखो, महापुरुषों की दृष्टि विलक्षण होती है, उसे कौन समझ सकता है! वात, पित्त, कफ उनका क्या कर लेगा?

जिज्ञासा :- आपके जीवन में निष्काम सेवा, उपासना और वेदान्त-विचार का समन्वय दीखता है। कृपया बताएँ ऐसा किस दृष्टि से होता है?

समाधान :- शरीर, इन्द्रिय, मन इत्यादि का जो भेद है इसके कारण यह सब दीखता है। परमार्थ दृष्टि से तो ज्ञानी में कुछ भी नहीं हो रहा है। रामजी ने एक बार हनुमान से पूछा, 'तुम्हारा क्या निश्चय है?' हनुमान ने कहा -

देहदृष्ट्या तु दासोऽस्मि जीवदृष्ट्या त्वदंशकः।

वस्तुतस्तु त्वमेवाऽहमिति मे निश्चला मतिः॥ (हनुमत्पञ्चरत्न)

'आप किस दृष्टि से पूछ रहे हैं? यदि देह दृष्टि से पूछ रहे हैं तो - देहदृष्ट्या तु दासोऽस्मि, मैं आपका दास हूँ, मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत (मानस, किष्किन्धा.-३)। यदि आप जीवदृष्टि से पूछ रहे हैं तो - जीवदृष्ट्या त्वदंशकः, आप परमात्मा हैं, मैं जीवात्मा हूँ। अतः आपका अंश हूँ। यदि वास्तविकता पूछते हैं तो - वस्तुतस्तु त्वमेवाऽहम्, जो आप हैं वही मैं हूँ, दूसरा तो कोई है ही नहीं। इति मे निश्चला मतिः, यही मेरा निश्चय है।' यह दृष्टि की बात है।

ज्ञानी यदि देह-इन्द्रियों का सदुपयोग नहीं कर सकता तो क्या अज्ञानी करेगा? इनको निठल्ला बिठाना कोई सदुपयोग नहीं है। इनका सदुपयोग ज्ञानी ही जानता है। एक जगह दत्तात्रेयजी कहते हैं -

त्वद्यात्रया व्यापकता हता ते ध्यानेन चेतःपरता हता ते।

स्तुत्या मया वाक्परता हता ते क्षमस्व नित्यं त्रिविधोऽपराधः॥

(परम्परया)

'हे परमात्मा! आप सर्वत्र विद्यमान हैं, फिर भी मैं दर्शन के लिए आपके मन्दिर में जाता हूँ तो मानो आपकी व्यापकता का खण्डन करता हूँ। आप मन के विषय नहीं हैं, फिर भी आपका ध्यान करता हूँ तो मानो 'आप मन के विषय नहीं हैं', इस सिद्धान्त की हानि करता हूँ। आप वाणी से परे हैं फिर भी आपकी स्तुति करता हूँ तो मानो आपकी वाक्परता का हनन करता हूँ। मेरे द्वारा नित्य होनेवाले इन तीनों अपराधों को कृपाकर आप क्षमा कीजिए।'

ज्ञान होने पर भी जैसे साधना काल का अभ्यास था, उन्हीं संस्कारों से ज्ञानी की प्रवृत्ति होती रहती है। इसलिए ज्ञानी के देह, मन, वाणी की सभी क्रियाएँ भगवदर्थ ही होती हैं। वास्तव में ज्ञानी तो कुछ करता ही नहीं। यह स्वरूप दृष्टि है, पर शरीर-इन्द्रिय से कर्म हो रहा है तो इसमें वह क्या कर सकता है? एक रहस्य की बात है - कोई सम्पत्ति लावारिस हो जाती है तो उसका मालिक कौन होता है? सरकार ही न! इसी प्रकार ज्ञानी की यह सम्पत्ति (शरीर-इन्द्रियाँ) लावारिस हो गई। मतलब कि ज्ञानी का इनसे सम्बन्ध टूट गया। अब इसका उपयोग सरकार (ईश्वर) करेगी। इसलिए ज्ञानी के शरीरादि के माध्यम से ईश्वर की कृपाशक्ति कार्य करती है, ज्ञानी स्वयं कुछ नहीं करता है। इस दृष्टि से उपरोक्त तीनों का समन्वय हो सकता है।

जिज्ञासा :- जब स्वरूपविषयक ज्ञान एक ही है तो अलग-अलग ज्ञानियों की प्रवृत्तियों में भेद क्यों देखा जाता है? सबकी स्थिति एक ही तत्त्व में है तो उनमें दीखनेवाले भेद का हेतु क्या होगा?

समाधान :- पहले तो यह समझकर रखना चाहिए कि ज्ञानी जिस स्वरूप में स्थित है वह अक्रिय है या सक्रिय! स्वरूप तो अक्रिय है, फिर ज्ञानी कहाँ चेष्टा कर रहा है! यदि कहो ज्ञानी का शरीर चेष्टा करता दीखता है, तो विचार करो कि जिस शरीर के साथ जिसकी अहंता-ममता का सम्बन्ध है, वही उसका शरीर है। ज्ञानी का शरीर के साथ अहंता-ममता का सम्बन्ध ही नहीं है। अतः ज्ञानी का शरीर है ऐसा हम परमार्थ दृष्टि से तो नहीं कह सकते, पर व्यवहार में कहते हैं। व्यवहार में ज्ञानियों के शरीर की चेष्टा भिन्न-भिन्न देखी जाती है। ऐसा इसलिए होता है कि प्रत्येक शरीर को चलानेवाली प्रकृति भिन्न-भिन्न है, परन्तु वह प्रकृति भी ज्ञानी की दृष्टि से बाधित है। ज्ञानी की दृष्टि में तो इन्द्रिय भी गुण है, विषय भी गुण है। गुणा गुणेषु वर्तन्ते ... । (गीता - ३.२८) गुण ही गुणों में वर्तन करते हैं, पर प्रकृति के भेद से शरीर के व्यवहार में दूसरों को भेद दीखता है।

अब शंका हो सकती है कि यदि प्रकृति राजस या तामस रही तो उसको ज्ञान कैसे हो गया? पञ्चदशी के अनुसार -

प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयासक्तिरेव च।

प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः॥ (पञ्चदशी - ९.४३)

यही ज्ञान में प्रतिबन्ध है। इन्हीं को आगम में तीन वासनाएँ मानते हैं- १) अपराधवासना, २) कामवासना, ३) कर्मवासना।

जैसे हमको पद-पदार्थ का ज्ञान है तो घट कहने से तुरन्त घट का ज्ञान उत्पन्न होता है। ऐसे ही तत्-त्वम् पदार्थ का जिसे ज्ञान है और शोधन प्रक्रिया का भी ज्ञान है, उस तत्त्वमसि शब्द सुनते ही तुरन्त अपरोक्ष ज्ञान होना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं। इसमें सबसे बड़ा प्रतिबन्ध है - **विषयासक्ति**। हमारा जगत् के विषयों से राग-द्वेषात्मक सम्बन्ध बना हुआ है। वह हमारे चित्त के बड़े अंश को बाहर खींच लेता है। इसलिए वस्तुतः हमसे श्रवण ही ठीक से नहीं हो पाता। **वेदान्त श्रवण का अर्थ है, सम्पूर्ण वेदान्त-वाक्यों का अद्वितीय ब्रह्म में ही तात्पर्य निर्धारण।** यही नहीं हो पाता। इस निर्धारण के लिए चित्त की जितनी एकाग्रता होनी चाहिए, वह विषयासक्ति के कारण नहीं हो पाती। इसी प्रतिबन्ध को आगम में **कामवासना** कहा है।

दूसरा प्रतिबन्ध है - **प्रज्ञामान्द्य**। पूर्वजन्म और इस जन्म में भी उपासना न होने के कारण बुद्धि में योग्यता नहीं रहती। बुद्धि इतनी मोटी है कि सूक्ष्म विषयों को पकड़ती नहीं। इसको आगम में **कर्मवासना** कहा है।

तीसरा प्रतिबन्ध है - **कुतर्क**। एक व्यक्ति ऐसा है जिसमें विषयासक्ति का प्रतिबन्ध भी थोड़ा है, कर्मवासना बिल्कुल नहीं है और बुद्धि बहुत तेज है। जिसकी बुद्धि तेज नहीं है उसमें तो विषयासक्ति को बिल्कुल मिटाकर ही एकाग्रता बन सकती है। पर जिसकी बुद्धि बहुत तेज है, वह तो कुछ आसक्ति रहते भी थोड़ी एकाग्रता से सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु को पकड़ सकता है। पर यदि ऐसी बुद्धि के साथ अहंकाररूपी दोष रहता है तब वह समझने में कम और काटने में ज्यादा प्रवृत्त होती है। इसलिए वहाँ तत्त्वग्राहिता नहीं हो पाती। इस प्रतिबन्ध को **अपराधवासना** कहते हैं।

यह प्रतिबन्ध कैसे दूर हो? ऐसी बुद्धिवाले व्यक्ति के लिए अद्वैतसिद्धि, खण्डनखण्डखाद्य आदि ग्रन्थ रचनाएँ हैं। जब इनको पढ़ता है तो उसको लगता है कि मेरी बुद्धि इनके सामने कुछ भी नहीं है, तब उसकी बुद्धि समर्पित हो जाती है। जब ऐसी बुद्धि श्रद्धा-समर्पित होती है, तो उसे बहुत प्रयास नहीं करना पड़ता, झट से ज्ञान स्फुरित हो जाता है और इतना सुदृढ़ हो जाता है कि यह व्यवहार आदि उसको कुछ भी स्पर्श नहीं करते, जैसे जनकादि का हुआ। ऐसे ज्ञानी की चेष्टा प्रायः अलग ही प्रकार की होती है। कई बार उसकी चेष्टाएँ हमें

शास्त्र-विरुद्ध या असंयमित भी दीख सकती हैं पर उसका उनसे कोई स्पर्श नहीं होता। इसलिए कुछ ज्ञानियों की चेष्टाएँ इस प्रकार की हो सकती हैं।

दूसरे किसी साधक में अपराधवासना नहीं है पर कामवासना है। वह विषयों में दोष-दर्शन, यम, नियम, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, उपासना आदि के द्वारा धीरे-धीरे अपने मन को एकाग्र करता है। एकान्त में रहकर साधना करता है और धीरे-धीरे विषयासक्ति को तोड़ देता है। तब उसमें ज्ञान उद्भूत होता है। ऐसे ज्ञानी की एकान्तवास, शम-दम-ध्यान इत्यादि प्रकृति हो जाती है। इसी प्रकृति से उसकी चेष्टाएँ होती हैं जो प्रायः शास्त्रीय एवं सात्विक ही होती हैं। ऐसा ज्ञानी ही साधक के लिए आदर्श है। साधक के लिए जनकादि आदर्श नहीं हैं।

तीसरा साधक जिसकी बुद्धि में पद-पदार्थ समझने की योग्यता ही नहीं, उसमें कर्मवासनारूपी प्रतिबन्ध है। उसके लिए देवता की सेवा, सन्तसेवा, गुरुसेवा इत्यादि को छोड़कर दूसरा कोई उपाय नहीं है। एक जन्म में आए या अनेक जन्मों में उसकी बुद्धि में योग्यता महापुरुषों की सेवा से ही आएगी। तीन प्रकार के प्रतिबन्धों की निवृत्ति के लिए ये तीन प्रकार के साधन बता दिए।

इस प्रकार जो साधनाकालीन अभ्यास है, उसी अभ्यास के अनुसार ज्ञानी की प्रकृति बन जाती है, उसी प्रकृति से ज्ञानी के शरीर की चेष्टा होती है। इसलिए चेष्टा का ज्ञानी से सम्बन्ध न होने पर भी तथा सभी ज्ञानियों का ज्ञान एक होने पर भी, उनके व्यवहार में भेद दिखाई देता है।

जिज्ञासा :- हमने पढ़ा है कि एक बार श्री रामकृष्ण परमहंस अपने कमरे में बैठे थे, उसी समय गंगा किनारे कोई व्यक्ति किसी को मार रहा था, तो इधर कमरे में बैठे परमहंस चिल्लाए - मुझे मत मारो। इस प्रकार की अनुभूति उनको कैसे हो गई?

समाधान :- जहाँ भी जिसकी अहंता-ममता का सम्बन्ध अत्यधिक रहता है, वहाँ उसका तादात्म्य हो जाता है। फिर वहाँ सुख-दुःख होने पर स्वयं को ही अनुभव होता है। पुत्र को चोट लगती है तो माता को वेदना का अनुभव होता ही है। पुत्र की चोट उसे अपनी चोट के समान मालूम होती है क्योंकि उसके साथ उसका तादात्म्य हो जाता है। योगी तो सर्वात्मभाव में स्थित होता है। 'विश्वं शरीरम्' सारा विश्व ही उसका शरीर है। कहीं तादात्म्य होने पर उसको

ऐसा अनुभव हो जाता है। कभी कहीं तादात्म्य हो भी जाता है, कभी नहीं भी होता। इसलिए उसको व्यवहार में बाधा नहीं आती है। रामकृष्ण परमहंस भी योगी थे, वे सम्पूर्ण विश्व को अपना शरीर मानते थे, इसलिए उनको ऐसी अनुभूति हो गई तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

जिज्ञासा :- सुना है व्यासजी को भागवत लिखे बिना शान्ति और सन्तोष नहीं मिला, तो क्या व्यासजी इसे लिखने के पहले ज्ञानी नहीं थे?

समाधान :- व्यासजी एक आधिकारिक पुरुष हैं। ईश्वरेच्छा से ही जीवों के कल्याणार्थ ऐसे पुरुषों का प्राकट्य होता है और जब उनका कार्य पूरा हो जाता है तब वे शान्त होकर बैठ जाते हैं। जैसे लोक में भी देखा जाता है, जब तक व्यक्ति का संकल्पित कार्य पूरा नहीं होता तब तक वह शान्त नहीं हो पाता है। व्यासजी ने वेदों का विभाग किया, महाभारत लिखा और अठारह पुराण भी लिख दिये, पर अन्दर से उनको सन्तोष नहीं था। मेरा कार्य पूर्ण हो गया, ऐसी प्रतीति उनको नहीं हो रही थी और लगता था कि जीवों के कल्याण के लिए कुछ और भी शेष है जो नहीं लिख पाया। उसी समय भगवत्प्रेरणा से नारदजी उनके पास पहुँचे। तब व्यासजी ने नारदजी को बताया कि मैंने इतने धर्मग्रन्थ लिख दिए तो भी मुझे ऐसा अनुभव नहीं हो रहा है कि कार्य पूर्ण हो गया।

तब नारदजी ने कहा, 'आपने सब तो लिख दिया, पर भगवल्लीला की प्रधानता को लेकर भक्तिपूर्ण ग्रन्थ नहीं लिखा। इसके बिना जीवों को ईश्वरभक्ति के लिए सम्यक् आधार नहीं मिलेगा। धर्मादि के विषय में तो महाभारत व अन्य पुराण सम्यक् आधार हैं। पर ऐसा भी कोई ग्रन्थ होना चाहिए जिसे पढ़ने मात्र से व्यक्ति का चित्त द्रवित होकर भगवान् में लग जाए।' इसी दृष्टि से व्यासजी ने भागवत की रचना की। तब उन्हें शान्ति मिली।

इस शान्ति का उनके ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका सम्बन्ध 'पार्ट' से है। व्यासजी तो ज्ञानी हैं ही, साधना करने, विचार करने इत्यादि से ज्ञान होगा ऐसे साधक वे नहीं हैं। जीव-कल्याण के लिए जो कार्य करना था वह पूरा नहीं हुआ, इस विचार ने ही भागवत को जन्म दिया। ये लोग अपना कार्य पूरा होने पर विदेहमुक्त हो जाते हैं। व्यास भी इन्द्रादि के समान एक पद है। एक व्यास के विदेहमुक्त हो जाने पर दूसरे व्यास आविर्भूत होते हैं।

जिज्ञासा :- क्या ज्ञानी को भी स्वप्न आते हैं?

समाधान :- जाग्रत में जो कुछ अनुभव में आता है, वही स्वप्न में भी दीखता है। ज्ञानी को यदि जाग्रत अवस्था का भान हो रहा है तो स्वप्नावस्था का भान क्यों नहीं होगा? हाँ, जैसे उसके लिए जाग्रत बाधित है वैसे ही स्वप्न भी बाधित है। जाग्रत दीखने पर भी उसका ज्ञान नहीं बिगड़ रहा है तो स्वप्न में कैसे बिगड़ेगा! जैसे उसके पूर्व के संस्कार होंगे वैसे ही स्वप्न आएँगे।

जिज्ञासा :- कहते हैं आत्मज्ञानी चाहे किसी भी परिस्थिति में हो, उसका प्रभाव उन्हें अपने अनुभव से विचलित नहीं कर सकता। याज्ञवल्क्य भी तो ज्ञानी थे फिर उन्हें संन्यास की आवश्यकता क्यों हुई?

समाधान :- यह कहना ठीक है कि ज्ञानी भले ही जगत् में आकर्षित करनेवाली वस्तुओं से घिरे हों, परन्तु उन्हें अपने स्वरूप का पल भर के लिए भी विस्मरण न होने के कारण वे उधर आकर्षित नहीं होते। जगत् की अत्यन्त विपरीत परिस्थितियों का भी उनपर प्रभाव नहीं पड़ता। फिर भी शास्त्र में विद्वत्संन्यास की चर्चा आती है। यह संन्यास ज्ञान होने के बाद में लिया जाता है। सम्पूर्ण व्यवहार छोड़कर जीवन्मुक्ति का पूर्ण आनन्द लेने के लिए ज्ञानी संन्यास ले लेता है। गृहस्थ के व्यवहार में जो कर्तव्य होते हैं वह भी उसकी जीवन्मुक्ति के आनन्द में कभी-कभी बाधक बन सकते हैं।

परन्तु वह संन्यास ले ही ऐसी कोई विधि भी नहीं है। उसकी अपनी मौज है। निस्त्र्यैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः (शुकाष्टकम्) - अपने स्वरूप में विहार करनेवालों पर शास्त्र का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। ज्ञानी संन्यास लेकर परिव्रजन करता है, तो हो सकता है ईश्वर की ही ऐसी इच्छा है। लोककल्याण के लिए परमात्मा उसे घुमाता है। उसके उपदेश और दर्शन से लोगों का कल्याण होगा। ईश्वरेच्छा से ही ऐसे ज्ञानियों का सम्पूर्ण व्यवहार होता है। दूसरी बात, शास्त्र की यह मर्यादा भी है कि ब्राह्मण को आयु के अन्तिम भाग में संन्यास अवश्य लेना चाहिए। ज्ञानी पर शास्त्र का नियन्त्रण न होने पर भी शास्त्र-मर्यादा के लिए कई बार ज्ञानी लोग संन्यास आश्रम स्वीकार करते हैं। अतः याज्ञवल्क्यजी के संन्यास लेने में कोई विरोध हमें नहीं दीखता है।

जिज्ञासा :- क्या ज्ञानी लोकसंग्रह की दृष्टि से कुछ व्यवहार करता है?

समाधान :- ब्रह्मज्ञानी कोई आदर्शवादी नहीं है कि वह लोकसंग्रह का आदर्श स्थापित करना चाहता हो। उसकी दृष्टि में तो लोक ही नहीं है। उसके लिए न कुछ हेय है न उपादेय। इसलिए त्याग या ग्रहण की बुद्धि भी उसमें नहीं बन सकती। वह तो जैसे ईश्वर कराता है वैसे ही करता है। अब उसके ऐसा करने से लोकसंग्रह होता हो तो अलग बात है।

जिज्ञासा :- ज्ञानी पर कितना ही कष्ट आए, वह बिना विचलित हुए सह लेता है। जैसे रोगी को इंजेक्शन लगाकर चीर-फाड़ करते हैं तो कोई दर्द नहीं होता, क्या इसी प्रकार ज्ञान भी एक इंजेक्शन है?

समाधान :- ज्ञान इंजेक्शन तो नहीं है, पर एक अलग प्रकार की दवा है। रोगी को इंजेक्शन के कारण चीर-फाड़ का भान ही नहीं होता। ज्ञानी को शरीर के कष्ट का भान तो होता है, पर उसकी बुद्धि का उस कष्ट से कोई सम्बन्ध नहीं बनता और सम्बन्ध बने बिना स्व में उसका आरोप नहीं होता। कष्ट आदि भी उसे दृश्यरूप में ही दिखाई देते हैं। कष्ट का भान तो ज्ञानी को सामान्य पुरुष से ज्यादा होता है क्योंकि ज्ञानी का अन्तःकरण सात्विक होता है, ऐसे अन्तःकरण में चाहे सुखात्मक संवेदना हो या दुःखात्मक, उसका भान बहुत ज्यादा होता है। परन्तु भान अधिक होने पर भी वह संवेदना दृश्यरूप से ही दिखाई देती है। शरीर तड़प रहा है, वाणी चिल्ला रही है, मन में कष्ट का अनुभव हो रहा है तब भी ज्ञानी का उससे कोई सम्बन्ध नहीं बनता। कुछ योगी लोग तितिक्षा या विशेष अभ्यास के बल पर कष्ट सहन करते हैं, पर ज्ञान का फल अलग प्रकार का है।

कलकत्ता में हमने एक माता को देखा, जिसकी पीठ में फोड़े का ऑपरेशन करवाना था। उसने डॉक्टरों से कहा, 'हमें बेहोश किये बिना ही ऑपरेशन करो।' बहुत कहने पर डॉक्टर तैयार हुए। ऑपरेशन तीन घण्टे चला, पर वह चुपचाप लेटी रही। डॉक्टर बोले कि ऐसा ज्ञानी तो हमने कहीं नहीं देखा। उसने कहा, 'इसको ज्ञान नहीं कहते हैं। मैंने मन का अभ्यास किया है, मन को कहीं भी केन्द्रित रख सकती हूँ। इसका ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है।'

अपने महाराजजी (स्वामी अभयानन्दजी) को अन्त समय में बहुत अधिक पीड़ा थी। उस समय मिर्जापुर से आए एक प्रिंसिपल ने पूछा, 'स्वामीजी, आपके शरीर में इतनी पीड़ा है। आपको कैसा अनुभव होता है?' वे बोले, 'हाँ,

राजनाथ! है तो दृश्य ही।' देखिये, शरीर में पीड़ा तो बहुत थी पर उससे उनका सम्बन्ध नहीं बनता था। ज्ञान और इंजेक्शन में इतना ही भेद है, एक में कष्ट का भान ही नहीं होता और एक में भान होने पर भी उससे सम्बन्ध नहीं बनता है।

जिज्ञासा :- दूसरों के अपवाद से मुक्त होना ही क्या मुक्ति है?

समाधान :- जीवन्मुक्ति अवस्था तो यही है कि ज्ञानी का शरीर दीखता है, पर चाहे सृष्टि हो चाहे पालन हो या संहार - किसी का कोई प्रभाव उसपर नहीं पड़ता है। उत्तरकाशी में स्वामी श्री देवीगिरिजी महाराज ब्रह्मवेत्ता महापुरुष थे। युवावस्था में प्राणायाम का अभ्यास करते समय भूल से उन्होंने भैंस के दूध से बना मट्ठा पी लिया जिससे उनका वायु कुपित हो गया। पेट में शूल की बीमारी हो गई जो किसी दवाई से गई नहीं। योगज बीमारी प्रायः दवा से ठीक नहीं होती। वह शूल कभी-कभी उठता तो इतनी भयंकर वेदना होती थी कि शरीर पसीने से तर-बतर हो जाता था।

एक महात्मा ने कभी पूछ लिया, 'स्वामीजी, जब शूल उठता है तो आपको अन्दर से कैसा लगता है?' उन्होंने कहा, "एक दृष्टान्त से समझ लो। एक किसान के खेत में मचान बना था। एक बुढ़िया उसपर बैठकर डफली बजाती रहती थी जिससे पशु-पक्षी खेत नहीं खा पाते थे। एक दिन एक ऊँट आकर खेत खाने लगा, तो बुढ़िया जोर-जोर से डफली बजाने लगी। उसे देख ऊँट ने कहा, 'बुढ़िया, तू क्यों व्यर्थ परिश्रम करती है, मेरी पीठ पर तो युद्ध के बड़े-बड़े नगाड़े बजे हैं, उनसे जब मैं नहीं घबराया तो तेरी डफली मेरा क्या कर लेगी!' ऐसे ही मैं देखता हूँ कि मेरे स्वरूप में अनेक बार सृष्टि हुई और संहार भी हुआ। उससे जब हमारा स्वरूप विचलित नहीं हुआ तो यह शूलरूपी डफली हमारा क्या कर लेगी!"

देखो, शरीर में भयंकर वेदना होने पर भी उनकी बुद्धि प्रभावित नहीं होती। ऐसा ज्ञानी शरीर के कष्टों से मुक्त हो ही गया। इसी प्रकार कोई गाली दे, अपवाद (निन्दा) करे, ज्ञानी को जब उसका स्पर्श ही नहीं होता तो उनसे मुक्त हो ही गया। इसी अवस्था का नाम जीवन्मुक्ति है। स्व से भिन्न जो जगत् दीखता है, उसकी कोई परिस्थिति उसके ज्ञान को प्रभावित नहीं कर सकती। वह स्वयं चाहे तो भी अपने ज्ञान को बाधित नहीं कर सकता।

जिज्ञासा :- भगवन्! क्या ज्ञानी को यह संसार अन्य लोगों की अपेक्षा अलग प्रकार से दीखता है?

समाधान :- एक बार हमारे महाराजजी (स्वामी अभयानन्दजी) घाघरा-किनारे शूकर क्षेत्र में ठहरे थे। उनके साथ उज्जैनवाले शर्माजी भी थे। एक रात महाराजजी ने उन्हें उठाया और कहा, 'कम्बल ओढ़कर मेरे साथ चलो।' दोनों जाकर एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। महाराजजी ने उनसे कहा, 'मैं अन्धकार में भी अखण्ड सौन्दर्य का बोध कर रहा हूँ। जब अन्धकार किसी को आँखें दे देता है तब उसके लिए प्रकाश की आँखें निष्प्रभ हो जाती हैं, पूर्णिमा तो अमावस्या की चेली है।' वस्तुतः पहले व्यक्ति के स्वरूपभूत ऐश्वर्य पर आवरण पड़ता है जिससे व्यक्ति उसे भूल जाता है - यही है अन्धकार। परन्तु जो अनुभवी है उसे अन्धकार के भीतर भी केवल चैतन्यरूपी ऐश्वर्य दिखाई देता है। उसकी दृष्टि अन्धकाररूपी अज्ञान का भेदन करके चैतन्य का ही अनुभव करती है।

माया ने पहले हमारे स्वरूप को आवृत कर दिया, फिर हमें मायिक आँखें मिल गईं। इन आँखों से वह अखण्ड ऐश्वर्य नहीं दीखता है। माया जब नेत्र देती है तब हमारा वास्तविक नेत्र बन्द हो जाता है क्योंकि यह नेत्र हमको मायिक वस्तु देखने के लिए ही मिला है। जिस ज्ञाननेत्र से अखण्ड सौन्दर्य का बोध होता है वह ढँक जाता है। जैसे, जब आप सो जाते हैं तो यह आँख ढँक जाती है और आप स्वप्न की आँख से देखते हैं। उससे स्वप्न की वस्तुएँ ही दिखाई देती हैं। इसी प्रकार माया से स्वरूप पर आवरण होकर ये आँखें मिली हैं इनसे मायिक वस्तु ही दिखाई देती है। परन्तु स्वरूप-प्रतिष्ठित ज्ञानी महापुरुषों के ज्ञान-नेत्र खुल जाते हैं जिनसे उन्हें आधारभूत तत्त्व ही दिखाई देता है। इसलिए ज्ञानी की दृष्टि सामान्य जनों से एकदम अलग होती है।

जिज्ञासा :- विचार करते-करते विवेक होने पर जब जगत् बाधित हो जाता है, तब प्रश्नोत्तर का भी कोई महत्व नहीं रहता। फिर सम्बुद्ध पुरुष (ज्ञानी) इसके लिए अपनी वृत्ति को जगत् में क्यों लाते हैं?

समाधान :- सम्बुद्ध पुरुष अपनी वृत्ति जगत् में लाते हैं या नहीं, इसे दूसरा कैसे जान सकता है? दूसरों को तो शरीर दिखाई देता है, इन्द्रिय-व्यवहार दिखाई देता है, ध्यान लगाकर अन्तर्मुख होने पर बुद्धि-व्यवहार दीख सकता है,

पर सम्बुद्ध पुरुष किसका नाम है, यह विचार करो। आप सम्बुद्ध पुरुष से उस शरीर, मन या बुद्धि को क्यों जोड़ते हो? लोकव्यवहार में भी जिस शरीर के साथ जिसकी अहंता-ममता का सम्बन्ध होता है, वह उसका शरीर कहलाता है। जिसे आप और शास्त्र सम्बुद्ध पुरुष कहते हैं उसका उस शरीर के साथ अहंता-ममता का कोई सम्बन्ध है क्या!

अहंता-ममता जीवसृष्टि है, ईश्वर की सृष्टि नहीं। परमेश्वर ने शरीर बनाया, आपने उसमें अहं और मम कर लिया। यदि सम्बुद्ध-पुरुष का भी शरीर में अहंता-ममता का सम्बन्ध हो, तो सम्बुद्ध और असम्बुद्ध में अन्तर क्या हुआ? जब उसका इस प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं है तो फिर आप शरीरादि के व्यापार को उससे कैसे सम्बन्धित करते हैं? यदि कहें कि व्यापार कैसे चल रहा है तो उसका हेतु दूसरा भी हो सकता है। केवल ब्रह्म ही व्यापार का हेतु नहीं होता है। ब्रह्म व्यापार का हेतु केवल अधिष्ठानरूप से है, किसी अन्य प्रकार से नहीं। जैसे ब्रह्म का सम्पूर्ण जगत् से सम्बन्ध है, उसी प्रकार से सम्बुद्ध पुरुष का सम्बन्ध है।

जब शरीर की क्रिया को देखकर आप यह नहीं कहते कि ब्रह्म कोई क्रिया कर रहा है, तब आप ऐसा क्यों कहते हैं कि सम्बुद्ध पुरुष क्रिया कर रहा है? दूसरी बात है कि व्यक्ति क्या और कैसे कर रहा है - इसका ज्ञान तो उसी को होगा, दूसरा तो केवल अनुमान ही कर सकता है। यह सब अनुमान करने की अपेक्षा हम सम्बुद्ध हुए या नहीं, यदि नहीं हुए तो प्रतिबन्ध कहाँ है, ऐसा विचार करना ठीक है। हम सर्वज्ञ तो हैं नहीं कि सबकुछ जान लें। कोई व्यक्ति किस दृष्टि से व्यवहार कर रहा है, इसे हम कैसे जान सकते हैं? इसलिए मेरे विचार से साधक को इस चक्र में न पड़कर अपनी साधना में ही तत्पर होना चाहिए।

जिज्ञासा :- आप कहते हैं कि ज्ञानी में दीखनेवाला व्यवहार एकदम अलग वस्तु है और ज्ञान अलग। यहाँ व्यवहार शब्द से क्या ग्रहण करेंगे? क्या ज्ञानी में भी राग-द्वेष हो सकते हैं?

समाधान :- मैं शरीर नहीं हूँ, यह भाषण करना अलग बात है, पर विचार करो कि व्यवहार में हमें अनुभव क्या होता है? मन, बुद्धि, शरीर आदि से किए जानेवाले व्यवहार को आप अपना मान रहे हैं तो आपको ज्ञान कहाँ है?

यदि अन्य कोई शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव हो तो उससे आपको क्या लाभ होगा! लाभ तभी होगा जब आपको अनुभव हो कि मैं शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव हूँ। आपको शरीर, मन और उनकी स्थिति अपने से अलग स्पष्ट रूप से दीखे तो आपको स्वतः समझ में आ जाएगा कि व्यवहार कहाँ हो रहा है! व्यवहार करणों से हो रहा है, मुझसे नहीं, यही आपकी समझ बनेगी।

मेरे कहने का तात्पर्य है कि ज्ञानी को अपने जिस स्वरूप का निश्चय है उसका शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं, शरीर में उसकी अहंता-ममता नहीं है। अतः ज्ञानी से उस कार्यकरण-संघात के व्यवहार का सम्बन्ध आप कैसे बनाएँगे! ज्ञानी को शरीर मानकर आप कहते हैं कि ज्ञानी व्यवहार करता है, पर वह ज्ञानी अपने को शरीर नहीं समझता है। इसलिए मैं कहता हूँ कि ज्ञानी में दीखनेवाला व्यवहार अलग वस्तु है और ज्ञान अलग। दूसरे के विषय में हम नहीं जान सकते हैं कि वह व्यवहार किसलिए कर रहा है।

ज्ञानी में राग-द्वेष होते हैं या नहीं इस विषय में सुरेश्वराचार्य भगवान् कहते हैं -

रागो लिंगमबोधस्य

चित्तव्यायामभूमिषु।

कुतः शाद्वलता तत्र यस्याग्निः कोटरे तरोः॥

(नैष्कर्म्यसिद्धिः-६७)

तुम्हारे चित्त का जो व्यवहार चल रहा है उसको देखो कि राग-द्वेषपूर्वक है या नहीं? यदि रागपूर्वक है तो समझो तुम्हारे अन्दर अज्ञान है। कोई कहे कि राग-द्वेष तो चित्त में हो रहे हैं, वे चित्त में पड़े रहें, हम तो ज्ञानी हैं। तब कहा - तुम तो ऐसी बात कर रहे हो कि किसी वृक्ष के कोटर में धू-धू करके अग्नि जले और वह हरा-भरा भी बना रहे, ये दोनों तो साथ नहीं हो सकते। इसी प्रकार एक ही अन्तःकरण में ज्ञान और राग-द्वेष एक साथ नहीं रह सकते।

जिज्ञासा :- देखा जाता है, महापुरुष लोग किसी शिष्य को तो अधिक सेवा में लगाए रखते हैं और किसी को कहते हैं - यह सब छोड़कर भजन करो। ऐसा भेदभाव वे क्यों करते हैं?

समाधान :- महापुरुषों में कोई भेदभाव नहीं रहता, वे तो कल्याणमूर्ति होते हैं, हमेशा शिष्य का कल्याण ही सोचते हैं। वे शिष्य की योग्यता को जानकर

ही उसे आदेश देते हैं, इसमें उनका कोई स्वार्थ नहीं होता। वे जानते हैं कि शिष्य का कल्याण किसमें है। हमने इसी आश्रम में देखा है कि हमारे महाराजजी कुर्सी पर बैठ जाते थे और हम लोग मिट्टी ढोते रहते थे। महाराजजी देखते रहते थे कि कौन-कौन नहीं आया है। जब उन्हें पता चलता था कि अमुक साधक ध्यान कर रहा है, तो वे उससे कहते, 'ऐसे ध्यान करने से, आँख मूँदकर बैठने से कुछ नहीं होता। कुछ सेवा किया करो।' जो साधक अधिक कर्म करता था उससे कभी-कभी कहते कि ध्यान करने के लिए थोड़ा अधिक समय निकाला करो। कम-से-कम तीन घण्टे तो ध्यान-भजन करना ही चाहिए। इसलिए महापुरुषों की दृष्टि को समझना कठिन है कि वे किस दृष्टि से क्या कहते हैं।

जिज्ञासा :- सहज-समाधि को प्राप्त महापुरुष के व्यवहार में किसी प्रकार का परिवर्तन आता है क्या? उसके व्यावहारिक जीवन में अतीत की स्मृति लुप्त हो जाती है अथवा यथावत बनी रहती है?

समाधान :- उसकी समाधि सहज है तो व्यवहार में परिवर्तन आ भी सकता है और नहीं भी। अतीत की स्मृति के विषय में समझना चाहिए कि बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं जिनके यथावत बने रहने पर भी यदि आपका ध्यान उधर नहीं जाता है तो वे एक तरह से लुप्त ही हैं। उस बात के चित्त में आने पर ही आपका ध्यान उधर जाता है। एक स्थिति ऐसी होती है कि कहीं कुछ भी होता रहे, आपका ध्यान उधर जाता ही नहीं क्योंकि चित्त अलग ही स्थान पर केन्द्रित है। तब चित्त में बातों के आने-जाने से कोई अन्तर ही नहीं पड़ता। सहज-समाधि में स्थित पुरुष के चित्त की ऐसी स्थिति हो जाती है कि ये सब व्यवहार अथवा अतीत की स्मृतियाँ उसके अन्दर कुछ प्रभाव नहीं डालतीं। उसे स्मृति आए अथवा न आए, कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

विविध

जिज्ञासा :- दृश्य में सत्यत्वबुद्धि होने से महत्व और प्रियत्वबुद्धि होती है अथवा दृश्य में महत्वबुद्धि होने से सत्यत्व और प्रियत्वबुद्धि होती है अथवा दृश्य में प्रियत्वबुद्धि होने से सत्यत्व और महत्वबुद्धि होती है?

समाधान :- जो विषय या दृश्य दिखाई दे रहा है, यदि हमारे मन में उस प्रकार के विषय का अनुभव पहले से है तो उसमें पहले शोभन बुद्धि होती है, वह अच्छा लगता है, पर अच्छा लगना उस विषय का धर्म नहीं है। इसलिए एक ही विषय सबको अच्छा नहीं लगता। आपको यदि वह प्रिय लगता है, तो इसमें हेतु है आपके मन में स्थित पूर्वजन्म या इस जन्म के रागात्मक संस्कार।

विषय अच्छे लगने में भी दो प्रकार हैं- जैसे, टी.वी. पर आप कोई दृश्य देख रहे हैं, वह आपको अच्छा लग सकता है। पर आप जानते हैं कि यह दीखता है, परन्तु है नहीं। इसलिए दृश्य भले ही अच्छा लगे, परन्तु उसमें सत्यत्वबुद्धि नहीं हो सकती। जब तक सत्यत्वबुद्धि आपके अन्दर नहीं आएगी, तब तक प्रियत्व नहीं आएगा। जब सत्यत्वबुद्धि आएगी तब आप समझेंगे यह वस्तु है, तो उसको लेने की इच्छा भी करेंगे। टी.वी. पर दिखाई देनेवाली मिठाई में सत्यत्वबुद्धि न होने से प्रियत्वबुद्धि नहीं होगी और उसे ग्रहण करने की प्रवृत्ति भी न होगी। असत्यत्वबुद्धि एक ऐसी वृत्ति है कि महत्वबुद्धि और प्रियत्वबुद्धि दोनों को बाधित कर देती है, अर्थात् प्रियत्वबुद्धि और महत्वबुद्धि ये दोनों ही सत्यत्वबुद्धि के बिना काम नहीं कर सकतीं। जैसे, स्वप्न के पदार्थ के प्रति जागने पर आपको सत्यत्वबुद्धि नहीं होती, तो वह आपको सुख-दुःख नहीं देता, जबकि रस्सी में भ्रम से सत्य प्रतीत होनेवाला सर्प भय उत्पन्न कर देता है।

जिज्ञासा :- हिन्दूबहुल भारत में हिन्दू समाज अनेक मत-मतान्तर एवं नाना सम्प्रदायों में विभाजित हो रहा है। क्या इसे रोका जा सकता है?

समाधान :- इसे रोकने की कोई आवश्यकता नहीं है। रुचि की भिन्नता से किसी को दही अच्छा लगता है, किसी को दूध, तो किसी को मट्ठा। इसी प्रकार किसी को राम अच्छे लगते हैं, किसी को शिव, किसी को देवी और किसी को गणपति इत्यादि -

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां...। (शिवमहिम्नःस्तोत्र -७)
परन्तु रुचि के अनुसार उपास्य भिन्न-भिन्न होने पर भी सभी साधक एक परमेश्वर को ही प्राप्त करते हैं।

इस बात को समझ लेना चाहिए कि विषमता का नाम ही जगत् है, विषमता को आप मिटा नहीं सकते। परन्तु विषमता में भी एक ऐसा तत्त्व अनुस्यूत है जो सम है। जैसे, एक धागे में भिन्न-भिन्न प्रकार के पुष्प गूँथकर माला बनाई जाती है तो विषमता पुष्पों में है धागे में नहीं। शास्त्र का तात्पर्य है कि परमेश्वर एक है, सम है। जैसे, भिन्न-भिन्न फूलों को धागे में पिरोने से एक माला बन जाती है। इसी प्रकार धागेरूप ईश्वरतत्त्व में सब सम्प्रदायों को पिरोया जा सके तो विषमता मिटाने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी, एकत्व अपने आप आ जाएगा।

जिज्ञासा :- यदि कोई हितैषी व्यक्ति किसी को ऐसा परामर्श देता है जिससे उसके जीवन में सुख-शान्ति हो। उसके परामर्श मानने पर भी इसके विपरीत होता हो, तो ऐसे परामर्शदाता को क्या करना चाहिए?

समाधान :- किसी विषय में अपनी बुद्धि काम न करे तो व्यक्ति को उस विषय को भगवान् के चरणों में अर्पित कर देना चाहिए। दुःख हो रहा है अथवा सुख, सारा निर्णय भगवान् के चरणों में अर्पित कर दो और सोचो भगवान् जो करेंगे उसीसे मंगल होगा। न कोई किसी को सुख-दुःख दे सकता है, न किसी का सुख-दुःख ले सकता है। इसलिए व्यक्ति को अपने कर्तव्य में केन्द्रित हो जाना चाहिए। जगत् के सुख-दुःख की चिन्ता करने से कोई लाभ नहीं क्योंकि उसमें आपका कोई वश नहीं है। अपने को किसी के सुख-दुःख में निमित्त मानने से दोष होता है।

व्यक्ति को अपने दोषों को हटाने का प्रयास करना चाहिए, दूसरे के विषय में चिन्ता नहीं करनी चाहिए क्योंकि विद्यते न खलु कश्चिदुपायः सर्वलोकपरितोषकरो यः। (जीवनमुक्तिविवेक), ऐसा कोई उपाय जगत् में नहीं है जिससे आप दुनिया भर के लोगों को प्रसन्न कर लें। इसलिए आपको यही विचारना चाहिए कि मेरा हित किसमें है? सर्वथा स्वहितमाचरणीयम्। (जीवनमुक्तिविवेक) सभी अपने प्रारब्ध के अनुसार सुखी-दुःखी हो रहे हैं।

भगवान् ने अवतार लिया तो उस समय क्या सभी सुखी हो गये? दुःख भोगनेवालों ने तो तब भी दुःख ही भोगा, इसी प्रकार जिन्हें सुखी होना था वे सुखी हुए। तात्पर्य यह है कि भगवान् का आधार लेकर संसार की यात्रा करनी चाहिए।

जिज्ञासा :- कहते हैं, भगवान् सर्वशक्तिमान् है और वह शरीर में भी है, तो मनुष्य हमेशा शक्तिमान् क्यों नहीं रहता है?

समाधान :- हाँ, शरीर में भगवान् तो है, पर मनुष्य की ग्राहक शक्ति कम होने से उसकी शक्ति का अनुभव नहीं होता। जैसे, समान रूप से विद्युत रहने पर भी हजार पावर के बल्ब की अपेक्षा जीरो पावर के बल्ब में ग्राहक शक्ति कम होने से विद्युत की अभिव्यक्ति अत्यल्प दिखाई देती है। शक्तिमान् तो शरीर में सदा रहता है अन्यथा व्यवहार ही नहीं होगा। पर ग्राहक शक्ति कम होने से मनुष्य में ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति कमजोर रहती है। इसका मतलब यह नहीं है कि वहाँ पर परमात्मा (शक्तिमान्) नहीं है।

जिज्ञासा :- वैज्ञानिक लोग पुनर्जन्म नहीं मानते। इस विषय में आपका क्या मत है?

समाधान :- आज विज्ञान का बहुत विकास हो गया है, पर क्या हर बात का समाधान विज्ञान कर पाता है? तमाम बालकों को हमने देखा है कि जो अपने पूर्वजन्म-सम्बन्धी बातें करते हैं। जो पूर्वजन्म से सम्बन्ध नहीं मानता वह विज्ञान इसका समाधान कैसे करेगा? पुनर्जन्म को स्वीकार किए बिना कोई इस समाधान का उपाय नहीं है।

हमने स्वयं अपने पूर्वजन्म की लम्बी घटना को प्रत्यक्ष देखा है, उस शरीर को भी देखा है और अनुभव किया है। हम कैसे मान सकते हैं कि पुनर्जन्म नहीं होता है! एक बालक की घटना को भी हमने देखा है। वर्तमान जन्म में वह ब्राह्मण का पुत्र था। उसने कहा कि हमको पूर्वजन्म का सब याद है। पूर्वजन्म में मेरा यह नाम था, मैं क्षत्रिय था, अमुक जगह रहता था। वे लोग उसके कथनानुसार उसको पूर्वजन्म के स्थान पर ले गए। जैसा उसने बताया था, सब वैसा ही देखा।

व्यवहार में हम देखते हैं कि कोई बालक धनी परिवार में जन्म लेता

है तो कोई अत्यन्त निर्धन परिवार में। एक परिवार में भी अलग-अलग बालकों के संस्कारों में बहुत भिन्नता दीखती है। यदि पुनर्जन्म को न माना जाए तो इस भेद का कारण क्या होगा? गाय का नवजात बछड़ा दूध के लिए माँ के स्तन के पास ही जाता है। यदि पूर्वजन्म का संस्कार न हो तो उसकी प्रवृत्ति कैसे होगी? इन सब बातों का पुनर्जन्म को न माननेवाले विज्ञान के पास क्या समाधान है? इदम् के विषय में विज्ञान कुछ भी खोज कर ले, परन्तु अहम् के विषय में कैसे करेगा!

जिज्ञासा :- सुषुप्ति के समय सचेत रहने के लिए क्या उपाय है?

समाधान :- सुषुप्ति के समय सचेत कैसे रहेंगे! सुषुप्ति में यदि कोई विशेष अनुभूति हो जाए तो उसे सुषुप्ति ही कैसे कहेंगे? परन्तु यदि आप जाग्रत में सचेत हैं तो आपकी सुषुप्ति भी साधना का रूप ले लेती है। यदि जाग्रत में मन्त्र का अभ्यास बहुत दृढ़ हो जाए, तो सुषुप्ति में भी मन्त्र चलता रहता है।

जिज्ञासा :- मैं माता-पिता के जीवित रहते समय उनकी सेवा नहीं कर सका, पर अब अफसोस होता है। कृपया इसका समाधान बताइए।

समाधान :- अब भी उनकी सेवा कर सकते हो, घबराने की आवश्यकता नहीं है। आपके माता-पिता का जो स्वभाव था, उसे आप जानते ही हैं, कोई ऐसा व्यवहार मत करो जिससे उनको दुःख पहुँचता रहा हो। जो उन्होंने आज्ञा दी थी भले ही उसका पालन उस समय नहीं कर पाए, अब कर सकते हो। बस, अभी तो यही उनकी सेवा है।

जिज्ञासा :- सुनते हैं प्रलय भी कई प्रकार के होते हैं। वे कौन-कौन से हैं?

समाधान :- शास्त्रों में चार प्रकार के प्रलय प्रसिद्ध हैं - नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय, प्राकृत प्रलय और आत्यन्तिक प्रलय।

हम सभी लोग प्रतिदिन सुषुप्ति में जाते हैं, वहाँ न जागृत-प्रपञ्च दीखता है और न ही स्वप्न-प्रपञ्च। दोनों ही सुषुप्ति में लीन हो जाते हैं। इसे नित्य प्रलय कहते हैं।

एक सहस्र चतुर्युगी (चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष) बीतने पर ब्रह्माजी का एक दिन पूरा होता है। दिन बीतने पर जब ब्रह्माजी सोते हैं तो भूः भुवः स्वः तीनों लोक नष्ट हो जाते हैं। इसको नैमित्तिक प्रलय कहते हैं क्योंकि यह ब्रह्माजी के सोने के निमित्त से होता है। इसमें ब्रह्माजी के सत्यलोक और महः जनः तपः इन लोकों का प्रलय नहीं होता।

इस प्रकार सहस्र चतुर्युगी का ब्रह्माजी का एक दिन होता है, तदनुसार तीन सौ साठ दिनों का एक वर्ष होता है और ब्रह्माजी की आयु सौ वर्ष होती है। इस समय ब्रह्माजी का इक्कावनवाँ वर्ष चल रहा है। जब ब्रह्माजी के सौ वर्ष पूर्ण हो जाते हैं तब वे विदेहमुक्त होते हैं। उनके साथ सत्यलोक में रहनेवाले बहुत-से लोग भी मुक्त हो जाते हैं। जब ब्रह्माजी का शरीर छूटता है तब ब्रह्मलोक तक जितनी सृष्टि है सब नष्ट हो जाती है। पृथ्वी तत्त्व जल में, जलतत्त्व अग्नि में, अग्नितत्त्व वायु में, इस प्रकार अपने-अपने कारण में लीन होते हुए सभी तत्त्व प्रकृति में लीन हो जाते हैं, अतः इसको प्राकृत प्रलय कहते हैं। इसके पश्चात् पुनः दूसरे ब्रह्मा के उत्पन्न होने पर फिर सृष्टि होती है। इस तरह यह क्रम चलता रहता है।

इसके पश्चात् एक अन्तिम प्रलय है - यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। (गीता-१५.६) ज्ञानी स्वरूप में लीन होने के पश्चात् विदेहमुक्ति को प्राप्त कर लेता है। उसका संसरण हमेशा के लिए नष्ट हो जाता है। इसी का नाम आत्यन्तिक प्रलय है।

जिज्ञासा :- हृदय तत्त्व क्या है?

समाधान :- हृदय अर्थात् आत्मा, उसमें कल्पित है बुद्धि और बुद्धि में प्रतिफलित है विशिष्ट चेतन। हमारे सभी कार्य इन तीनों से मिलकर ही होते हैं। जैसे, बल्ब से प्रकाश होता है। बल्ब में विद्युत है जो दिखाई नहीं देती, उसके अन्दर एक सूक्ष्म तन्तु भी है और तन्तु में प्रतिफलित विशिष्ट प्रकाश भी है। इन तीनों से ही प्रकाशनरूपी कार्य होता है।

प्राण और बुद्धि के केन्द्र का नाम हृदय है। डॉक्टर लोग भी आजकल कहते हैं कि हृदय (लोकप्रसिद्ध माँसपिण्ड) धड़कता है तो शरीर चलता है, परन्तु इस हृदय को चलाता कौन है? उसके मध्य एक पोल (अवकाश) है, उसमें एक

ऐसा तत्त्व है जिससे यह हृदय (माँसपिण्ड) चलता है। शास्त्रानुसार हृदय शरीर का अंग नहीं है, बल्कि अंगरूप से दिखाई देनेवाले स्थूल हृदय के अन्दर जो आकाश है उसको हृदय शब्द के द्वारा कहा जाता है।

शास्त्रों में कहीं-कहीं हृदय शब्द से सीधे आत्मा को न लेकर उसकी उपलब्धि के स्थानविशेष को भी कहा जाता है। आत्मा सर्वव्यापक होने पर भी उसकी उपलब्धि हृदय में ही होती है। इन दो अर्थों में हृदय शब्द का प्रयोग शास्त्र में मिलता है।

जिज्ञासा :- मनुष्यमात्र का परमलक्ष्य परमार्थ है, परन्तु इस स्पर्धात्मक युग में व्यक्ति को धन-प्राप्ति के लिए बहुत परिश्रम करना पड़ता है। कभी-कभी इसके लिए न चाहते हुए भी गलत तरीके अपनाने पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति क्या करे?

समाधान :- एक बात को हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए कि यदि हमारे जीवन का परमलक्ष्य परमार्थ है, तो हमारे अन्दर बहुत अधिक सहनशक्ति होनी चाहिए। आज के युग में भी स्पर्धा की कोई आवश्यकता नहीं है। मूर्खों के समान व्यवहार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि लक्ष्य स्पष्ट है तो उसकी विरोधी वस्तु को काटने में व्यक्ति समर्थ होता है। लक्ष्य प्राप्त करने के लिए जो सहयोगी वस्तु है, उसी को प्राप्त करने के लिए साधक को प्रयास करना चाहिए।

व्यक्ति धर्म पर खड़ा होकर यदि थोड़ा भी धन प्राप्त करता है तो वह जीवन में सन्तोष देनेवाला होगा अन्यथा चाहे जितना धन प्राप्त हो उससे असन्तोष ही बढ़ेगा। तपस्या और त्याग को अपने जीवन का अंग बनाना चाहिए, तब स्पर्धा की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

जिज्ञासा :- आजकल कई अच्छे महात्माओं को भी अखबार पढ़ते हुए देखा जाता है? क्या अखबार पढ़ना परमार्थ में सहायक है?

समाधान :- यदि कोई अखबार पढ़ता है तो इसका मतलब यही हुआ कि उसे उस विषय में जिज्ञासा है। परन्तु यह नियम सब पर समान रूप से लागू नहीं है। यदि कोई ज्ञानी समाचारपत्र पढ़ता है, तो उसके विषय में हम ऐसा नहीं

समझ सकते। उसका पढ़ना या न पढ़ना दोनों बराबर है। पर यदि कोई साधक पढ़ता है तो इसका मतलब यह है कि उसमें तद्विषयक वासना है। वह नहीं पढ़ेगा तो व्यर्थ मनोराज्य करेगा क्योंकि चौबीस घण्टे आत्मचिन्तन में लगने की तत्परता तो उसमें है नहीं। अतः वह सोचता होगा कि कुछ समय बिताने के लिए अखबार ही पढ़ लें। फालतू मनोराज्य से बचने के लिए साधक कोई युक्ति अपना लेता है। वस्तुतः इसमें पारमार्थिक-लाभ कुछ भी नहीं है। हाँ, सांसारिक ज्ञान अवश्य बढ़ सकता है। मुमुक्षु के लिए तो यह विक्षेप का हेतु ही है।

एक बात ध्यान देने की है कि सभी लोगों का अखबार पढ़ना एक समान नहीं होता है। कोई व्यक्ति ऐसे ही एक-दो मिनट देखकर रख देता है। उसके अन्दर अखबार से कोई विशेष संस्कार नहीं जाता है, कोई व्यक्ति विशेष तौर से उसका अध्ययन करता है तो उसको उसकी स्मृति और चिन्तन भी होता है। यह तो मन में विक्षेप करेगा ही। अतः साधक को अखबार नहीं पढ़ना चाहिए।

जिज्ञासा :- अन्तिम समय में एक वृद्ध (जिसने परमात्मा को प्राप्त नहीं किया) को क्या अनुभव होता है?

समाधान :- बिहार में एक बहुत-बड़े पण्डित थे। न्यायशास्त्र के बड़े विद्वान् थे, उनकी बड़ी कीर्ति थी। अन्तिम समय में वे बीमार हो गए और शरीर छूटने की स्थिति आ गई। शिष्य लोग उन्हें चारों तरफ से घेरकर बैठ गए और उनसे पूछा, 'महाराज, अब तो आप शरीर छोड़ रहे हैं। अपने जीवन का कोई एक ऐसा अनुभव बताइए जो हमारे जीवन में काम आ सके।' तब उन्होंने शिष्यों के सम्मुख कहा -

मृत्कुम्भबालुकारन्ध्रपिधान- रचनार्थिना।

दक्षिणावर्तशंखोऽयं हन्त चूर्णीकृतो मया॥ (परम्परया)

वे बोले, 'भगवान् ने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की और एक दक्षिणावर्त शंख मुझको दिया। दक्षिणावर्त शंख का लक्षण होता है कि उसका पूजन करके जो भी संकल्प करो, वह सिद्ध हो जाता है। परन्तु मैं उसकी महिमा नहीं जानता था। मेरे पास एक मिट्टी का घड़ा था जिसके प्रति मेरा बड़ा मोह था। मैं हमेशा सोचता था कि यह घड़ा नित्य ही भरा रहे, परन्तु घड़ा तो बालू प्रधान था। जहाँ पानी भरूँ वहीं छिद्र हो जाए और पानी बाहर निकलने लगे। मैं बहुत दुःखी होता था

क्योंकि मैं घड़े को हमेशा भरकर रखना चाहता था। एक दिन मैंने दक्षिणावर्त शंख का चूर्ण बनाया और उसे शहद में मिलाकर उससे घड़े के छिद्र बन्द किए। परन्तु इस प्रकार मैं एक छिद्र बन्द करता तो दूसरा छिद्र बन जाता। आज मेरा दक्षिणावर्त शंख तो चूर्ण होकर समाप्त हो गया, परन्तु मिट्टी का घड़ा खाली का खाली ही रहा।' इस प्रकार श्लोक बोलकर उन्होंने शरीर छोड़ दिया।

भाव यह है कि यह मनुष्य-शरीर ही दक्षिणावर्त शंख है, अन्य शरीर तो वामावर्त शंख हैं। जीव स्वर्गलोक, गोलोक या मुक्ति जो भी पाना चाहता है तो इसी शरीर में पुरुषार्थ करके प्राप्त करता है। इसलिए यह शरीर एक दक्षिणावर्त शंख है जो भगवान् की कृपा से प्राप्त होता है और जगत्-रूपी मिट्टी का घड़ा है। मनुष्य घर बनाता है, आश्रम बनाता है तो हर समय उसको हरा-भरा रखना चाहता है। जीवन भर इसी प्रयास में लगा रहता है कि उसमें कोई कमी न आए और जगत् का तो स्वभाव है जिधर से छिद्र भरो, अन्य जगह छिद्र हो जाता है। इसीमें पूरा-का-पूरा जीवन बीत जाता है। मृत्युकाल में शरीररूपी दक्षिणावर्त शंख तो चूर्ण होकर समाप्त हो जाता है पर जगत्-रूपी घड़े को आजतक कोई भर नहीं पाया है। बहुत ही मार्मिक अनुभव उन्होंने बताया। ऐसा अनुभव अन्तिम काल में हर वृद्ध को होता ही होगा। परन्तु जिसने परमात्मा को प्राप्त कर लिया है, वह मृत्यु के समय भी निश्चिन्त ही रहता है।

जिज्ञासा :- मन में पहले संकल्प उत्पन्न होता है या काम?

समाधान :- काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे (महा. शान्ति.-१७७.२५) हे काम! मैं तुम्हारे मूल को जान गया, तुम संकल्प से उत्पन्न होते हो। पर संकल्प भी दो प्रकार का होता है। एक काम के मूल में होनेवाला और दूसरा कामोद्भव के पश्चाद्भावी। किसी वस्तु को देखकर पहले एक शोभनबुद्धिरूप सूक्ष्म संकल्प मन में आता है, फिर उस वस्तु के प्रति काम उत्पन्न होता है और फिर उसको ग्रहण करने का स्थूल संकल्प उत्पन्न होता है।

जिज्ञासा :- क्या कोई व्यक्ति चाहे तो आकाश के साथ तादात्म्य कर सकता है?

समाधान :- क्यों नहीं। अरे, जड़ शरीर के साथ जब तादात्म्य हो

सकता है तो आकाश के साथ क्यों नहीं हो सकता! स्वप्न में एक कल्पित मैं के साथ तादात्म्य कर सकते हो तो आकाश के साथ क्यों नहीं हो सकता!

एक बार नानकजी और गोरखनाथजी दोनों मिले। नानकजी ने गोरखनाथजी से कहा, 'अपनी कोई सिद्धि दिखाइये।' गोरखनाथजी ने कहा, 'तलवार लेकर हमारे शरीर पर वार कीजिए।' जब गोरखनाथजी के शरीर पर तलवार का वार किया तो तलवार के दो टुकड़े हो गए क्योंकि तलवार वज्र को काट नहीं सकती है। उन्होंने तो अपने में वज्र की भावना कर रखी थी। अब गोरखनाथजी ने नानकजी से कहा, 'आप भी कोई सिद्धि दिखाइए।' नानकजी ने कहा, 'उठाइए तलवार और मेरे शरीर पर कीजिए प्रहार।' जब तलवार उठाकर उनके शरीर पर प्रहार किया तो तलवार घूमती रही, पर शरीर से कोई सम्पर्क नहीं बना। गोरखनाथजी ने पूछा, 'यह कैसे हुआ?' नानकजी ने कहा, 'आपने वज्रकाय की भावना की तो मैंने आकाशकाय की भावना कर ली।'

जिज्ञासा :- मरणोपरान्त शरीर के अंगों का मेडिकल कॉलेज में दान करने से क्या लाभ होता है?

समाधान :- पहले एक बात यह समझनी चाहिए कि सभी जगह व्यापार नहीं करना चाहिए। ईश्वर-भजन करते हैं और कहते हैं इससे क्या लाभ है? ऐसी जगह व्यापार मत करो। कुछ कार्य कर्तव्य रूप से ही करने चाहिए। उनमें लाभ-हानि नहीं देखने चाहिए। माता-पिता के प्रति हमारा कर्तव्य है। वहाँ कोई सोचे कि इनकी सेवा करने से क्या लाभ है? यहाँ लाभ नहीं देखना है क्योंकि इनकी सेवा करना तुम्हारा कर्तव्य है। नहीं करोगे तो तुम्हारे सिर पर पाप बैठ जाएगा। इसी प्रकार सूर्य, पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल ये अनुग्राहक देवता हैं। इनके बिना हमारा जीवन नहीं चल सकता है। हम लोग निरन्तर इनसे लाभ ले रहे हैं। तो इनके प्रति भी हमारा कुछ कर्तव्य होता है अन्यथा इनका ऋण हमारे ऊपर रह जाता है। जो देवता के उद्देश्य से त्याग किया जाता है, उसका नाम यज्ञ है।

इसलिए गीता में कहा यज्ञ, दान, तप इत्यादि शुभ कार्य नहीं त्यागने चाहिए, बल्कि अनिवार्य रूप से करने चाहिए - यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। (१८.५) इसी प्रकार समाज के प्रति भी हमारा एक कर्तव्य है क्योंकि समाज से ही कुछ लेकर हमारा जीवन आगे बढ़ा है। इसलिए इस

प्रसंग में यह नहीं पूछना चाहिए कि क्या लाभ है? इस ऋण को चुकाना हमारा कर्तव्य है क्योंकि समाज से हमने कुछ लिया है, तो समाज के प्रति हमें कुछ करना भी चाहिए। इस भावना से प्रेरित होकर किसी ने विचार किया कि शरीर छूटने के बाद भी कुछ काल तक नेत्रशक्ति रहती है। इसलिए ये नेत्र निकाल लिए जाएँ तो किसी अंधे व्यक्ति का उपकार होगा। यदि मृत शरीर से भी इतना उपकार किसी का होता है तो यह एक अच्छी भावना है। उद्देश्य ठीक हो तो कार्य भी ठीक होता है। उद्देश्य में गड़बड़ी हो तो अच्छा कार्य भी खराब हो जाता है, व्यापार हो जाता है।

देखो, दधीचि ऋषि ने वृत्रासुर को मारने के लिए अपना जीवित शरीर ही देवताओं को दे दिया। उनकी हड्डियों से ही इन्द्र का वज्र बना। इस कर्तव्य भावना से किसी को अङ्गदान करने में मुझे कोई दोष नहीं दीखता, बल्कि अच्छा ही है।

जिज्ञासा :- मेरे माता-पिता मेरी शादी करना चाहते हैं, पर मुझे तो केवल भजन ही करना है। ऐसी परिस्थिति में मैं क्या करूँ?

समाधान :- अपनी शक्ति देख लो। एक तो माता-पिता को दृढ़ता से बोलना पड़ेगा जिससे उन्हें पक्का हो जाए कि निश्चित ही यह शादी नहीं करेगा। साथ ही, अपने जीवन को इस प्रकार का बनाना पड़ेगा जिससे माता-पिता को विश्वास हो जाए कि यह भविष्य में हमारे ऊपर कलंक नहीं लगाएगा। ये दो दृढ़ता जिसमें हों और भजन में वास्तविक निष्ठा हो तो उसको माता-पिता निश्चित ही आज्ञा देंगे। यदि आप में ताकत नहीं है, भजन में निष्ठा नहीं है तो न आज्ञा मिलेगी और न ही सफलता। माता-पिता को पहले यह पक्का हो जाए कि यह हमारी सद्गति का हेतु बनेगा तो उनकी आज्ञा मिल ही जाएगी।

जिज्ञासा :- क्या जीवन में महत्वाकांक्षी होना लाभदायक होता है?

समाधान :- जरूर होता है। महत्वाकांक्षी ही आगे बढ़ता है, कायर क्या बढ़ेगा!

जिज्ञासा :- योगसूत्र में कहा है - सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः, (२.४२) सन्तोष से सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है। सन्तोष का लक्षण बताया कि जितने साधन उपलब्ध हैं उससे अधिक पाने की इच्छा न करें। परन्तु आप कहते हैं कि व्यक्ति में महत्वाकांक्षा होनी चाहिए। इन दोनों बातों का समन्वय कैसे हो?

समाधान :- प्राप्त भोग में सन्तोष होना चाहिए और पुरुषार्थ के प्रति महत्वाकांक्षा होनी चाहिए। यदि प्राप्त भोग में सन्तोष न रखे तो करोड़पति भी सुखी नहीं हो सकता और यदि सन्तोष होगा तो व्यक्ति सूखी रोटी में भी प्रसन्न रहेगा। अतः जीवन में सन्तोष रखने के लिए शास्त्र ने जो कहा वह प्राप्त भोग को लेकर कहा, परन्तु शास्त्रीय पुरुषार्थ के विषय में तो महत्वाकांक्षा होनी ही चाहिए, अतः दोनों बातों में कोई विरोध नहीं दीखता।

जिज्ञासा :- आजकल बड़े लोग बच्चों की समस्या को नहीं समझते हैं, तो बच्चे उनका कहना मानें या न मानें?

समाधान :- आजकल घरों में बड़ी जटिल समस्या हो गयी है। बड़े लोग बच्चों की समस्या को नहीं समझते और बच्चे बड़ों के भाव को नहीं समझते। मैं तो इसमें बच्चों का दोष नहीं देखता। बड़े लोग ही इस विषय में असावधान रहते हैं। बच्चों के प्रति मोह कर सकते हैं पर उनके लिए और कुछ कर नहीं सकते। आजकल स्कूल-कॉलेजों का वातावरण भी बच्चों की समस्याओं को बहुत जटिल बना देता है। उनका माता-पिता से सम्बन्ध ऐसा हो गया कि वे अपनी समस्या उनके सामने रख नहीं सकते। माता-पिता भी बच्चों के मन को नहीं समझते। क्या करें युग ही ऐसा है! परन्तु ऐसा होने पर भी बच्चे लोग बड़ों को जितना आदर दे सकें उतना अवश्य दें, इसमें उनको लाभ ही है। अपना अहंकार बढ़ाने में कोई लाभ नहीं है। बड़ों का अनुभव बहुत दिनों का होता है और बालक का कुछ दिन का। इसलिए बालक को समझ में न आए तो भी उनकी बात मानने से लाभ हो सकता है।

बालक की पिता में श्रद्धा हो तो वह उनकी बातों को मन से मान सकता है, नहीं तो कैसे मानेगा। पहले वानप्रस्थाश्रम बहुत अच्छा था। माता-पिता अपना कर्तव्य पूरा करके घर से बाहर रहकर भजन करते थे। इससे बच्चों

की उनमें श्रद्धा हो जाती थी। वे उनकी बात मान लेते थे। यह परम्परा टूटने से घरों में बड़ी भयंकर समस्या हो गई है। माता-पिता को जो त्याग का आदर्श बच्चों के सामने रखना चाहिए उसको वे नहीं रख पा रहे हैं। यदि हम बच्चों को सुधारना चाहते हैं तो पहले हमें स्वयं सुधरना होगा। फिर भी हम तो यही कहेंगे कि बड़ों की बात मानने में ही बच्चों की भलाई है।

जिज्ञासा :- आप कहते हैं, सुषुप्ति में हमारी बैटरी चार्ज होने के कारण हम जीवित रहते हैं। अगर ऐसी बात है तो जो लोग अनिद्रा रोग के शिकार हैं वे कैसे जीते हैं?

समाधान :- अनिद्रा-रोग का शिकार व्यक्ति भी सोता है पर थोड़ा ही सो पाता है। इसलिए उसकी कामचलाऊ बैटरी चार्ज तो हो ही जाती है, पर बैटरी कम चार्ज होने से उस व्यक्ति का स्वास्थ्य सामान्य व्यक्ति के समान अच्छा नहीं रहता, यह तो हम प्रायः देखते ही हैं। सुषुप्ति में बैटरी चार्ज कहने का मेरा यही तात्पर्य है कि लोगों में जो भ्रम है कि जगत् के विषयों से ही हम जीवित हैं, वह टूट जाए। वस्तुस्थिति यह है कि सुषुप्ति में कारणतत्त्व के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध बनता है, सुख की प्राप्ति होती है, वहाँ कोई विक्षेप नहीं रहता। अतः उस समय उसे शक्ति प्राप्त होती है। जाग्रत-स्वप्न में तो विषय भोग से यह थक ही जाता है। इसलिए व्यक्ति बिल्कुल नहीं सोए तो जीवित नहीं रह पाएगा। अनिद्रा-रोगी भी कुछ सोकर थोड़ी शक्ति प्राप्त कर ही लेता है। ध्यानयोगी भी सोता नहीं है, परन्तु समाधि में उसका चित्त संकल्परहित होकर कारणतत्त्व (ईश्वर) के साथ सम्बन्धित होता है जिससे उसे शक्ति प्राप्त हो जाती है।

जिज्ञासा :- भूत-प्रेत क्या वास्तव में होते हैं? क्या इनका आवेश मनुष्य में आ सकता है?

समाधान :- भूतयोनि, प्रेतयोनि ये बातें शास्त्र में कही गई हैं। शिवजी के गण भी भूत-पिशाच बताए गए हैं। इन सबको झूठ कैसे कह सकते हैं! भूत-प्रेतों के सीमित समय तक भिन्न-भिन्न रूप भी होते हैं। वे बातें भी करते हैं। प्रायः मन्त्र-दीक्षारहित मनुष्यों पर अशुद्ध अवस्था में इनके आवेश भी कभी-कभी होते देखे गये हैं। भूतविद्या के जानकार द्वारा पूजा करवाकर वे उतारे भी जाते हैं।

भगवान् ने गीता में भी कहा कि भूतपूजक भूतों को प्राप्त होते हैं। कभी-कभी भूत लगे बिना भी मन में भूत घुस सकता है, यह अलग बात है।

जिज्ञासा :- जाग्रत और स्वप्न में क्या अन्तर है?

समाधान :- जिस अवस्था में इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण किया जाता है उसका नाम है - **जाग्रत** और जिस अवस्था में बाह्येन्द्रियों का मन में लय हो जाता है एवं विषयरूप में परिणत हुए मन का साक्षी द्वारा ग्रहण होता है, उसका नाम है - **स्वप्न**। स्वप्न में संस्कारों के अनुसार दृश्य दीखते हैं, परन्तु वहाँ दोष अधिक रहते हैं, इसलिए वस्तुओं का भान सम्यक् रूप से नहीं होता। जैसे कभी अपना सिर कटा हुआ दीख सकता है। कभी अपने आपको हवा में उड़ता हुआ देख सकता है। इस प्रकार के असम्भव दृश्य भी दीख सकते हैं। दोषसहित संस्कारों से जिसमें ज्ञान होता है वह स्वप्न है।

इनमें एक अन्तर और भी है - जब स्वप्न से आप जागते हैं तो अन्दर एक ज्ञान होता है कि जो देखा वह झूठा था। इससे स्वप्न की सचाई खत्म हो जाती है। लेकिन जब हम जाग्रत से स्वप्न में जाते हैं, उस समय जाग्रत का भान नहीं रहता, पर जो हमने जाग्रत में देखा वह झूठा था, ऐसा बोध भी वहाँ नहीं होता। स्वप्न में स्वरूप का अज्ञान तो है ही, साथ में जाग्रत का भी अज्ञान होता है। इस प्रकार वहाँ दो अज्ञान हैं। जाग्रत में केवल स्वरूप का ही अज्ञान रहता है। स्वप्न से जागने पर जाग्रत का अज्ञान बाधित हो जाता है, इसलिए जाग्रत में आने पर स्वप्न की स्मृति होती है।

कुछ स्वप्न आगे आनेवाली घटनाओं के सूचक भी होते हैं और कुछ वात, कफ और पित्त आदि के द्वारा जनित भी होते हैं। जिन कर्मों का फल स्थूल होता है, उनका भोग जाग्रत में होता है और जिन कर्मों का फल सूक्ष्म होता है, उनका भोग स्वप्नावस्था में होता है। विशेषकर मानस पुण्य-पापों का फल स्वप्नावस्था में भोगा जाता है। इस प्रकार जाग्रत और स्वप्न में कई प्रकार के अन्तर हैं।

जिज्ञासा :- जाग्रत में भी संसार दीखता है और स्वप्न में भी। फिर स्वप्न को झूठा और जाग्रत को सच्चा क्यों मानते हैं?

समाधान :- दीखना दोनों में होता है, परन्तु स्वप्न से जागने पर वहाँ देखे पदार्थ फिर उपलब्ध नहीं होते, अतः उसे झूठा कहते हैं। जाग्रत के पदार्थ स्वप्न की अपेक्षा लम्बे समय तक रहते हैं, अतः उसे सच्चा कहते हैं। कुछ लोग ऐसा भी तर्क कर सकते हैं, जैसे जाग्रत सच्चा है उसी के समान दीखने से स्वप्न भी सच्चा है। पर वेदान्ती लोग श्रुत्यनुसारी तर्क देते हैं, जो भी दीखता है वह मिथ्या होता है जैसे स्वप्न, अतः जाग्रत भी मिथ्या है।

एक बार जनकजी ने स्वप्न में देखा कि किसी राजा से युद्ध में इनकी सेना हार गयी, शत्रु ने महल को घेर लिया। जनकजी ने राजचिह्न उतारकर फटे कपड़े पहन लिए और गुप्तद्वार से बाहर निकल गए। वेश बदलकर घूमते हुए उनको तीन दिन बीत गए और भोजन भी नहीं मिला। राजा होने से माँगना भी नहीं आता था। चौथे दिन एक अन्नक्षेत्र मिला तो वहाँ से भोजन माँगा, पर भोजन समाप्त हो गया था। उनके बहुत माँगने पर कर्मचारी ने एक पत्ते में अवशिष्ट खुरचन दे दी। उसे हाथ में लेकर जनक विचारने लगे कि आखिर यह कौन-सा व्यंजन है? इतने में एक चील वह पत्ता छीनकर उड़ गई। जनकजी दुःख से बेहोश होकर भूमि पर गिर पड़े। कुछ समय पश्चात् जब आँख खुली तो देखा कि वे अपने महल में बैठे हैं। स्वप्न के बारे में सोचकर बड़ा दुःख हुआ। अगले दिन दरबार में सब विद्वान् ब्राह्मणों को बुलाकर पूछा, 'ये सच कि वो सच?' पर स्वप्न के विषय में कुछ नहीं बताया। जो ब्राह्मण ठीक से उत्तर न दे पाए, उन्हें महल में ही नज़रबन्द कर लिया।

अष्टावक्रजी के पिता भी उन ब्राह्मणों में थे। उन्हें छुड़ाने के लिए अष्टावक्रजी महल में पहुँचे। जनकजी ने उनसे भी वही प्रश्न किया। तब उन्होंने जनक को डाँटकर कहा, 'अपना स्वप्न तो बताते नहीं और ब्राह्मणों को बन्दी बनाकर रखे हो। अरे! न ये सच है और न वो सच है। यदि वो (स्वप्न) सच होता तो आज भी अनुभव में आता और यह (जाग्रत) सच होता तो उस दिन भी काम देता जब चार दिन से भूखे मर रहे थे। तुम्हारा राजपाट यदि सच्चा होता तो उस दिन काम देता। इसलिए न ये सच है और न वो सच है।' इस प्रकार परमार्थ दृष्टि से तो जाग्रत-स्वप्न दोनों ही झूठे हैं। व्यवहार-दृष्टि से जाग्रत को सत्य कहा जाता है।

जिज्ञासा :- कहते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् आकाश में स्थित है, पर तत्त्वतः आकाश में कुछ भी नहीं है। एक ही आकाश में जगत् का भाव और अभाव दोनों कैसे रह सकते हैं?

समाधान:- सारा कार्य आकाश में ही है। वही सबको रहने के लिए अवकाश प्रदान करता है। तत्त्वतः तो कारण की दृष्टि से बनेगा। कारण से भिन्न वस्तुतः कार्य की सत्ता नहीं होती। आकाश कारण है, इसलिए सारा कार्य आकाश में है। जैसे, सारे आभूषण स्वर्ण में हैं और वस्तुतः कोई भी आभूषण नहीं है, केवल स्वर्ण ही है। **वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। (छा.उप.-६.१.४)** कार्य-दृष्टि से देखने पर सारा कार्य आकाश में है। पर कारण (आकाश) की दृष्टि से देखें तो कार्य है ही नहीं। फिर उसमें रहेगा कहाँ से! इसलिए आकाश में जगत् का भाव और अभाव दोनों इन दो अलग-अलग दृष्टियों से कहा जा सकता है।

जिज्ञासा :- जब संसार में सर्वत्र असत्य ही है तो सत्य के भ्रम में संसार में सत्य कितना रह जाएगा?

समाधान :- रस्सी में सर्प दीखने लगे तो रस्सी कितनी रह जाएगी? दर्पण में चित्र ही चित्र दीखने लगे तो दर्पण कितना बचेगा? सत्य ऐसा है कि कोई उसे बिगाड़ ही नहीं सकता क्योंकि जो तीनों काल में एकरस रहता है उसी का नाम सत्य है। सत्य ढक सकता है पर नष्ट नहीं हो सकता। सत्य का ज्ञान होने पर जितनी भी मिथ्या कल्पनाएँ हैं वे सब भस्म हो जाएँगी। इसीलिए कहते हैं, सत्संग के संस्कार प्रबल होते हैं, उन्हें आवृत्त कर सकते हैं पर नष्ट नहीं कर सकते। सत्य का ज्ञान होने पर असत्य जगत् के जो संस्कार हैं वे रह नहीं सकते क्योंकि उनका स्वतः कोई अस्तित्व नहीं है। इसलिए भले ही संसार में आपको सर्वत्र असत्य दीखे, पर सत्य कभी नष्ट नहीं होगा।

जिज्ञासा :- कुछ लोग तर्क करते हैं कि राम का अर्थ है - आत्मा और रावण का मतलब - अहंकार, व्यक्ति को समझाने के लिए ये प्रतीकरूप से शास्त्र में कहे गए हैं। वास्तव में राम नामक कोई अवतार हुआ ही नहीं। यह तर्क कितना उचित है?

समाधान :- यह तर्क बिल्कुल गलत है। रामायण इतिहास है, उसमें जो घटना जैसे घटी है उसका वैसा ही वर्णन किया गया है। हमें अपने इतिहास को ज्यों-का-त्यों स्वीकार करना चाहिए, उसे झुठलाने का प्रयास कभी नहीं करना चाहिए। जैसा वहाँ लिखा है, वैसा ही हुआ है, हमेशा यही समझ रखनी चाहिए। उन पात्रों के आध्यात्मिक अर्थ मानकर भी शिक्षा ग्रहण कर लो, वह अलग बात है। यदि इतिहास को झुठलाने का प्रयास करेंगे तो हमारे सामने कोई आदर्श ही नहीं रहेगा। फिर किस आदर्श को लेकर हम अपने जीवन को आगे बढ़ाएँगे!

जिज्ञासा :- स्वाभिमान और अभिमान में क्या अन्तर है?

समाधान :- अभिमान से व्यक्ति नीचे गिरता है और स्वाभिमान से दृढ़ होकर ऊपर उठता है, यही दोनों में अन्तर है। आपको अपने धर्म का स्वाभिमान है, उसकी रक्षा के लिए आप अपना शीश भी दे सकते हैं। लेकिन धन, शरीर के बल, कुल इत्यादि वस्तुओं को लेकर आपमें जो बड़प्पन की वृत्ति आती है, यह अभिमान है। इन सबको लेकर आपमें दूसरों को दबाने की वृत्ति आती है। मैं धनी हूँ, यह गरीब है, मेरे साथ कैसे बैठ सकता है? मैं विद्वान् हूँ, यह अनपढ़ है तो मेरे सामने कैसे बोल सकता है, यह सब अभिमान है।

स्वाभिमान एक अलग वस्तु है। मुगलकाल में मुस्लिम लोग हिन्दुओं से कहते थे, 'तुम अपनी चोटी कटाओ, धर्म छोड़ो अन्यथा तुम्हारा गला काट लेंगे।' तब हिन्दू कहते थे कि तुम हमारी चोटी पर हाथ नहीं लगा सकते, गला भले ही काट सकते हो। यही धर्म का स्वाभिमान होता है। अपने चरित्र का, अपने देश के गौरव का भी स्वाभिमान होता है। इसमें दूसरे को दबाने की वृत्ति नहीं रहती। दोनों में यही अन्तर दीखता है।

जिज्ञासा :- प्रेम और भोग में क्या अन्तर है?

समाधान :- प्रेम तो बहुत बड़ा त्याग है और भोग बहुत बड़ा स्वार्थ। स्वार्थ और त्याग में जो अन्तर है, वही इन दोनों में समझ लेना चाहिए। गंगाजल और 'गटर' के पानी में जो अन्तर है, वही अन्तर प्रेम और भोग में है।

जिज्ञासा : एक महात्मा वेदान्तादि शास्त्र पढ़े हैं और साथ ही बड़े आश्रम के मठाधिपति भी हैं, एक गृहस्थ सेठ भी शास्त्रों के अच्छे विद्वान् हैं, इन दोनों में क्या अन्तर है?

समाधान : कुछ अन्तर ऐसे होते हैं जो बाहर से दृष्टिगोचर नहीं होते पर रहते हैं। पूज्य गीता स्वामीजी कुछ महात्माओं के साथ कलकत्ते में एक सेठ की धर्मशाला में ठहरे हुए थे। वह सेठ भी संस्कृत का पण्डित था, उपनिषदों का भी ज्ञाता था। एक दिन उस सेठ ने एक महात्मा से कहा, 'गीता स्वामीजी के पास भी बहुत पैसा है, मेरे पास भी है। हम दोनों ही उपनिषदों के ज्ञाता हैं। आप उनको अपना गुरु मानते हो और मुझे सम्मान नहीं देते। मुझमें और उनमें क्या अन्तर है, बताओ तो?' महात्मा बोले, 'एक पतिव्रता स्त्री और एक वेश्या में जो अन्तर होता है, वही अन्तर है।' सेठजी चुप हो गये।

इसी प्रकार एक अन्य दृष्टान्त भी है जिससे इस अन्तर को समझा जा सकता है। काशी के एक महात्मा बम्बई में चतुर्मास कर रहे थे। लौटते समय भक्तों ने उनका रेल की प्रथम श्रेणी का रिजर्वेशन करवा दिया और साथ में बहुत-सा सामान रख दिया। उसी कम्पार्टमेंट में एक सेठ था, वह भी विद्वान् था। दोनों में चर्चा चलने लगी। सेठ ने कहा, 'स्वामीजी, बुरा न मानना। आप संन्यासी होकर भी इतना ज्यादा सामान लेकर जा रहे हैं। मेरे पास तो एक अटैची ही है। आपको इतना संग्रह क्या शोभा देता है? उपनिषद् आदि तो हम भी पढ़े हुए हैं, फिर आपके ज्ञान की क्या विशेषता है?' महात्मा चुप रहे, कुछ बोले नहीं।

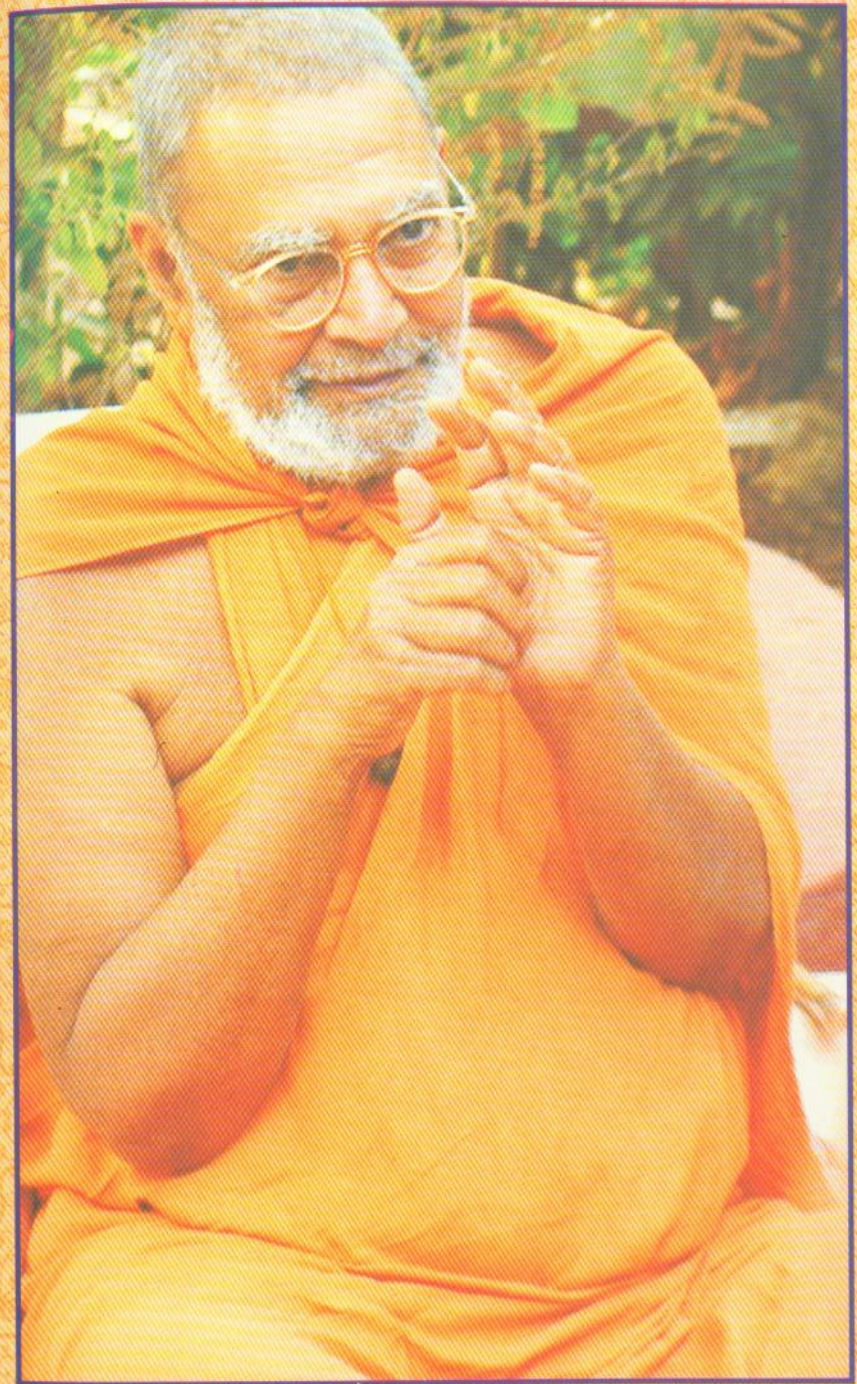
कुछ ऐसा योग बना कि ट्रेन में कोई खराबी आ गई और वह जंगल में रुक गई। सब लोग उतर गए। वे दोनों भी एक पेड़ के नीचे बैठकर चर्चा करने लगे। आधे घण्टे बाद इंजिन ने सीटी दी, सब लोग ट्रेन पर चढ़ने लगे। सेठ भी उठने लगा पर साधु ने उसको धर दबोचा और कहा, 'अरे! ट्रेन जाती है तो जाने दो। हम दोनों पैदल ही चलेंगे।' सेठ चिल्लाया, पर साधु कब छोड़नेवाले थे। साधु ने कहा, 'सेठ! तुम्हारी तो केवल एक ही अटैची है और मेरा तो गाड़ी में बहुत सामान रखा है। फिर तुम क्यों इतना चिल्लाते हो? गाड़ी से हमारा क्या लेना-देना है!' सेठ चिल्लाता रहा और साधु उसको पकड़े ही रहे, गाड़ी चल दी। पीछे से गार्ड ने देखा, तो उसे मामला कुछ गड़बड़ मालूम हुआ, इसलिए उसने

ट्रेन रुकवा दी। दोनों आकर अपनी-अपनी सीट पर बैठ गए, तब महात्मा ने कहा, 'सेठ! हम दोनों में इतना ही अन्तर है।'

जिज्ञासा :- वर्तमान काल में हिन्दुओं की दयनीय स्थिति का कारण क्या है?

समाधान :- पहले यज्ञोपवीत और शिखा यह हिन्दुओं का स्वाभिमान था, जैसे झण्डा देश का स्वाभिमान होता है। शिखा-सूत्र, शास्त्र - ये हिन्दू लोगों के जीवन के आधार थे। मुगलकाल में जब शिखा-सूत्र को नष्ट करने का प्रयास किया गया तो हिन्दुओं का स्वाभिमान जग गया, वे कहते थे तुम हमारा गला काट सकते हो पर इन्हें नहीं छू सकते। इसलिए इतने लम्बे काल तक मुस्लिम शासन रहने पर भी हिन्दुओं के आचार-विचार, शिखा-यज्ञोपवीत और शास्त्राध्ययन की परम्परा काफी हद तक सुरक्षित रहे।

जब अंग्रेजों का शासन आया तो उन्होंने देखा कि इन लोगों का तो स्वाभिमान शिखा आदि में ही टिका हुआ है। इन्हें अपने अधीन करने के लिए बल का नहीं, युक्ति का प्रयोग करना पड़ेगा। अंग्रेज बड़े चतुर थे। उन्होंने ऐसी शिक्षा-पद्धति लागू कर दी जिसके कारण बिना कुछ बोले ही हिन्दुओं के शिखा-यज्ञोपवीत अपने आप नदारद हो गए। आज इन्हें रखने में हिन्दू शर्म महसूस करते हैं। हिन्दुओं का अपनी वैदिक परम्परा का स्वाभिमान ही चला गया, इसलिए इनका सारा जीवन ही बिखर गया। खाने, पहनने, पढ़ने इत्यादि में जो आचार-विचार था, वह लुप्त हो गया। हम हिन्दू हैं, यह कहने में भी इन्हें शर्म महसूस होती है। जिसके जीवन में कोई स्वाभिमान ही नहीं रहा, उसका जीवन तो दयनीय होगा ही। यही एक बड़ी अव्यवस्था हुई है जिससे हिन्दू समाज बिखरता चला जा रहा है।



देखो, परमात्मा सत्य वस्तु है और सत्य को प्राप्त करने के लिए जीवन में सत्य का आधार अवश्य लेना पड़ेगा । आपने अभी तक अपने जीवन में जो मैं और मेरा समझा है, वह झूठा है । बस, उसी को त्यागना पड़ेगा और जो परमात्मा हमारे श्वासों को चलाने वाला है उसी के लिए समर्पण करना पड़ेगा । सब तरफ से हम कमजोर हैं, पर अहंकार को छोड़ने के लिए भी तैयार नहीं हैं । हम तो इतना ही कहेंगे कि इस समय ईश्वर-शरणागति को छोड़कर कल्याण का दूसरा कोई उपाय हमें दिखाई नहीं देता है ।

इसी पुस्तक से (पृष्ठ - 201)



श्री मार्कण्डेय संन्यास आश्रम पब्लिक ट्रस्ट

ओंकारेश्वर, मांघाता, जिला- खंडवा, 450 554 (म.प्र.)

फोन नं. 07280-271267

विषयानुक्रमिका

| क्र. | विषय | पृष्ठ |
|------|------------------------------|-------|
| १. | कर्म और गति | १२ |
| २. | भक्ति-उपासना | ३७ |
| ३. | ज्ञान-चर्चा | ६२ |
| ४. | वेदान्त | ८९ |
| ५. | मन्त्र-विचार | ११२ |
| ६. | साधकचर्या | १३१ |
| ७. | साधना | १५९ |
| ८. | गुरुतत्त्व | १७४ |
| ९. | ईश्वरतत्त्व | १८३ |
| १०. | सन्त तथा सत्सङ्ग | १९४ |
| ११. | शरणागति | २०० |
| १२. | योग एवं ध्यान | २०६ |
| १३. | दोष-विचार एवं निवारण | २२१ |
| १४. | धर्म-जिज्ञासा | २४२ |
| १५. | देवपूजन-कर्मकाण्ड | २५९ |
| १६. | प्रारब्ध, पुण्य-पाप, संस्कार | २६५ |
| १७. | तीर्थ-महिमा | २७५ |
| १८. | व्रत एवं पर्व | २८० |
| १९. | शास्त्र-समीक्षा | २८६ |
| २०. | तपस्या | ३०६ |
| २१. | संन्यास | ३१० |
| २२. | सुख-दुःख | ३१७ |
| २३. | ज्ञानी की स्थिति | ३२१ |
| २४. | विविध | ३३५ |

प्रस्तावना

जीव अनादिकाल से एक ऐसी शान्ति की खोज में भटक रहा है जो कभी उससे न बिछुड़े, उसके साथ निरन्तर बनी रहे। खाना-पीना, सोना-जागना आदि सभी गतिविधियों में वह सुख-शान्ति एवं आनन्द चाहता है। यदि उसे यह विश्वास हो जाए कि जो कुछ भी मैं सम्पादन करने जा रहा हूँ वह निश्चित ही दुःखों का खजाना है, आपत्तियों का समुद्र तथा अशान्ति का घर है, तो वह मन, वचन तथा शरीर से सम्पादित होनेवाली किसी भी क्रिया में समझदारीपूर्वक शायद ही प्रवृत्त होगा। पर समझदारीपूर्वक प्रवृत्त होता है, अतः कहा जा सकता है कि उसकी प्रवृत्ति के मूल में कहीं-न-कहीं सुषुप्तरूप में स्थित आनन्द की खोज ही होनी चाहिए जो निरन्तर अधूरी रही है। जब तक प्राणी शास्त्रीय दृष्टि का अनुशीलन करते हुए अपने आपको शाश्वत सत्य की खोज में अन्तर्मुखी नहीं बना लेता, तब तक वह इन सब प्रवृत्तियों के मूल तत्त्व तक शायद ही पहुँच सके। भगवान् कृष्ण ने गीता में सर्व प्रवृत्तियों का मूल ईश्वर को ही बताया है - यतः प्रवृत्तिर्भूतानां..., मत्तः सर्वं प्रवर्तते ...। अतः यह सिद्ध हुआ कि जीव भले ही ठीक-ठीक ढंग से न समझ रहा हो, पर वह अन्य नाम या वस्तुओं के रूप में प्रवृत्ति के मूल अनादि, अनन्त, सच्चिदानन्द शब्दवाच्य परमेश्वर को ही ढूँढ रहा है।

शाश्वत आनन्द की गवेषणा में प्रवृत्त मुमुक्षुओं के अन्तर्मन से विभिन्न स्थानों एवं अवसरों पर निकले हुए प्रश्नों के उत्तर के क्रम में यह प्रश्नोत्तरदीपमाला परमपूज्य गुरुदेव के श्रीमुख से निःसृत हुई है। रुचीनां वैचित्र्यात् ... इस पुष्पदन्ताचार्यजी की उक्ति के अनुसार अनेक लोगों द्वारा विभिन्न विषयों पर की गई भिन्न-भिन्न प्रकार की जिज्ञासाएँ ग्रन्थाकृति के लिए अत्यन्त अव्यवस्थित रूप से कैसेटों में सुरक्षित थीं। पाण्डुलिपि तैयार करना उतना कठिन नहीं था जितना कि इस प्रश्नोत्तरदीपमाला को पुनरुक्ति दोष से बचाना। स्थान, जिज्ञासा, जिज्ञासाएँ जब भिन्न-भिन्न हों तो प्रश्नोत्तर में पुनरुक्ति अवश्यम्भावी है। बहुधा शब्दतः प्रश्नों एवं उत्तरों के स्वरूप में भेद होने पर भी